ॐ तत्सत्

श्रीहरिःशरणम्

भूमिकाभासः

(भूमिकाधिकारापरपर्यायः)

अर्थात्

श्रीस्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतस्य

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाग्रन्थस्य

खण्डनरूपः ।

——:o:——

आगरानगरीयसेन्टजौन्स कालिजसंज्ञक विद्यालयस्य

संस्कृताध्यापकेन (संस्कृत प्रोफ़ेसर)

श्री पं० घनश्याम शर्मणा

सम्पादितः ।

श्री पं० मगनीराम शर्मणा स्वकीय-

मेरठस्थ धर्मयन्त्रालये मुद्रितः

प्रथमावृत्तिः ११००] [मूल्यम्

अशुद्धिशोधनपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	चित्रा	चितृत्रा
,,	१३	नीराज्ञ	नीराज
२	५	मुक	युक
३	५	सुम्बी	सुबडी
,,	१५	दशव्य	द्रष्टव्य
४	११	भूय	भूंय
५	३	कविता कामिनीं	कविताकामिनीं
,,	,,	विद	विदः
८	१०	नपा	नया
११	६	साध	साधु
१९	३	मूर्धन्य	पूर्वं
,,	१७	भवद् से	भवद् ने
२१	३	स्पुष्टा	स्पुष्ट
१२	७	विधयव	विधयैव
,,	७	मयद्	मयटं
२३	७	क्वचित्	क्वचित्
२६	३	हैवा को	हैवाको
,,	७	भवत्	भवेत्
२८	१३	दश	दृश्
३०	८	मदुत्तरं	तदुत्तरं
३१	५	सम्प	सप्र
,,	७	प्रवरा	प्रवरो
,,	८	विषय	विशय
,,	१२	यद्	पद
,,	२७	ालाव	वाला
३२	२३	परन्तु	परन्तु जो
३४	१	स	तेन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६	११	चिरुया प	चिरुयाप
३८	२	साधनं	साधनाय
,,	१५	जन्मों	जन्मों में
४०	२	सूर्य	सूरि
४३	६	ब्रह्म	गृह्य
,,	२१	ब्रह्मत्व	गृह्यता
,,	२२	वेदा	तदा
४४	४	पतीपो	प्रतीपो
,,	१०	तद्दिहितं	तदीहितं
४५	६	यैग्रेषु	यैर्येषु
४६	१९	शब्दों कि	शब्दों की
,,	२०	से	से,
,,	२२	से	से,
४८	५	श्रू	श्रु
४९	२८	सकाशात	सकाशात्
५४	११	ननु	नतु
५७	११	तदर्षि	तद्दर्षि
५८	२	व्यहार	व्याहार
५९	६	महर्षिर्वे	महर्षिवे
,,	९	यथच्छं	यथेच्छं
६०	९	पर्व	पूर्व
६३	१४	भार्मो	आप्तों
६४	६	यिषुमु	यिषुरु
,,	,,	पृच्छते	पृच्छ्यते
,,	२८	मेंस्वार्थ अर्थ	स्वार्थ में अथवा
६६	६	बिविधा	त्रिधा
६७	३	गिराकृत	निराकृत
६८	६	नू	बहून्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	,,	कोऽन्या	कोऽन्यो
,,	२८	आसूय	सूर्य
७७	६	सदस	सदसद्
,,	१६	वाऽर्थायाणी	वाऽर्थापत्ति
७६	२९	एकशो	एकदेशो
७७	४	मीन्वयः	सन्वयः
,,	२२	श्रीवण	श्रावण
७९	२०	नकिया हुए	न करता हुआ
,,	,,	प्रसिद्ध	प्रसिद्धि
८०	१७	हेतु	०
,,	,,	सिद्धि	स्वरूपासिद्धि
८२	४	एव	एव,
८५	१५	प्रमाण	जैसे प्रमाण
,,	१६	जैसे	०
९३	१	सिद्धयम्	सिद्ध्यर्थम्
,,	१३	,,	,,
९५	१०	तदन्वयत्वात्	तदन्वयत्वम्
,,	,,	संबन्धित्वाद्वा	संबन्धित्वाद्वासंबन्धिता विषयतयैव स्यात्
९५	११	नहि तदेवविज्ञानं सम्बन्धिता विषयतैव स्यात्तस्यैव हेतुर्भवितुं शक्यः	नहितदेव विज्ञानं स्वस्यैव हेतुर्भवितुं शक्यः
९७	८	इति ॥	इति
१००	८	स्वरूपा	स्वरूप
१०१	१२	फत्वा	फवत्वा
,,	,,	तहानमध्द्	तद्ज्ञानमेव
१०२	१	तत्पद	यत्पद

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	४	वन्हिका	वन्हिविषयका
१०४	१४	कुररी पक्षी	कुररी (मृगी)
१०५	१३	अर्थात्ब्रह्मकी प्राप्ति है: यह इसमें अर्थभेद नहीं- है। इस में यह आशंका	औरतपशुद्धिद्वारा ब्रह्मप्राप्ति के साधन हैं, यह
,,	२७	परप्राप्ति	परप्राप्ति और अवगम का
१०७	१	सरूपत्तिवत	सरूपत्तिवत
१०८	६	करहे	कारहे
,,	१४	अकर्म के	अकर्म
१०९	१	कारठक	काठक
,,	१२	ताहृशं	ताहृशः
१११	७	उपलब्ध	उपलब्धे
,,	११	परिच्छिन्न	परिच्छिन्न
११४	५	याव	यावद्
११५	१०	गति	माप
११६	१०	छिन्न	छिन्न
११८	२	स्वामिभि	स्वामिभिः
१२१	१३	में मतहो काय	में कार्य मत हो
,,	१५	सिकरने	सिद्धकरने
,,	२८	संधित	संबन्धित
१२२	८	यह	याह
,,	९	पूर्णा	पूर्णो
,,	१०	न्याय	न्यायः
,,	११	वाम	वायं
१२८	१	द्रव्य	द्रव्यं
१३०	९	उक्तार्थोऽपो	उक्तार्थापो
१३२	१०	देवागतां	देवतागतां
,,	२२	ज्ञाम	ज्ञान

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३४	११	द्रिध्रियते । तथाहि:	दूध्रियते । तथाहि
,,	१२	स्तुवो	स्तुवो
१३५	१३	वम	वर्म
,,	२८	यद	यह
१३७	६	निष्का	निष्काम
,,	११	अनेव	अनेवं
,,	१२	" धर्मो " के आगे बीच में रेखा नहीं चाहिये किन्तु १३वीं पंक्ति के बाद चाहिये	
१३८	१३	इस संस्कृत पंक्ति के बाद रेखा चाहिये	
१३९	५	गोपरा	गोचरा
१४४	२९	आपकी	आपका
,,	,,	विभूष	विश्वम
१४६	१	प्रव्युत	प्रत्युत
,,	७	स्पवते	सेवते
,,	११	दूह	दूर
१४८	१७	बसकि	बसफिर
१५१	७	सोऽव्ययो	सोऽव्ययो
१५२	५	देवतात्व	देवतात्वं
१५५	१५	सक्तु	सक्तो
१५६	२८	मल	मूल
१५७	३	स्वामिभि	स्वामिभिः
,,	८	लभमाने	लभमानो
१५८	१७	चरते	चारते
१६०	२	देवाना	देवानां
,,	८	वास्य	वा स्या
,,	२२	नौ	नौ
१६२	१०	पतेन	प्रेतेन
१६५	९	धिके	धिको

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१४	निरुक्त	भिरुक्त
१६६	२	वद	वेद
१६८	२३	वदैं	वेदैं
१६९	१६	वञ्चकर चि	वञ्चकर
,,	१९	उपयुक्त	उपर्युक्त
१७०	४	द्युप	द्यु प
१७२	१३	प्रतिकानि	प्रतीकानि
,,	१८	अन्यपदम	अन्यद
,,	२०	स्थल	स्थूल
,,	२१	सूत्र	सूक्ष्म
,,	२२	भाष्ये	भाष्य
१७३	३	भावते	भावती
१७५	५	समानर्थ	समानोर्थ
,,	१३	ब्राह्मणा	ब्राह्मणानां
१७६	४	णानां	स्नानां
,,	१७	विचार: ॥	विचारः ॥ (इस प्रकरणका बहुतसा भाग "ध्यामोह विद्रावण" नामक ग्रन्थ से उद्धृत किया है)।
१८२	१४	रति	रपि
१८३	५	स्वयं	स्स्वयं
१८३	१३	त्पन्न	त्पन्ना
१९०	१४	भमिका	भूमिका
१९१	७	प्रति	प्रतिहत
१९२	१	पन्तसुखभाज	स्यन्तसुखभाजः
२०३	९	प्रस्खलति	प्रस्खलतिः
२०९	४	पुरुष	पुरुषे
२१६	७	मुधा	मुग्धा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१५	मानस्य	यमानस्य
२१७	४	बुद्धि	बुद्धी
,,	११	यक्ष	यक्ष्
२२५	४	मन	मनः
,,	८	युञ्जति	युञ्जीत
,,	२२	उपसना	उपासना
२२८	२	मन्तं	यन्तं
,,	२४	जनकत्तास्वरूप योग्यता	जनकता स्वरूपयोग्यता
२२९	१४	प्रदि	प्रति
२३०	५	सवम	सर्वमे
,,	९	रात्माः	रात्मा
२३१	७	शरीर	शरीरं
२३२	३	देशन्तु	देशमन्तु
,,	१९	जीव	जीव की
,,	२२	है क्योंकि	क्योंकि
२३३	९	विरीतं	विपरीतं
,,	११	संसारा	संसारो
,,	१२	नुसरि	नुसारी
,,	१४	मक्ति	मुक्ति
२३५	१०	चाऽऽछे	चायैं
२३९	८	तृ	तृ
२४२	१०	समीप	समीपे
२४३	१८	वैसे	कैसे
२४५	७	वर्गाः	वर्गः
२४६	६	मका	मेका
२४८	९	पद्	यद्
,,	१४	१५वीं पंक्ति के अनन्तर रेखा चाहिये	
,,	२२	संभावना	की असंभावना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	९	तद्थ	तदर्थं
२५२	२१	दहित	दुहितृ
,,	२८	अलङ्कार	अलङ्कार
२५३	१८	राश्मन	रश्मि
२५४	५	मना	त्मना
,,	२३	जर-पिता	जरयिता
२६२	८	मैव	मेव
,,	९	पश्चै	पश्चे
,,	१०	ब्देनबधः	शब्देन बाधः
२६३	४	स्य व	स्य
,,	८	वर्णा	वर्णं
२६३	९	सूचयति	सूचयतीति
,,	१३	कर्थ	सर्वं
,,	२०	वद्	वेद्
,,	२१	त्यपाक	व्यापक
,,	२४	कतक	कर्तृक
२६४	१	अरवास्य	अरवाय
,,	१४	पाठ्यते आध्वर्यवै	पठ्यते आध्वर्यवे
,,	,,	अध्याय	आध्यायं
२६५	१८	पुन्त्रा	पुत्रा
,,	२४	शूद्रताअशूद्रता	शूद्रअशूद्रता
२६६	७	युपच्छ	स्युपच्छ
२६७	३	यच्येन	व्यन्येन
,,	७	मेती	मेति
,,	८	चाय	चावक
,,	१८	अथ	अर्थ
२७०	१२	सुद्ध	सुद्धर
२७२	४	शुदि	सुदि

भूमिकादिस्थ अशुद्धियों का परिमार्जन स्वयं कृपया कर लीजिये ।

निवेदनम् ।

"धर्मेणलभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत,, (वाल्मीकिः)

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की अपार कृपा से जिस पुस्तक के प्रकाश करने की मेरी बहुत दिनों से उत्कण्ठा थी-वह पूरी होगई, इस लिये मुझे इस समय बड़ा सन्तोष है।

ग्रन्थ का बनाना बहुत कठिन कार्य है-लिखने के समय बहुत सावधानता से काम लेना चाहिये। विशेष कर आज कलके समय में जबकि वैदिक साहित्य लुप्तप्राय होगया है, वैदिक ग्रन्थों का मर्म जानकर वेद विषय में किसी पुस्तक का लिखना नितान्त ही कठिन है!

वेद परम प्राचीन पुस्तकें हैं जिन में पुराने आर्यों का कर्तव्य और विज्ञान अपने अनूठे ढंग में वर्णित है। आहा! ऋग्वेद को पढने से हमारे पूर्वजों की विशाल बुद्धिमत्ताका पता लगता है। आर्यजातिकी उन्नतिकरने के लिये वेदों का पठन पाठन परमावश्यक प्रतीत होता है।

यद्यपि चार्वाकादि बहुत से ऐसे मत हैं जो वेदों को नहीं मानते, परन्तु मनुष्य जीवन का उत्कर्ष, वेदानुकूल आचरण बनाने से ही हो सकता है यह हमारा दृढ विश्वास है।

वेदों के पूर्व काल में सायणाचार्य, महीधर, उव्वट आदि अनेक भाष्यकार हुए हैं और उन्होंने ब्राह्मणादि के अनुसार अपने २ भाष्यों की रचना की है, हमारे देखने में जितने भाष्य आए हैं उन सब मे श्री सायणाचार्य का भाष्य विशेष महत्व युक्त और परमादरणीय है। यह कहना विशेष बुद्धिमत्ता का काम है कि सायणीय भाष्य सर्वथा निर्दोष है, मनुष्य की कृति में किसी अंश में दोष का हो जाना आश्चर्यजनक नहीं, पर भाष्यान्तरों की अपेक्षासायण का पाण्डित्य सर्वोत्कृष्ट है ऐसा मानने में किसी भी वेदज्ञको संदेह नहीं होगा।

हिन्दुजाति का वेदों के ऊपर बड़ा विश्वास है और वेद ही वस्तुतः हिन्दुत्व के रक्षक हैं। वेदों से पराङ्मुख होने के कारण ही हिन्दुजाति का ह्रासहुआ है-और वेदाभिमुख होने से ही इस की उन्नति निश्चित है।

वेदों के नाम पर यदि हिन्दुजाति को कोई उलटा रास्ता भी दिखावे तो भी यह उसे सीधा समझ कर चलने लगजाती है। इस का उदाहरण सुप्रसिद्ध श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती और उन से प्रतिष्ठापित आर्य समाज हैं।

लग भग ३६ छत्तीस वर्ष पूर्व इस देश में स्वामी दयानन्द जी विद्यमान थे वे शरीर से हृष्ट पुष्ट और ब्रह्मचारी थे उन में यथासंभव पुरुषार्थ का बलथा उन में देशोद्धारवासना भी थी, वे निःसन्देह नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, वावदूक और प्रतिभासंपन्न थे वे विलासितोप्रिय न थे वे ईश्वरभक्त थे-वे बहुत अंशों में संन्यासधर्मों से युक्त थे यह सब कुछ था परन्तु दुःख है कि वे वेदों के पूरे पण्डित नहीं थे-उन्हें नये नबी बनने की ख्वाहिश बुरी तरह सता रही थी—इसी कारण से वे वेदों के नाम लेकर स्वच्छाचारिता से लिख मारते थे। इन्हें लिखने में कुछ पूर्वापर का ध्यान नहीं रहता था- कि बहुना बेध्यान देकर लिखतेहोन थे। सत्य बात लिखने के लिये आर्य समाजिक सज्जन हमें क्षमा करें वे वेद शास्त्र के तत्व को समझते भी न थे।

हमारी इस बात की सत्यता के लिये स्थाने २ उन के किये अध्याय स-अर्थ ही पर्याप्त हैं।

वेदों के नित्यत्व विचार प्रकरण में ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में वात्स्यायन भाष्य ("मन्त्रायुर्वेद०" । २। १ ।६७ इस गौतम सूत्र को उद्धृत किया है- उसका पाठ भी अशुद्ध और अर्थ भी गड़ बड़ इत्यादि भूमिकाभास में देखिये।

"वेदविषयविचारः" प्रकरण में स्वामी जी ने "द्रव्य संस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" पूर्वमीमांसा अ० ४ पा० ३ सू० १ इत्यादि लिखकर जो कुछ बाल क्रीडन किया है- उसे देखने के लिये श्रीपंडित उमापति द्विवेदी जी (प्रसिद्ध नाम नकछेदराम दुवे) के सनातनधर्मोद्धार का यह निम्न लिखित भाग द्रष्टव्य है:-

यदपि भूमिकायाम्-वेदविषयविचारविषय इत्युपक्रमे-

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः स सर्वः क्रियामयोऽस्ति नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः। कुतः। बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्। स चानेकविधोऽस्ति। परन्तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः। एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थाद्यईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाऽऽज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तते अपरो लोकव्यवहारसिद्धये योधर्मेणार्थकामौ

निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते । स यदा परमेश्वरप्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदा श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते । अस्य स्वल्पानन्तसुखेन योगात् । यदा चार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकाम एव भवति अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात् स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधा-दिपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शो-धितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते । स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्यैव भवति । यत्र भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयन्त्रसामा-जिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति । अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम् । द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ अ० ४ पा० ३ सू० १ ॥ द्रव्याणान्तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात् ॥ अ० ४ पा० ३ सू० ८ ॥ अनयोरर्थः । द्रव्यं संस्कारः कर्म चेतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम् । द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसङ्ख्याकानि सुगन्ध्यादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसम्पादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः । यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमं जाते सति त-त्सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेत्तदा यः पूर्वं धूमवद्वाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन्सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति । तथैव यज्ञाद्यो बाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति । अतश्चोक्तम् । यज्ञोऽपि तस्य जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति ॥ ऐ० ब्रा० पं० १ अ० २ ॥ जना-नां समूहो जनता तत्सुखायैव यज्ञो भवति यस्मिन्यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति । कुतः तस्य परार्थत्वात् । यज्ञः परोप-कारायैव भवति । अतएव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतु-धर्मो बोध्यः । एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति । इत्ययुक्तम् ।

तदेतत् शास्त्रानध्ययनफलम् ।

(१) द्रव्यं संस्कारः कर्म च यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यमित्यर्थे "यज्ञसंस्कारकर्मसु" इति सौत्रपदस्यार्थलोपप्रसङ्गात् । अनुवादिका विभक्तिर्यैषा न प्रथमेव विधेयतां प्रयोक्तुमलम् । एवं च कर्त्तव्यपदाध्याहारोऽपि तद्विरुद्ध एव ।

(२) एवं परार्थत्वादित्यस्यार्थोऽपि तदुक्तो न युक्तः नहि यत्स्वार्थमु-

दिश्य क्रियते तदनुषङ्गात्परोपकारमात्रेण परार्थमुच्यते न हि गृहद्वारद्योतनार्थं स्थापितो दीपो रथ्याद्योतनमात्रात्परार्थं उच्यते । एवं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात् होमोऽपि चात्मार्थं क्रियते । होमानां यज्ञाङ्गतया, यज्ञानां च स्वर्गकामादिश्रुतिभिर्यजमानार्थतयैव विधानात् ऐतरेयवाक्यं स्वानुषङ्गिकज्ञानफलानुवादमात्रम् ।

(३) अपि च । एवं विदित्युक्त्या होतृसमवेतस्य ज्ञानस्य अन्तोपकारः फलमिति लभ्यते तच्च होत्रा यज्ञानुष्ठानावृत्तिद्वारेण सर्वेषामेव यजमानानामुपकार इत्यभिप्रायेणोपपद्यत एवेति नेदं वाक्यं भूमिकोक्तार्थलाभे मानम् ।

(४) किञ्च । भोजनादावपि कथञ्चित्परार्थत्वस्य सत्त्वादेवमर्थोपने परार्थपदोपादानस्यैव व्यवच्छेद्यविरहेण नैरर्थक्यं स्यात् ।

(५) अन्यच्च । उक्तसूत्रस्य तदर्थाङ्गीकारे "उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वा"दिति तदुत्तरसूत्रानुत्थानप्रसङ्गो दुर्वार एव, संगतिविरहात् ।

(६) किञ्च । चतुर्थं लक्षणं हि प्रयोगलक्षणम् तत्रात्ययं फलचिन्ताचरणो यस्येदमादिमं सूत्रम् । अत्र चरणे चोनचत्वारिंशत्सूत्राणि, अष्टादशचाधिकरणानि । तत्र चैकस्यास्य सूत्रस्यैवं स्वेच्छयोच्छृङ्खलार्थकरणे स्पष्टमेव प्रसजन्त्या अपरेषां सूत्राणामसङ्गतेरपाकरणाय तेषां सूत्राणामर्थाः सङ्गतयः प्रयोजनानि चान्यानि भूमिकाविधायिनोऽवश्यवाच्यान्यापद्यन्ते । अन्यथा तेषामानर्थक्यमसङ्गतत्वमप्रयोजनकत्वं च स्यात् । तानि च भूमिकाभूता नोक्तानीति प्रतितत्सूत्रमुक्तदोषत्रयावृत्तिः । तथाच यथा परेषां सूत्राणां शाबराद्युक्ता एवार्थास्तथैकस्यास्य सूत्रस्यापीति भूमिकोक्तोयमर्थो गगनकुसुमायते ।

(७) अपि च । एवमर्थकरणे सर्वेषामेव वैदिककर्मणां गुणकर्मताऽऽपत्तौ गुणप्रधानकर्मविभागानुपपत्त्या तद्विभागबोधकसूत्रैः सह विरोधो दुरपरोधएव स्यात् । भूमिकोक्तरीत्या यज्ञमात्रस्य गुणकर्मतया प्रधानकर्मसम्भवस्यैवाभावात् तथाच-

मीमांसादर्शने अ० २ पा० १ ॥ सूत्राणि-

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥ ६ ॥

वृ० व्रीहीनवहन्तीत्यादौ सर्वत्र आख्यातान्तादेवापूर्वभावाख्याताधिकरणन्यायादिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । तानीति । तानि आख्यातानि द्वैधं द्विप्रकाराणि क्वचिद्द्रव्यं प्रति गुणभूतानि क्वचिद्द्रव्यं प्रति प्रधानानि च । ६

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥७॥

वृ० द्वैविध्यं व्युत्पादयति । यैरिति । यैः आख्यातान्तैः द्रव्यं संस्कारार्थत्वेन न चिकीर्ष्यते तानि आख्यातान्तवाच्यानि कर्माणि यागदानादीनि द्रव्यं प्रति प्रधानानि । यथा स्वर्गकामो यजेत, हिरण्यं ददातीति । तत्र द्रव्यस्य गुणभूतत्वाल्लोकतः गुणत्वेन क्लृप्तत्वात् ॥७॥

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयते तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ॥८॥

वृ० यैः कर्मभिः द्रव्यं संस्कार्यत्वेन चिकीर्ष्यते तत्र धात्वर्थः गुणः प्रतीयते तस्य धात्वर्थस्य द्रव्यप्रधानत्वात् द्रव्यं प्रधानं यस्य तत्त्वात् । यथा व्रीहीनवहन्ति तण्डुलान्पिनष्टीत्यादौ वितुषीभावरूपदृष्टफलसम्भवान्नादृष्टकल्पनेति भावः ॥८॥ ।

वृ० (८) एवं प्रत्यक्षसिद्धानां सलिलशुद्ध्यादीनामेव यज्ञफलत्वं नतु स्वर्गादीनामित्यभ्युपगच्छन् भूमिकाधारी प्रच्छन्नचार्वाक एव । कार्यकारणभावादौ कस्मिंश्चिदंशे शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणगम्ये एव प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषिते वेदप्रामाण्यस्य वैदिकदर्शनाचार्यैर्बादरायणप्रभृतिभिर्महर्षिभिर्निर्णीतत्वात् । तथा च मीमांसादर्शनस्य-

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ५ ।

इति सूत्रे 'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्य' इत्युक्तम् । अस्य सूत्रस्यार्थस्तु पूर्वमेव वेददुर्गसज्जने विवृतस्तत्रैवावलोकनीयः ।

अतएव ॥ मी० द० अ० १ पा० ३ ॥

विरोधेत्वनपेक्षं स्यादसतिह्यनुमानम् ॥ ३ ॥

इति सूत्रे वार्तिके-

भट्टपादाः-

लौकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत्कर्म विद्यते ।
यावत्किञ्चिददृष्टार्थं तद्दृष्टार्थं हि कुर्वते ॥१॥
वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव ते विदुः ।

अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं योजयन्ति च ॥ २ ॥
तेभ्यश्चेत्प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित् ।
नच कश्चन मुञ्चेयुर्धर्ममार्गं हि ते तदा ॥ ३ ॥
प्रसरं न लभन्ते हि यावत्क्वचन मर्कटाः ।
नाभिद्रवन्ति ते तावत्पिशाचा वा स्वगोचरे ॥ ४ ॥
क्वचिद्दत्तावकाशो हि स्वोत्प्रेक्षालब्धधामभिः ।
जीवितुं लभते कस्तैस्तन्मार्गपतितः स्वयम् ॥ ५ ॥
तस्माल्लोकायतस्थानां धर्मनाशनशालिनाम् ।
एवं मीमांसकैः कार्यं न मनोरथपूरणम् ॥ ६ ॥ इति ।

(९) किञ्च । क्रतुधर्मो बोध्य इत्यर्थोऽपि हेय एव, क्रतुधर्मत्वादित्यनुक्ता-दकहेतुपञ्चमीविरोधात् ।

(१०) अपि च । क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायत इति विवरणमपि निर्मूल-मसम्भवद्ग्रस्तं च, जायत इत्यस्य बोध्य इत्यनेन विरुद्धत्वात् । धर्मत्वादि-तिपञ्चमीविरोधाच्च ।

(११) एवम् । पुरुषार्थो वेत्यर्थोऽपि निर्मूल एव, 'तु' शब्दविरुद्धश्च ।

(१२) किञ्च । एवमर्थकरणे "पृथक्त्वाद् व्यवतिष्ठेत" इत्युत्तरसूत्रानु-त्थानापत्तिर्दुर्वारैव ।

(१३) अपिच भूमिकोक्तयोः सूत्रार्थयोरुभयोरेतदध्यायविरोधस्याधिर-चिकित्स्य एव । क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वयोरेव प्राधान्येनात्र प्रकृतत्वात् तथाच क्रमेणाधिकरणद्वयम् यत्र भूमिकोक्त्यस्तं सूत्रद्वयम् ।

द्रव्यसंस्कारकर्मणां क्रत्वर्थत्वम् अधि० १ ॥

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ १ ॥

वृ० यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोतीति, यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते इति, यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते, वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियत इति । किमेते फलमुद्दिश्य विधीयन्ते उतार्थवादा इति संशये सिद्धान्त-माह । द्रव्येति । द्रव्यसंस्कारप्रधानकर्मविधिषु क्रमेण उदाहृतवाक्येषु श्रुतिः

फलश्रुतिः अर्थवादः परार्थत्वात् पर्णमयीत्वादीनां प्रकरणे न क्रत्वर्थ-त्वात् ॥ १ सू० ।

उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ॥ २ ॥

वृ० ननु पुरुषमुद्दिश्य फलं न स पापं श्लोकं शृणोतीति, विधीयेत कथमर्थवाद इत्यत आह । उत्पत्तेरिति । उत्पत्तेः उत्पत्तिवाक्यस्य अतत्प्रधानत्वात् पुरुषप्रधानत्वाभावात् । अयं भावः । यस्य पर्णमयी जुहूः तस्यपापश्लोकश्रवणमिति । अत्र जुहा अपि पुरुषमुद्दिश्य श्रवणं तुल्यं पश्येति पुरुषग्रहणादिति, जुहा एव फलत्वं किं नस्यादिति । अनुमानादिना तत्फलत्वस्य निरासो भाष्यादितो ज्ञेयः विस्तरभयान्नोपन्यस्यते ॥ २ ॥

पयोव्रतादीनां क्रतुधर्मत्वम् । अधि० ॥ ४ ॥

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मत्वात् ॥ ८ ॥

वृ० ज्योतिष्टोमे श्रूयते. पयोव्रतं ब्राह्मणस्येति । इदं व्रतं, पुरुषार्थं क्रत्वर्थं वेति संशये षष्ठ्या पुरुषस्य प्रधानत्वात् पुरुषार्थमिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह द्रव्याणामिति । क्रियार्थानां ज्योतिष्टोमादिष्वधिकृतानां द्रव्याणां संस्कारः क्रतुधर्मत्वात् । क्रतुसन्निधौ पाठ न प्रयोगविधिपरिगृहीतत्वात् ॥७॥

पृथक्त्वाद् व्यवतिष्ठेत ॥९॥

वृ० ननु ब्राह्मणस्येति किमर्थमत आह । पृथक्त्वादिति । ब्राह्मणक्षत्रियादिप्रयोगाणां पृथक्त्वाद् व्यवतिष्ठते ब्राह्मणकर्तृके पयएवेति ॥९॥

(१४) किञ्च । वायुशुद्ध्यादेरेव यज्ञप्रयोजनत्वे "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिविधिवाक्यसहस्रपीडनप्रसङ्गस्योद्भटत्वात् तदभिधायिनि भूमिकाविधायिनि सुलभैव नास्तिकनामधारणा ।

एतेन भूमिकायाम् ४८ । ४९ पृष्ठयोः "अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्र-मभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति (श० का० ५ अ० ३] । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" । तै० उ० आनन्दवल्ली १ अनु० इति वाक्ययोरुक्तार्थे प्रमाणतयोपन्यासोऽपि निरस्तः । उक्तवाक्ययोरनुवाद-कतया यज्ञानां तन्मन्त्रार्थज्ञताया विधिवाक्यविरोधेनैव ताभ्यां दुर्लभत्वात् ।

यत्तु तत्रैवोपक्रमे—

"यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्तव्यं नानृतमिति यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान् भूत्वाक्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति । तथा यज्ञःकर्तव्य इतियनयाज्ञातेनैव दत्ताऽस्ति तामपि य उल्लङ्घयति सोऽपि पापीयान् सन् क्लेशवांश्च भवति इति" ।

तत्तु हास्यास्पदमेव ।

तन्मते मन्त्रभागस्यैव वेदतया तत्र च तादृशाज्ञाबोधकपदाभावात् । ब्राह्मणभागस्य वेदत्व सिद्धान्तपक्षेऽपि तत्प्रकरण पूर्वोद्धृतेऽत्रै व मन्त्राणां नाभिप्रायकमात्रतया निर्णीतत्वात् ।

यदपि तत्र—

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति तद्धोमकरणमात्रेणैव सिद्ध्यति पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते । अत्र ब्रूमः । एतस्मान्यदेव फलमस्ति । किम् । यथा हस्तेन होमो नेत्रेण दर्शनं त्वचा स्पर्शनं च क्रियते तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते । तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते । होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च । अन्यच्च सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्येत्युपदेशः । यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात्सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम् । कश्चिदत्राह । वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तत्र क्रियते तदा किं दूषणमस्तीति । अत्रोच्यते । नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति कुतः । ईश्वरोक्तत्वाभावात्,निरतिशयसत्यविरहाच्च । यद्धि यत्र क्वचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम् । यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद्बहिरिति च । अत्रार्थे मनुराह-त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥१॥ अ० १ श्लो० ३ ॥ चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥२॥ बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥३॥ अ० १२ श्लो० ९७, ९९ ॥ इति ।

तदपि हेयमेव ।

(१)मन्त्राणामविधायकतायाः पूर्वमुक्ततया तेषां होमफलबोधकत्वायोगात्

(२) किञ्च-कश्चिदत्राऽऽइत्यादिनाऽऽपादितो दोषोऽपि दुरुद्धर एव । तथाहि । मन्त्रस्वीकारेऽवीकृतत्वमयुक्तो लौकिकवाक्यप्रावृत्तः को नाम विशेषः । दृष्टोऽदृष्टो वा ? दृष्टश्चेत् सोऽपि सत्यार्थप्रतिपादकत्वरूपो, माधुर्यादिगुणरूपो वा । यद्याद्यस्तर्हि तत्समानार्थकलौकिकवाक्यापेक्षया तत्र न कोऽपि विशेष इति स दोषस्तदवस्थ एव । यदि द्वितीयस्तदा तु न वैयर्थ्यतादवस्थ्यमेव मन्त्रपाठस्य, अपि त्वकार्यत्वमापद्येत ? मन्त्रवाक्यान्यपेक्षयाभिनवरचितेषु तत्समानार्थकेषु काव्यभूतेषु—

"रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा
देयं किमस्ति भवते जगदीश्वराय ।
राधागृहीतमनसो मनसोऽस्ति दैन्यम्
दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण,, ॥ १ ॥

इत्यादिवाक्येषु गुणालङ्कारातिशयस्य स्फुटतया तदुपेक्षाया अन्याय्यत्वात् । अदृष्टश्चेत्तदा त्वन्ते रण्डेति न्यायेन सर्वास्तिकसम्मतपक्षाऽदृष्टाभ्युपगम एव युक्तः । अदृष्टस्वीकारात्स्वमतविरोधश्च ।

(३) एवम् निरतिशयसत्यविरहाच्चेतिहेतुरप्यसिद्धः अर्थबाधाभावे सत्यत्वानपायात् । निरतिशयत्वस्य च दृष्टमुपकारं प्रत्यप्रयोजकत्वात् । अदृष्टोपकारस्य च स्वयमेवानभ्युपगमात् ।

(४) अपि च "त्वमेक" इत्यादिनानवपद्यत्रयोपन्यसनमपि 'अलं हरसि पापानी', तिन्यायेन पारायणमात्रम्, एतत्प्रकरणसंस्पर्शविरहात् । को हि नामास्तिको वेदा असत्या इत्याद्याचष्टे यं प्रत्ययमुपन्यासः किन्तु यदि मन्त्रपाठेन न किञ्चिददृष्टं साध्यते तदा प्रत्यग्रनिर्मितेन रसरीतिगुणालङ्कारसम्पन्नेन सितमृदुलाक्षरेणान्तर्भावितमन्त्रार्थेन च काव्येनैव मन्त्रप्रयोजनान्यथासिद्ध्या मन्त्राणामानर्थक्यापत्तिरित्येवाक्षिपति, तत्र चाकिञ्चित्करमेवैष श्लोकत्रयोपन्यासः । इत्यलम्—

स किं स्वर्गतरुः कोपि यस्य पुष्पं निशाकरः
मातस्ते कीदृशा वृक्षा येषां मुक्ताफलं फलम् ॥१॥

इत्याद्यर्भकोक्तिप्रतिरूपिकासु भूमिकाऽऽभासोक्तिषु मामकसंघुक्षितासिद्धप्रतीपकटाक्षनिःक्षेपेणेति दिक् ।

अस्तु । हिन्दी और संस्कृत में उन्हीं ने "सत्यार्थ प्रकाश" संस्कार विधि आदि ग्रन्थ और यजुर्वेद भाष्य, ऋग्वेदभाष्य (अपूर्ण) भी लिखा इन भाष्यों से पूर्व "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" नामक एक ग्रन्थ संस्कृत और हिन्दी बनाया । स्वामी दयानन्द जी के वेदभाष्य कैसे हैं ? इसके जानने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे विद्वन्मण्डली में कहीं भी आदृत नहीं, समझदार आर्य सामाजिक पण्डितगण भी उनको वस्तुतः नहीं मानते उनके भाष्यों को भाष्य कहना ही असंगत है । लिखने को लिख दिया है कि मैं शतपथादि को मानता हूं पर वेद भाष्य में और ही लीला है यह बात उन्हें स्पष्ट हो सकती है—जो उनके वेद भाष्य का ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ मिलान करने का यत्न करें । यदि येही वेद भाष्य हैं और येही वेदार्थ हैं जिन्हें स्वामी जी पेश करते हैं तो जितं कलिना ! आर्य समाज में दो प्रबलपार्टी हैं (१) ब्राह्मणपार्टी जिस में बहुत से पण्डित भी संमिलित हैं- परन्तु वे विचारे स्वामी जी के पाण्डित्य पर मन मसोस कर रहजाते हैं- और आर्य समाज में जैसे तैसे निर्वाह कर रहे हैं । (२) दूसरी बाबूपार्टी, जिस में वैदिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ बहुत से लोग संमिलित हैं । इस द्वितीयपार्टी में स्वामी जीके ग्रन्थों में ये तीन ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, और भाष्य भूमिका बड़े प्रामाणिक समझे जाते हैं आर्य समाजियों को इनके ऊपर बड़ा अभिमान है । इन में से सत्यार्थ प्रकाश का खण्डन स्वर्गीय पं॰ज्वाला प्रसाद जी मिश्र करचुके हैं, "संस्कार विधि" की अशास्त्रीयता का प्रकाशन मैं बहुत शीघ्र कराने वाला हूं और भूमिकाखण्डन यह आपके संमुख प्रस्तुत है ।

इस "भूमिकाभास" के प्रकाशन से मेरा तात्पर्य इतना ही है कि श्री स्वामी दयानन्द जी में लोगों को आप्तता का भ्रम न हो, सनातन वैदिक धर्म की उत्कृष्टता प्रकाशित हो । श्री स्वामी दयानन्द जी का सनातन धर्म के साथ (१) मूर्तिपूजा (२) मृतक श्राद्ध (३) अवतारवाद (४) तीर्थस्नानादि से धर्मोत्पत्ति (५) वर्णव्यवस्था आदि विषयों में घोरतर विरोध है । इन विषयों में सनातनधर्म के पण्डित प्रकाण्डों की ओर से पूरे उत्तर दिये जाचुके हैं । स्वर्गीय श्री पं॰ अम्बिकादत्त जी व्यास, वेदवक्ता स्वर्गवासी श्री पं॰ भीमसेन जी शर्मा, धर्मप्रकाश संपादक पं॰कालूराम शास्त्री आदि

द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ इन विषयों में द्रष्टव्य हैं। हमतो इतना ही संक्षेप से निवेदन करेंगे कि ये सब विषय प्रामाणिक हैं शास्त्र सिद्ध हैं प्राकृतिक हैं किसी न किसी रूप में ये भूमण्डल में व्याप्त हैं—इनका खण्डन हो ही नहीं सकता मूर्ति पूजा के विषय में इस निम्नलिखित लेख को पढ़िये।

मूर्ति पूजा की कामना

मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है

तमाम आस्तिक संसार इस बात पर सहमत है कि परब्रह्म परमात्मा सर्व व्यापक है, अणु से अणुतर और महान् से महान् वस्तु में वह मौजूद है मुसलमान भाई उसे हाज़िर नाज़िर बतलाते हैं और ईसाई महानुभाव भी Omnipresent (सर्वव्यापक) मानने में संकोच नहीं करते हमारे भ्राता समाजी महाशय भी इंकों की चोट सर्वव्यापक बतलाते हैं तो अब प्रश्न यह है कि जब छोटे से छोटे परिमाणुवें भी ईश्वर व्यापक है और छोटे२ पदार्थों में मौजूद होने से वह परिछिन्न एक देशी और बद्ध नहीं होसकता तो यह कैसे सम्भव है कि केवल मूर्ति में ही मानने से ईश्वरके ऐश्वर्य पर वज्रपात होजाए अथवा मूर्तिमान् होने में क़यामत आजाए (महाप्रलय उपस्थित हो) यदि सांसारिक प्रत्येक पदार्थ में व्यष्टि रूप से मौजूद होनेके कारण भगवान् एक देशी नहीं होजाते, अथवा उनकी अनन्त शक्ति ज्योंकी त्यों बनी रहती है तो मूर्ति में उनका ध्यान लगाने से कौन सा अनर्थ होगया।

अस्तु। इस प्रकार के तर्कवाद को कुछ समय के लिये न छेड़ करमैं अपने केवल निराकार वादी भाइयों से यह निवेदन अवश्य करना चाहता हूं कि "साकार" रूप में "निराकार" ही आ सकता है आप शायद नहीं समझे कि क्योंकर साकार होगया ? सुनिये। इस कहने का तात्पर्य यही है न ? कि जो पहिले निराकार था अब वह आकार में आगया, और आकार में आना अथवा साकार होना यह शब्द ही कहरहे हैं जिसके आकार नहीं था अब वह आकारमें दिखाई देता है। नहींतो क्या शरीर साकार (स + आकार) होगा, शरीर तो स्वयं आकार है, फिर "साथ आकार के" इसका अभिप्राय क्या हुआ, मूर्तिमान् (नहीं २ स्वयं मूर्तिरूप) शरीरने आकार धारण किया यह तो शब्दों का पिष्ट पेषण होगया, अब यही कहना पड़ेगा कि "आकार

में आना" केवल आकार शून्य के लिए ही बन सकता है, अन्य के लिए नहीं।

आज कल के जमाने में प्रायः युक्ति और प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ही सार्वभौम राज्य है, वेद शास्त्रादि के प्रमाणों में भी युक्तियों को ठूंस २ कर भरा जाता है, और यदि प्रतिवादीने वैदिक प्रमाणों से भगवान् को साकार (अथवा भगवान् की मूर्ति) सिद्ध कर भी दिया तो फिर अर्थ भेद का चक्कर पड़ता है और फलतः हठ और पक्षपात के वशीभूत हमारे भ्राता मूर्तिपूजा के अनिवार्य्य और स्वाभाविक धर्म को मानने को उद्यत नहीं होते और फिर यदि मान भी लें तो अन्य धर्मों के मानने वाले भ्राता (जो कि वास्तव में मूर्ति पूजा के धर्म को स्वाभाविक मानते हैं जैसा कि मैं आगे चल कर दिखाऊंगा) मुसलमान ईसाई यहूदी आदि मुंह से इस अकाट्य सिद्धान्त को माननेको उद्यत न होंगे, अतः सबकी तसल्ली के लिए मैं अपने अनुभव की कुछ बातें आप के सन्मुख रखता हूं जिससे आप को स्वयंज्ञात हो जाएगा कि वास्तव में समस्त भूमंडल किसी न किसी रूप में मूर्ति पूजा के अटल सिद्धान्त को मान रहा है या नहीं। मानना न मानना आप के आधीन है; मैं और मेरे मित्र पं० ब्रह्मदत्त शर्मा जब युरुपीय महा-युद्ध में सेवाएं करने के लिये मिश्र देश को जारहे थे, तो मेरे अमले (establishment) में एक बड़े पक्केमौलवी और अपने मुसलमानी धर्मके कट्टरभी थे और दो एक सिख महानुभाव भी थे। जिस समय हम बम्बई में जहाज की प्रतीक्षा करते हुए ठहरे हुए थे उस समय अकस्मात् हमारे परम मित्र मौलवी साहब ने एक व्यक्ति को बम्बई पुरी में एक बुजुर्ग के मजार (कब्र) पर बैठे और कुछ पाठ करते किन्तु साथ ही शिर को झुकाते देखा, तो मौलवी साहब बहुत ही क्रुद्ध हुए और आप ही आप कहनेलगे "ओ मुशर्क मेरा बस चले तो तुझे दो लात लगाऊं कब्र परस्ती कर रहा है यह तो कुफ्र है"।

मैंने उस समय उन्हें उत्तर देना उचित न समझा और कुछ दिन पीछे हम लोग जहाज में सवार होगए। बम्बई से जिस समय जहाज चला तो हम सब हिन्दू मुसलमान और सिख तथा समाजी सनातनी भाइयों ने अपनी जन्म भूमि और फिर बम्बई नगर को जो मातृभूमि की अन्तिम

मूर्ति को बड़े आदर से शिर झुका दिया, परन्तु अब भी मैंने निराकारवादी भाइयों को कुछ उत्तर न दिया, क्योंकि जन्म भूमि की मूर्ति जब तक सामने थी, उससे नेत्र हटाने को जी नहीं चाहता था आंखों से ओझल होजाने के बाद भी स्वर्गादपि गरीयसी भारतपुण्यजननी की सुफला सजला सस्यपूर्णा मूर्ति हृदय पटल पर अंकित रही और हमें विश्वास होने लगा कि वास्तव में बिना मूर्ति के इष्ट का ध्यान लगाना कठिन है तभी तो शास्त्रकारों ने "अभिमतध्यानाद्वा" कहकर इस विषय को समझाया है और यह तो मूर्ति पूजा की भूमिका ही थी, अब आगे सुनिये।

मिश्र देश में पहुंचकर जब हम स्वेज (Suaz) बंदरगाह पर उतरे तो कुछ काल के अनन्तर हमें पोलेस्टाइन (Palestine) के इलाके में लड (Ludd) स्टेशन के समीप एक जगह नियुक्त कर दिया गया, वहां पास ही एक छोटा सा गाँव रमले (Ramlay) नामक बसता था, वहीं हम कुछ दिन सर्कारी काम करते रहे। इस रमले नगर में कबरें बहुत थीं जिन पर बैठकर वहां के आदमी (नर नारी) अपने पुरखाओं की यादमें सालभर तक प्रति शुक्रवार को रोया करते थे और फूल हार आदि भी चढ़ाया करते थे (मानो श्राद्ध का ही रूपान्तर था) इसके साथ ही कुरान शरीफ की आयतें पढ़ते हुए कब्र के सामने शिर झुकाये बैठे रहते थे। अब तो हमारे निराकारवादी मौलवी साहब की दशा में परिवर्तन होगया और वहां पर जो कई एक प्राचीन समय की मसजिदें थीं उन्हीं के साथ में एक जगह मौलवी साहब ने बतलाया कि किसी मुसलमान बुजुर्ग का मजार (कब्र) है। मौलवी साहब प्रायः वहां जाते और बड़े भक्ति भाव से शिर झुका कर प्रणाम करते तथा कुरान शरीफ का पाठ किया करते थे। (जैसा कि हमें पीछे मालूम हुआ यह वही मौलवी साहब हैं जो मूर्ति पूजा को शिर्फ कुफ्र बता कर लात लगाते थे। मेरे कहने का लक्ष्य अभी आगे आता है। एक दिन हम पैलस्टाइन के प्रसिद्ध ऐतिहासिक शहर जो मुसलमानों के लिये भी परम पवित्र मानाजाता है और यहां पर हजरतउमरकी बनाई हुई बड़ी सुन्दर मसजिद है जिसे मुसलमान मसजिदे अकसा भी कहते हैं ईसाइयों के लिए भी यह स्थान इतना पवित्र है कि इसके लिये इतिहास में बड़े भयंकर युद्ध मुसलमानों और ईसाइयों में हो चुके हैं। इसी स्थान के पास (प्रायः १०-११ मील के फा-

सले पर) बैतुलहम (Bethulban) स्थान है जहां ईसाइयों के प्रसिद्ध नबी (Prophet) हजरत ईसामसीह का जन्म हुआ था। और फिर जेरुसलीम में ही वह स्थान भी है जहां हजरत ईसामसीह ने अपने शिष्यों को ईसाई धर्म की शिक्षा दी, और अन्त में उनके विरोधी दुष्ट लोगों ने उनको पकड़ कर अनेक कष्ट दिये और फिर फांसी पर चढ़ाया इस लिए ईसाइयों के तीनों सम्प्रदाय Roman Catholic Protestant and Greek Charch के गिरजे यहां पर मौजूद हैं और हजरत ईसामसीह की भिन्न २ दशाओं की कहीं २ तो कागजी मूर्तियां लगी हुई हैं और कहीं पत्थर की वैसी ही मूर्तियां जैसी भारत में हैं परन्तु उनसे कहीं ऊंची सुन्दर और जवाहरात से लदी हुई रक्खी हुई हैं जिस जगह महाराज ईसामसीह को फांसी हुई वह जगह सीढ़ियां उतर कर जमीन के नीचे है और सब अंग्रेज वहां जाते हैं अपना शिर झुकाते हैं और टोपी सिर से उतार लेते हैं तनिक विचार से कहना यह मूर्ति पूजा है या कुछ और इतना ही नहीं, धूप दीप का भी पूरा २ प्रबन्ध है। और हजरत ईसामसीह की पूजनीय माता श्रीमती मर्यमदेवी की एक मूर्ति हमने देखी जिसके गले में ६० हजार पौंड (९ लाख रुपये) कीमत का एक हार है जो रूस के बादशाह जार ने भेंट किया था। अब आप ही बताइये कि भारत देश क्या कोई भी स्थान ऐसा आपने देखा है जिस की मूर्तियों के पास इतने अमूल्य आभूषण हों, फिर भी मूर्ति-पूजा या बुतपरस्ती का दोष केवल हिन्दुओं को ही दिया जाता है खैर अब यहूदी भाइयों की लीजिये प्राचीन समय में यहां यहूदियों का भी एक विशाल मन्दिर था मगर अब केवल उसकी एक दीवार रह गई है जिस के पास प्रति शुक्रवार को दूर २ देशों से यहूदी लोग आते हैं और रोते हुए अपने ग्रन्थों का पाठ करते हैं और बड़ी भक्ति और श्रद्धा के भाव से प्रत्येक आगन्तुक एक लोहे की कील इस दीवार में ठोक कर मानो अपने विचार में उसे सुदृढ बनाता है इस दीवार का नाम Jewswailing wall है कहिये यह भक्ति मूर्ति की है या किसी और वस्तु की परन्तु मुंह से न मानना यह कलका फैशन (fashin) खाली होगया है। पाठक स्वयं समझलें।

अब आप तनिक फिर हमारे मौलवी साहब से परिचय करें जो हमारे साथ गए थे (और अभी तक वापस नहीं आए हैं शायद इस वर्ष हज कर

के वापस आएंगे) उन का यहां क्या हाल हुआ ? कुछ न पूछिये जहां कहीं बुजुर्गों के मजार यादगार मसदि आदि मिलती थीं वहीं मौलवी साहब का सिर झुकजाता था और वह बड़े प्रेम से कुरानशरीफ का पाठकरना आरम्भ कर देते थे यहीं पर एक मसजिद में एक बहुत बड़ी पत्थर की वह चट्टान है जहां पर हजरत इब्राहीम ने ईश्वर की आज्ञा से अपने प्रिय पुत्र इस्माईल का बलिदान देना निश्चय किया था और फिर इसी चट्टान पर खड़े होकर पूजनीय हजरत मुहम्मद साहब ने स्वर्गारोहण किया था तो कहते हैं कि यह चट्टान भी आप के चरणों के साथ ही स्वर्ग को जाने लगी थी किन्तु फ़रिश्तों (देवताओं) ने हाथ से पकड़ कर इसे पृथ्वी पर रख दिया और फ़रिश्ते के हाथ के निशान (पांचों उंगलियों के निशान मनुष्य के हाथ से कुछ बड़े) मौजूद हैं। इस जगह को मुसलमान भाई चूमते हैं (क्यों साहब यह क्या है मूर्ति पूजा या पत्थर पूजा ?) ।

मसजिद अक़सा में एक जगह ऐसी है जहां कहते हैं कि ऊपर के भाग में (छत में) हजरत मुहम्मद साहब की पगड़ी छू गई थी जिस से ऊपर पत्थर में निशान हो गया। इस जगह को भी मुसलमान भाई चूमते हैं। (सो क्या ईश्वर पूजा है ?) इस प्रकार मैं ने हजारों जगह देखा कि खुल्लम खुल्ला मूर्ति पूजा होती है और मूर्तियां भी उन महानुभावों की हैं जिन को स्वयं उनके अनुयायी मनुष्य मानते हैं तो फिर यदि हम भगवान् की मूर्ति पूजा करते हैं तो इस का नाम बुत परस्ती क्यों ? और पश्चिम की तरफ (मक्के की तरफ) मुंहकरके नमाजपढ़ना यदि दिशा पूजन वा मूर्ति पूजा नहीं तो हमारी भगवद् पूजा आक्षेप जनक क्यों ?

आज हमारे आर्य्य समाजी भाई मूर्ति पूजा के विशेष रूप से विरोधी हैं और वह भगवान् की लीलाओं को भी स्वांग ही बताते हैं परन्तु अपने घर में प्रत्येक व्यक्ति स्वामी दयानन्द की मूर्ति रखता है और उस के दिल में जो भक्तिभाव स्वामी जी के लिये भरा हुआ है वह तो स्पष्ट ही है परन्तु यह हमारे मिहरबान मुंह से नहीं मानेंगे। करते तो आप भी वही हैं जो स्वाभाविक है परन्तु मुंह से नहीं मानना चाहते । मेरे एक समाजी मित्र ने जन्माष्टमी से कुछ दिन पहिले मुझ से पूछा था कि "कहो पंडित जी सना-तन धर्मियों की जन्माष्टमी कब है ? मैंने चकित हो कर पूछा ऐं सनातन

मूर्तियों की और तुम्हारी नहीं" ? इस पर वह बोले कि पूज्य तो हमारे भी हैं परन्तु हम तुम्हारी तरह उन के स्वांग नहीं निकालते, आप तो प्रति वर्ष कृष्ण भगवान् का जन्म करा देते हैं परन्तु हम नहीं कराते। मैंने उत्तर दिया महाशय आप कृष्ण भगवान् का जन्म तो नहीं कराते परन्तु आये साल कार्तिक वदि अमावस्या को स्वामी जी की मृत्यु जरूर कराते हैं, सो मुसलमानों के ताजियों और आप के यहां स्वामी जी की बरसी में क्या भेद है ? इस पर महाशय जी बात टाल गये।

मूर्ति पूजा पर एक भारी प्रश्न प्राय: समाजी महाशयों की तरफ से यह किया जाता है कि साहब जब "पुरुष एवेदं सर्वं" और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इन वेद वाक्यों से सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है तो फिर एक देशी मूर्ति में ध्यान क्यों लगाया जाय इतना नहीं वरन यह भजन नगर कीर्तन और वार्षिकोत्सव पर गा गा कर समझते हैं कि बस अब मूर्तिको बिदा कर देंगे।

(क़व्वाली)

अजब हैरानहूं भगवन् तुम्हें क्यों कर रिझाऊं मैं
कोई वस्तु नहीं ऐसी जिसे सेवा में लाऊं मैं
करूं किसतरह आवाहन कितुम मौजूद होहरजा
निरादर है बुलाने को अगर घंटी बजाऊं मैं
लगानाभोग कुछ तुमको फ़क़त अपमान करना है
खिलाता है जो सबजग को उसे क्योंकर खिलाऊंमैं
भुजाएं हैं न सीना है न जंघा है न पेशानी
कि है निर्लेप नारायन कहां चंदन लगाऊं मैं ?
तुम्ही हो मूरती में भी तुम्ही व्यापक हो फूलों में
भला भगवान् को भगवान् पर क्योंकर चढाऊँ मैं

इस में स्पष्टतया फूल और मूर्ति दोनों को भगवान् मान लिया है और यही कहलवाना हम भी चाहते थे) हम उपरोक्त सब बातों को अक्षरश: सत्य मानते हैं परन्तु पूछना यह है कि क्या यह कथन गृहस्थी का है नहीं ? कदापि नहीं यह बात सन्यासी कह सकता है गृहस्थी नहीं भला क्यों ?

सुनिये यदि गृहस्थ ऐसा कहता है कि मूर्ति और फूलों में व्यापक होने से फूल को मूर्ति पर चढ़ाना भगवान् को भगवान् पर चढ़ाना है, इस लिये आप के कथनानुसार फूल और चंदन नहीं चढ़ाना चाहिये तो फिर वाणी में बसने से उस के गुण भी नहीं गाने चाहिए, सब जगह है तो नासिका के अग्र भाग में ही ध्यान क्यों लगाएं ? (जैसा कि श्री स्वामी दयानंद जी ने लिखा है) और वेद मन्त्र क्यों बोलें सन्ध्या क्यों करें । अग्निहोत्र कैसे करोगे ? (हवन सामग्री और अग्नि दोनों में भगवान् हैं तो क्या हवन कर के भगवान् को जलाओगे)गाना क्यों गाते हो बाजा क्यों बजाते हो ? नगर कीर्तन किसका ? और सब से अधिक यह कि आप एक कन्या को बहिन एक को माता और एक को स्त्री नहीं बना सकते (समानरूपेण व्यापकत्वात् तो फिर क्या इन सब बातों को छोड़दें ? इतना ही नहीं भाई ! तुम अन्न भी क्यों खाते हो ? भगवान् तो अन्न में व्यापक है क्या ईश्वर को खाजाओगे (इसी से तो हम सब पदार्थों का भोग ईश्वर को लगा कर दोष मुक्त हो जाते हैं मगर आप के ऊपर यह दोष बना रहा (देखो ईशावास्योपनिषद् का पहला मन्त्र) महाशय जी यह कथन संन्यासी का है गृहस्थ का नहीं क्योंकि उसको न कोई नगर कीर्तन करना है और न विवाहादि और न वह अपने को किसी कर्म का कर्ता मानता है । आप कहेंगे कि सनातन धर्मी गृहस्थी भी तो यह सब कर्म करते हैं उनको दोष क्यों नहीं तो इस का उत्तर ऊपर ही आचुका है (अर्थात् यह सब काम भगवान् तुम्हीं कर रहे हो तुम से भिन्न मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं इस लिये मैं न तो कर्ता हूं और न उस का फल भागी, परन्तु समाजी महाशय जो जीव को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं, वह क्या उत्तर रखते हैं ?) ।

सिख भ्राता जब तक गुरु ग्रन्थ साहब को मत्था टेकते और प्रदक्षिण और परिक्रमा करते हैं तब तक हिन्दुओं पर मूर्ति पूजा को दूषित सिद्ध नहीं कर सकते जैनी और बौद्ध तो स्वयं मूर्ति पूजा करते ही हैं यह निर्विवाद है ब्रह्म समाज तमाम धर्मों की बातों को लेलेते हैं तो जब अन्य धर्मों में मूर्ति पूजा स्वाभाविक कामना सिद्ध हो गई तो वह भी इस के अन्तर्गत ही आगिए। इस लिए सिद्ध हुआ कि मूर्ति पूजा की कामना मनुष्य मात्र में स्वाभाविक ही है और अनिवार्य है। मूर्ति पूजा के विरोधियों को

चाहिए कि वह शान्त चित हो कर मेरे इस लेख को पढ़ें और मूर्ति पूजा को वैदिक धर्म मानकर आगे को झगड़े न बढ़ावें मेरे लिए तो आर्य समाज भी मेरा अपना ही आत्मा है इस लिए मुझे किसी से द्वेष नहीं परन्तु सत्य भाषण करना ब्राह्मण का परम कर्तव्य है (और मनुष्यमात्र का भी धर्म है) इस लिए दो चार बातें साधारण रूप से लिखीं हैं। आशा है कि हमारे ब्राह्मण भाई विशेष रूप से इन पर विचार करेंगे।

ब्राह्मण समाचार तारीख २९। १०। २०।

मृतक श्राद्ध को पहले स्वामी जी मानते थे सत्यार्थ प्रकाश जो कि श्री राजा जयकृष्णदास बहादुर ने जो सन् १८७५ ई० में बनारस के स्टारप्रेस में छपवाया (जो कि उसी सन् का मुद्रित हमारे पास वर्तमान है) उस में देखिये स्वामी जी क्या लिखते हैं।

"अथदेवतर्पणम् ओम् ब्रह्मादयोदेवस्तृप्यन्ताम् १ ओम् ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम् ॥१॥ ओम् ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् १ ओम् ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम् १ इति देवतर्पणम्। अथर्षितर्पणम्। ओम् मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम् २ ओम् मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम् २ ओम् मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम् २ ओम् मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम् २ इत्यृषितर्पणम्। अथ पितृतर्पणम्। ओम् सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् अग्निष्वात्ताःपितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम्सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम् ३ ओम् यमादिभ्योनमः यमादींस्तर्पयामि ३ ओम् पित्रे स्वधानमः पितरन्तर्पयामि ३ ओम् पितामहायस्वधानमः पितामहन्तर्पयामि ३ ओम् प्रपितामहायस्वधानमः प्रपितामहन्तर्पयामि ३ ओम् मात्रे स्वधानमः मातरं तर्पयामि ३ ओम् पितामह्यै स्वधानमः पितामहीं तर्पयामि ३ ओम् प्रपितामह्यै स्वधानमः प्रपितामहीं तर्पयामि ३ ओम् अस्मत्पत्न्यै स्वधानमःअस्मत्पत्नीं स्तर्पयामि ३ ओम् सम्बन्धिभ्योमृतेभ्यः स्वधानमः सम्बन्धीन्मृतां स्तर्पयामि ३ ओम् सगोत्रेभ्योमृतेभ्यः स्वधानमः सगोत्रान्मृतांस्तर्पयामि ३ इतितर्पणविधिः। पित्रादिकों में जो कोई जीता होय उसका तर्पण न करै और जितने मरगये होंय उनकातो अवश्य करै" ॥

तर्पण और श्राद्ध में क्या फल होगा इसका यह समाधान है कि तृप्यन्तितर्पयन्ति येन तर्पणं तृप्तिः । तर्पण किसका नाम है कि तृप्ति को और श्राद्ध किसका नाम है जो श्रद्धा से किया जाता है मरे भये पितरादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है उससे क्या आता है कि जीते भये को अन्न और जलादिकों से सेवा अवश्य करनी चाहिये यह जाना गया दूसरा गुण जिनके ऊपर प्रीति है उसका नाम लेके तर्पण और श्राद्ध करेगा तब उसके चित्त में ज्ञान का संभव है कि जैसे वे मरगये वैसे मुझको भी मरना है मरण के स्मरण से अधर्म करने में भय होगा धर्म करने में प्रीति होगी तीसरा गुण यह है कि दायभाग बांटने में सन्देह न होगा क्योंकि इनका यह पिता है इसको यह पितामह है इसका यह प्रपितामह है ऐसे ही छः पीढ़ी तक सभों का नाम कण्ठस्थ रहेगा वैसे ही इसका यह पुत्र है इसका यह पौत्र है इसका यह प्रपौत्र है इससे दायभाग में कभी भ्रम न होगा चौथा गुण यह है कि विद्वानों को श्रेष्ठ धर्मात्माओं ही को निमन्त्रण भोजन दान देना चाहिये मूर्खों को कभी नहीं इससे क्या आता है कि विद्वान् लोग आजीविका के विना कभी दुःखी न होंगे निश्चिन्त होके सब शास्त्रों को पढ़ावेंगे और विचारेंगे सत्य २ उपदेश करेंगे और मूर्खों का अपमान होने से मूर्खों को भी विद्या के पढ़ने में और गुण ग्रहण में प्रीति होगी ।

सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ५२ तथा ५७ व ५८

इस समय बारहवीं बारका छपा सत्यार्थप्रकाश हमारे सामने पड़ा है उसके १००वें और १०१वें पृष्ठ पर जो देवतर्पण, ऋषितर्पण और पितृतर्पण लिखे हैं उनसे भी मृतकों के तर्पण की ही सिद्धि झलकती है- उन्हें जीवित परक पोंछे से बताना स्वामी जी की धींगा धींगी है। जीवितों के ऐसे तर्पणादि न कभी हुए और न होंगे आर्यसमाज में कितने युवा ऐसे हैं जो सत्यार्थप्रकाशोक्त रीति से तर्पणादि करते हों ? उत्तर मिलेगा शून्य ० समझे ? अवतारवाद, तीर्थस्नानादि से धर्मोत्पत्ति, जन्म से वर्णव्यवस्था आदि सब विषय शास्त्र सिद्ध हैं युक्ति सिद्ध हैं, सिवाय शास्त्रानभिज्ञों के वा नास्तिकों के इन विषयों में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होती ।

प्राचीन हिन्दूधर्म, जिसका स्थापन तपस्वी महर्षियों ने बड़े विचार से किया है-उसके ऊपर श्री० स्वा० दयानन्द जी महाराज क्यों लट्ठ लेकर दौड़े

और उनका कैसा पाण्डित्य है- इस बातको भूमिकाभास लिखकर प्रकाशित कर देना चाहिये- ऐसी विनीत प्रार्थना सदाचारमूर्ति श्री पं० घनश्याम जी शर्मा प्रोफेसर सैंट जौन्स कालिज आगरा और उनके सहयोगी पण्डित जी से मैंने की थी, ईश्वर के अनुग्रह से वह आज पूरी हुई इस ग्रन्थ के प्रकाशन से सनातनधर्म की सेवा किसी अंश में भी हुई तो मैं अपने आपको "सामासत्योक्तिः परिपातु विश्वतः" कृतकृत्य समझूंगा।

विनीत निवेदकः—

राधाचरण शर्मा

मन्त्री सनाढ्योपकारिणी सभा धौलपुर स्टेट (राजपूताना)

(नोट) यदि इस पुस्तक की यथार्थ समालोचना वा खण्डन (जिसकी मुझे आशा नहीं) कोई गुरुकुल-कांगड़ी (हरद्वार) गुरुकुल वृन्दावन, वा महाविद्यालय ज्वालापुर (हरद्वार) के पण्डित वा स्नातक देंगे तो मैं उन्हें धन्यवाद ही देकर सन्तुष्ट न रहूंगा किन्तु पण्डितराज के शब्दों में यह कहूंगा कि "निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्यात्तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि ॥

सनातनधर्म का तुच्छ सेवक

राधाचरण शर्मा

—:०:—

धन्यवाद और प्रार्थना ।

इस पुस्तक के संस्कृत भाग के अनुवाद करने में श्री पं० चिरंजीवलाल शर्मा हैड पंडित संस्कृत हाईस्कूल देहली ने बहुत परिश्रम किया है इस लिये मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूं और उन्हें बहुत २ धन्यवाद देता हूं । यद्यपि स्थाने २ मुद्रणालय के कर्मचारियों की अनवधानता से तथा टाइप की मात्रादि के टूट जाने से ग्रन्थ में बहुत सी अशुद्धियां होगईं जिसका हमें दुःख है और जिनके कारण हमें शोधन पत्र लगाना पड़ा, तथापि पाठकों से विनम्र भाव से प्रार्थना है कि वे ध्यान पूर्वक पढ़ें उन्हें साधारणत्रुटियां मालूम होजांयगी । जो माननीय विद्वान् हमें इस ग्रन्थ के विषय में किसी प्रकार की उपयोगी सूचना देंगे तदनुसार अगले संस्करण में हम उनका धन्यवाद नाम निर्देश करके ग्रन्थ की सुव्यवस्था करने का यत्न करेंगे

राधा चरण शर्मा

धौलपुर स्टेट

अगाधमेधसर्वतन्त्रापरतन्त्रप्रतिप्रपूज्यपाद

श्री १०८ पं० काशीनाथ जी महराज की सम्मतिः

श्री हरिः

अथेदं विदितमस्तु ।

सेण्टजोन्सकालिजसंज्ञकमहाविद्यालयसंस्कृतमि पुणाध्यापकेन (प्रोफेसरेण)सनातनधर्मोद्धरणगृहीतदीक्षेण, इटावानगरीयविद्यापीठमहोपदेशकेन सनाढ्यविप्रमण्डलीलब्धप्रतिष्ठेन आगरानगरमलंकुर्वताश्रीयुतपण्डितवर घनश्यामशर्मणा निर्मितः स्वामि दयानन्दसरस्वतीसम्पादित-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाखण्डनरूपोभूमिकाधिकारापरपर्यायो भूमिकाभासनामायं ग्रन्थः सनातनधर्मतत्वं बुभुत्सूनां महोपकारीति प्रचारार्हः । अत्रहि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाकृतो महदज्ञानं दर्शितमिति परामृशति बलियाप्रान्तनिविष्ट-खातागामवास्तव्योऽधुना काशीवासी पं० काशीनाथइति ॥

—o—

* समर्पणम् *

उद्यच्चारुचरित्रचित्रितजगत्प्रोद्घुष्टकीर्तिव्रजो-
दक्षस्यात्मजयार्धपूरिततनुर्यत्रांशतो राजते ।
यत्राश्रित्य सरस्वती भगवती मोमुद्यते पद्मया
भानुर्धौलपुरेश्वरो विजयतां सिंहान्तनामा प्रभुः

श्री १०५ मान्

हिज़ हाइनेस कर्नल महाराजाधिराज
महाराज श्री उदय भानुसिंहजी महोदय

धौलपुर नरेन्द्र !

आप की सनातन धर्म में अतिशय श्रद्धा और प्रजा-
पालन दक्षता आदि विविधसद्गुणों के कारण, यह वि-
द्वत्तापूर्ण ग्रन्थ करकमलों में प्रेम पूर्वक समर्पित है ।

आप का शुभाकांक्षी
राधा चरण शर्मा
मन्त्री सनाढ्य सभा धौलपुर स्टेट

अनुक्रमणिका

❀ श्रीहरिःशरणम् ❀

भूमिकाभासस्य पूर्वभागः

ॐ तत्सत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ शान्तिः ।

❀ मङ्गलाचरणम् ❀

सर्गस्थितिप्रलयहेतुमुपेन्द्रमुख्यैः
संसेव्यमानचरणं शरणं मुनीनाम् ॥
पूर्वं कृतानि दुरितानि विमार्ष्टुकामः ।
श्रीशङ्करं भुवनशङ्करमाश्रयेऽहम् ॥१॥
चित्रायतां हरविरिञ्चिकिरीटकोटि-
व्याटीकमानसुरसिन्धुमणिच्छटाभ्याम् ॥
नीराजनाञ्चितपदा सुषमादयाभ्यां
संशोभिता शुभवतो भवतोत्रकाचित् ॥२॥

पूर्वकृत पापों के नाश से शुद्धि चाहता हुआ मैं भगवान् श्री शङ्कर (शिव) का जोकि संसार की रचना, पालन और प्रलय के हेतु, विष्णु आदि देवों से पूजित, मुनिजनों के रक्षक और जगत् का कल्याण करने वाले हैं आश्रय ग्रहण करता हूं ॥१॥

श्री शिव और ब्रह्मा के मुकुट की कोटि में लगी हुई श्री गङ्गा और मणि की छटाओं से-आरती करने पूर्वक जिसका पद पूजित है, परम शोभा

गुरुस्मरणम् ।

यत्पादसेवासुखमादधानाः सुधाभुजां धाम न कामयन्ते ॥
श्रीकाशिनाथांघ्रिविशिष्टभक्तिःश्री१०८काशिनाथः* सशिवंतनोतु१
नहि ममहृदयेऽस्ति पक्षपातोऽप्यथवा द्वेषविधानमत्र किंचित् ।
श्रुतिशास्त्रसुयुक्तियुक्तमत्रग्रथितं तत् प्रविलोकयन्तु विज्ञाः ॥१
भुविसन्ति बहुत्र सर्वपक्षे सदसच्चारुविचारचातुरीकाः ॥
ननुगद्यमयं प्रबन्धमेतं परिपश्यन्तु विहाय पक्षपातम् ॥२॥
मतिरस्ति न मे विशुद्धरूपा सहजा पण्डितरा विचारणा वा ।
मयिकीदृगनुग्रहो गुरूणामिति संदर्शयितुंतु मे प्रयासः॥ ३ ॥

और दया से जो शोभित है वह कोई अनिर्वचनीय चैतन्य अर्थात् विष्णुरूप तेज शुभभाग्यशील आप लोगों की रक्षा करे ॥२॥

गुरुस्मरणम्-

जिनकी चरण सेवा के सुखको धारण करते हुए भद्रजन अमृतभोजी देवताओं के स्थान (स्वर्ग) की भी इच्छा नहीं करते,-जो शिव चरणों के अनन्यभक्त हैं वे श्रीकाशीनाथ जी सुख का विस्तार करें ॥१॥

मेरे हृदय में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं और न द्वेषबुद्धि से इस ग्रन्थ में कुछ विधान किया गया है। जो कुछ इस में निर्माण किया है वह वेद एवं अन्यान्य धर्मशास्त्र के ग्रन्थों की युक्तियों से युक्त है,- उसे विज्ञजन अवलोकन करें ॥१॥

पृथ्वी पर भिन्न २ मतों का अवलम्बन करते हुए भी सब ओर सदसत् के शुभविचार में प्रवीण अनेक भद्रजन हैं, वे पक्षपात को छोड़ कर गद्यरूप से रचित इस ग्रन्थ को देखने की अवश्य कृपा करें ॥२॥

मेरी बुद्धि विशुद्ध, स्वाभाविक चातुर्यादि गुणों से युक्त और विचार-शीला जैसी कि होनी चाहिये नहीं है, पर मुझ पर गुरुजनों का कैसा अनुग्रह है यह दिखलाने के लिये ही मेरा परिश्रम है ॥३॥

* इमे ऋषिकल्पाः सर्वतन्त्रापरतन्त्राः बलियाप्रान्तान्तर्गतछातागामसदासत्या इदानीं काशीमलंकुर्वन्ति ।

निगमेषु कृतश्रमाः मदीयं श्रममेतं दयया कृतार्थयन्तु ।
प्रचलाद्दृष्टविजृम्भणं तदेतत् क्षमणीयं खलु बालचापलं मे ।४।
विधिरस्तु महान् महेश्वरो वा कलिकालप्रभवो यतीश्वरो वा ।
श्रुतिमार्गविघातको यदि स्यान्नहि धार्ष्ट्यं प्रभवामि तस्य सोढुम् ५

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' ऽभिधं ग्रन्थमारिप्सुर्मुनीन्द्रो दयानन्दो दयालोः परेशस्य मङ्गलमूर्त्तेर्भगवतः स्मरणव्याजेन कानिचित् पद्यानि ग्रन्थादावेव जग्रन्थ । तत्रः— "ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी । वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा, तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥ १" इति, अयमस्ति तत्कृतौ साक्षान्मङ्गलरूप एवादिमः श्लोको यस्यावलोकनमात्रेण सकृदेव प्रकटीभवति सहृदयहृदयता, परिचीयते च साहित्यशास्त्रपरिज्ञानं, संस्तूयते खलु वेदभाष्यसम्पादनयोग्यता तस्य महाभागस्य । अहो ! प्रथमग्रास एव मक्षिकाविनिपातः । हा हन्त शब्दार्थबुद्धिलतिकागुणविताने दण्डिनोऽस्यौदण्ड्यदण्डप्रहारः ।

वेदादि शास्त्रों में जिन्हों ने परिश्रम किया है वे विद्वान् लोग दया करके मेरे इस परिश्रम को कृतार्थ करें और बालभाव से हुये चापल को क्षमा करें ॥ ४ ॥

ब्रह्मा हो या शिव अथवा कलियुग में उत्पन्न हुआ कोई यतीश्वर (संन्यासी) यदि वह वेदमार्ग का विघातक है तो हम उसकी धृष्टता को सहने के लिये समर्थ नहीं हैं ॥ ५ ॥

अर्थ —'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' नामक ग्रन्थ को आरम्भ करते हुए स्वामी दयानन्द जी ने जगदीश्वर, आनन्द स्वरूप परमात्मा के स्मरण के बहाने से कुछेक श्लोक ग्रन्थ के आदि में ही निरूपण किये हैं, उन में—

"ब्रह्मानन्तमनादि०-

यह पहला ही श्लोक उनकी रचना में मङ्गलाचरण रूप है, जिसके देखने मात्र से एक बार ही उस महानुभाव के पाण्डित्य, साहित्य शास्त्र के ज्ञान और वेदभाष्य रचने की योग्यता का परिचय अच्छे प्रकार मिल जाता है।

अयि विविधशास्त्रकलाकलापमर्मज्ञा, विज्ञाः श्रीमन्तो भवन्तोऽप्यत्र मनागुदत्तावधानाः पद्यमिदं विचारयन्तु, यद् भगवतो ब्रह्मणोऽनादिविशेषणं कृत्वापि किंफलकन्तावदजविशेषणं व्याजहार। तथा त्रिकालाबाधितत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तकेन सत्यत्वेन विशेष्यापि शाश्वतपदं किमर्थं निहितवान्। विमला जगते हिता वेदाख्या विद्या स्वतोभिन्नान् कांस्कान् निगमान् बिभर्तीत्यपि विचारणीयम्। 'हि' 'तु' शब्दौ च किमर्थमुपन्यस्तौ?। निगमार्थभाष्यमतिनेत्यत्र निगमार्थस्य भाष्ये कामना उत निगमभाष्ये? आद्येचेत्कि कृतः सोऽर्थो यस्य भाष्यचिकीर्षा जागरूकतामाप तत्र भवद् हृदये किञ्च तदर्थभाष्यं किं स्वरूपमित्यपि जिज्ञासास्पदम्? निगमस्य भाष्य एव यदि सा तदार्थशब्देनान्तर्गडुभूतेन किं कृतम्। किमतिपल्लवितेन भूरस्तु केवलेपि पद्ये शब्दार्थदोषबाहुल्येनाविभूय शोच्यतां नीता भगवती कविता

आश्चर्य्य है पहले ही ग्रास में मक्खी आन पड़ी। हा! शोक है कि शब्द और अर्थों को प्रकाशित करने वाली बुद्धि रूप लता (बेल) के गुच्छ रूपी गुच्छे पर इस दण्डी का उद्दण्डता से भरा हुआ कैसा दण्ड प्रहार हुआ है।

अनेक शास्त्रों की विविध कलाओं के मर्म को जानने वाले विद्वान् लोगो-आप भी इस ओर ध्यान देकर इस पद्य को ज़रा विचारिये तो सही कि भगवान् ब्रह्म को 'अनादि' विशेषण देकर भी फिर 'अज' विशेषण देने से क्या लाभ? जब कि 'अनादि' पद से ही 'अज' शब्द का अर्थ भी चारितार्थ हो जाता है, तब अज शब्द का विशेषण सर्वथा व्यर्थ है। और तीनों कालों में स्वस्वरूप में किसी प्रकार की बाधा न आना ही 'सत्य' शब्द का अर्थ है। उसी अर्थ को लेकर प्रवृत्त होने वाले सत्य शब्द का विशेषण देकर फिर 'शाश्वत' पद क्यों रक्खा? यह भी विचारणीय है कि निर्मल और जगत् का हित करने वाली वेदविद्या अपने से भिन्न किन २ निगमों (वेदों) को धारण करती है? 'हि' और 'तु' ये दोनों शब्द जो कि निरर्थक ही हैं क्यों रक्खे? 'निगमार्थ- भाष्यमतिना, यहां पर यह प्रष्टव्य है कि 'वेदार्थ भाष्य' करने में आपकी कामना है या 'वेदभाष्य' में? यदि यह कहो कि वेदार्थ भाष्य की कामना है तो क्या वह अर्थ आपने किया जिसके भाष्य की इच्छा आपके हृदय में जागृत हुई? यह भी बतलाना चाहिए कि वेदार्थ भाष्य का स्वरूप क्या है? यदि वह कामना वेदभाष्य की है तो निगम और भाष्य के बीच

यदवलोकनजातदयावशंवदा वयं त्वित्थमेव सकरोत्क्षेपं समुक्तकण्ठं च भाव-विदो विदुषः प्रति वदामः —

कविता कामिनीं हन्त रसभावविदग्रियाम् ।
विरक्तः कामसम्मुग्धो दुनोति त्रायतामियम् ॥

"कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले । प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥२॥"

इत्येनापि तदीयद्वितीयवृत्तेन वृत्तप्रायमेव वैदुष्यं स्वामिमहोदयस्य 'कालरामाङ्कचन्द्र- मितेऽब्दे' इति वक्तव्ये कालादिभिरेव केवलैः समुद्युक्तो विबोधयितुं वत्सरमानम् । विचित्रेयं भाष्यकारिणोऽस्य वचोभङ्गिः, अद्भुतञ्च कवितासाहसित्वं, छन्दः परिज्ञाने व्यप्रभवन् कथं नाम झटिति कवने प्रवृत्तिं विदध्यात् यदि कश्चिद्भवेत्सविचारः । 'प्रतिपद्यादित्यवारे, चरणे त्र पञ्चमाक्षरं गुरुतां प्रापयन्नवहेलितोऽनेन भगवान् पिङ्गलाचार्योऽपि यः सर्वत्र श्लो-

---

में ग्रन्थि (गांठ) के समान व्यर्थ पड़े हुए अर्थ शब्द ने क्या किया विद्वानों के लिए अधिक क्या लिखें केवल पद्य में ही शब्द और अर्थ के दोषों की इतनी भरमार है कि उसने प्रकट होकर कविता देवी को उस शोचनीय दशा में पहुंचा दिया है कि जिसे देख उत्पन्न हुई दया के वशीभूत हुए हम हाथ उठा कर और खुले कण्ठ से साहित्य शास्त्र का ज्ञान रखने वाले विद्वानों से यही कहते हैं :-

शृङ्गारादि रसों के मर्म को जानने में रसिक एवं चतुर पुरुष की प्राण-प्रिया कविता रूपी कामिनी शोक है कि एक ऐसे पुरुष से सताई जा रही है कि जो प्रेम रस शून्य और भोग विलासों में अनभिज्ञ है, अतः इस बेचारी दीन की रक्षा कीजिए ॥

काल रामेति- उनके इस दूसरे श्लोक से भी स्वामी महोदय का पाण्डित्य अच्छे प्रकार विदित हो गया । 'कालरामाङ्कचन्द्र मितेऽब्दे' ऐसा कहना उचित था । स्वामी जी महाराज केवल 'काल' आदि शब्दों से ही संवत् के मान का बोध कराने के लिए उद्योग करते हैं । इनकी यह कुटिल वाक्य-रचना चातुरी बड़ी विचित्र है और कविता करने का साहस भी अद्भुत ही है । छन्दः शास्त्र के ज्ञान में असमर्थ भला कोई क्यों कर एकदम कविता करने में प्रवृत्त हो सकता है ? यदि वह विचार शील हो । 'प्रतिपद्यादित्य-

के पञ्चमं वर्णं लघु निर्धेयमिति समादिदेश । श्रुतबोधविज्ञोपि (पञ्चमं लघु) सर्वत्र लघु पञ्चमम्, इति विजानानो नैवंविधांत्रुटिं कुर्यात्, किमुत महर्षि-पदाभिधेयः कोपि । 'भाष्यारम्भः कृतोमये' इत्यत्रापि प्रष्टव्याः श्रीमच्चरणाः—किमारम्भशब्द आद्यकृतिं नावबोधयति यत्तत्र 'कृत' इत्युक्तम् । 'भाष्यमारभ्यते मया' इति तु सुवचम् ।

> दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
> सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिताहीशशरणा ।
> इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमनना,
> स्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥ ३ ॥

इत्ययं तृतीयस्तदीयः श्लोकः । अस्य च 'दयायापरः स्वात्मविदित आनन्दो विलसति अस्याग्रे हिता हि ईशशरणा सरस्वती निवसति यस्य प्रततसुगुणा वेदमनना इयं ख्यातिरस्ति अनेनेदं भाष्यं रचितम् इति अनघा बोद्धव्य-मित्य वान्वयः । शिखरिणीयं रहसि समुपविश्य समाहितचेतसा तत्रभवता

वारे, इस चरण में पांचवें 'दि' अक्षर को 'संयोगे गुरु' इस नियम से गुरु रखते हुए स्वामी दयानन्दजी ने भगवान् पिङ्गलाचार्य का भी अनादर कर दिया, जिसने "सब जगह श्लोक में पांचवां अक्षर लघु रखना चाहिए" यह उपदेश दिया है। केवल 'श्रुतबोध' पढ़ा हुआ भी 'सर्वत्र लघु पञ्चमम्' अर्थात् सब जगह पांचवां अक्षर 'लघु' होना चाहिए । इस नियम को जानने वाला इस प्रकार की मोटी भूल नहीं कर सकता- फिर भला कोई महर्षि ऐसी भूल क्यों करने लगा है। 'भाष्यारम्भः कृतोमया' यहां पर भी स्वामी जी महाराज से पूछना चाहिए- क्या केवल आरम्भ शब्द ही इस अर्थ का बोध नहीं करा देता कि यह नवीन रचना की जाती है? जिससे कि वहां आपने 'कृतः' यह शब्द और रक्खा । 'भाष्यमारभ्यते मया' बस, इतना ही कहना पर्याप्त था ।

दयाया इति-यह स्वामी जी का तीसरा श्लोक है । पाठकगण ! (ऊपर मूल में) ध्यान देकर देखें कि जो अन्वय इसका किया गया है वही हो सकता है । मालूम होता है आपने यह शिखरिणी कहीं एकान्त में बैठ कर बड़े सावधान चित्त से बनाई है, नहीं तो जिसका अभिप्राय कठिनता से भी मालूम न हो सके और जिन का सम्बन्ध ठीक २ न लग सके ऐसे पदों से

दयरचीति प्रतिभाति । अन्यथा दुर्ज्ञेयाकूतविशेषजुष्टं दुरधिगलसच्छ घ-पदालिविशिष्टं कथंकारं काव्यवस्तु तादृशं प्रादुर्भवेत् शास्त्रदृशैः रस्मादृशैश्चिरं बहु सावधानं विचारितापीयं न स्फुटार्थाभूत् । किञ्च आनन्दस्य स्वात्मविदितत्वमपि नाद्यावधि प्रतिपन्नम् किमानन्दशब्दः स्वात्मविदितस्तदर्थो वा ? शब्दश्चेत् तत्प्रकारविदितेभ्य स्तदतिरिक्तशब्देभ्यः को विशेष स्तत्र, यत्तदुपन्यासः । अर्थश्चेत्स्वात्मविदित स्तर्हि कृतं शब्देन निष्प्रयोजनेन । दयानन्देतिनामबोधनाय प्रवृत्तस्य भवतोनवरतं कृतो यत्नो मुधैवागतं जगामेतिखेदा न्मौनमेव भवान्भजताम्, तदेवनः श्रेयस्करं भाति भवते । अपि च 'यस्य अग्रे सरस्वती निरुक्तविशेषणविशिष्टानिवसति' सत्यं, हृदय ङ्गमसुक्तवानसि, यस्याग्र एव सरस्वती निवसति न पुरतः । सामयं दण्डी

भरी हुई भला इस अलौकिक कविता का प्रादुर्भाव कैसे होता ? हम और अन्यान्य भी विद्वान् लोगों ने जो कि शास्त्रज्ञ हैं बहुत काल तक और बड़ी सावधानी से इसे विचारा परन्तु इसका अर्थ स्पष्टरूप से विदित न होसका और यही नहीं किन्तु आनन्द का स्वात्मा में विदित होने का अभिप्राय भी अब तक समझ में नहीं आया । न मालूम स्वामी जी ने अपने आत्मा में विदित होने का तात्पर्य आनन्द शब्द से रक्खा है अथवा उस के अर्थ से ? यदि शब्द से कहो तो उस प्रकार के जाने हुए उन के अतिरिक्त और शब्दों से आनन्द शब्द में क्या विशेषता है कि जिस से उस का वहां ग्रहण किया? यदि यह कहो कि स्वात्मविदित का तात्पर्य आनन्द शब्द के अर्थ से है तो फिर निष्प्रोजन शब्द से क्या लाभ ? शोक है कि 'दयानन्द' इस नाम के जतलाने में लगे हुए आप का लगातार का किया हुआ यह अथक परिश्रम व्यर्थ ही नष्ट हुआ इस खेद से बस अब आप को मौन ही धारण कर लेना चाहिए यही हमें आप के लिए श्रेयस्कर प्रतीत होता है । स्वामी जी महाराज का एक और भी रहस्य देखिए जो कि बड़ा ही विचित्र और मनोरञ्जक होता हुआ यथार्थ ही है ·—"जिस के आगे अर्थात् जिसके जन्मसे पहले ही 'निरुक्त' में बतलाये हुए विशेषणों से युक्त सरस्वती रहती थी, सामने नहीं यह दण्डी (संन्यासी) दण्ड लेकर मुझ पर कठोर प्रहार (चोट) करेगा और मेरे जड़से ही उखाड़ने के यत्न में लगेगा यह समझ, चारों ओर आंखों को फाड़ फाड़ कर देखती हुई को व्याकुलतावश होता हुआ भी जब

दण्डमादाय निष्ठुरं प्रहरिष्यति, समूलमुन्मूलयिष्यतीति साहाय्यमपश्यन्ती भीता कुरङ्गीव वराकी सरस्वती विस्फारितनेत्रा तूष्णीमेवान्तर्दधे दयानन्द-जनेः पूर्वमेव । अग्र शब्दो हि पूर्वार्थाभिधायी, "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" अग्रजन्मेत्यादि वैदिकप्रचुरप्रयोगदर्शनात् । अथाभ्युपगमवादेन भावत्कमभिप्रायं स्वीकृत्यापि सरस्वतीपदप्रयुक्तिं नोपपश्यामः समञ्जसाम् । विष्णुप्रणयिनी वाग्देवतेत्यभिमतिश्चेन्न कपोलकल्पितत्वाद् भवन्मते तस्याः । वाङ्मात्रवाच्यासेति चेत्तदपि न, ततोऽपि भवदभिमतसिद्धेरभावात् । ईशशरणेत्यादि विशेषणवैयर्थ्याच्च । 'प्रततसुगुणा' 'वेदमनने'ति ख्याति विशेषण द्वयमपि सर्वथासारप्रायमेवाभाति, तत्रातिशयविधानविरहात् । किं बहुना बाललालितमेवानयाकृत्याकृतमिति ।

मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः ।
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥४

कोई सहायक न दीख पड़ा तब भयभीत मृगी के समान बेचारी सरस्वती देवी दयानन्द जी के जन्म से पहले ही चुपचाप यहां से चल बसी । 'अग्र' शब्द पूर्व अर्थात् 'पहले' इस अर्थ का कथन करने वाला है, यह –"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" अर्थात् हे सौम्य ! यह जगत् सृष्टि से पहले ब्रह्म रूप था । इत्यादि अनेक वैदिक प्रयोगों में देखा जाता है । इस से यह आशय स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अग्र शब्द पूर्व समय का बोधक है, सम्मुख का नहीं और थोड़ी देर के लिए इस सिद्धान्त को मान लेने से आप का अभिप्राय स्वीकार करके भी हमें सरस्वती पद का प्रयोग उचित प्रतीत नहीं होता । क्यों कि इस सरस्वती को यदि विष्णु प्रिया वाग्देवी मानें तो भी ठीक इस लिए नहीं कि वह तो आप के मत में कपोलकल्पित है और यदि यह कहो कि हम तो वाणी अर्थात् मुख से जो वचन उच्चारण किया जाता है उसे सरस्वती मानते हैं तो इस से भी आप का मनोरथ सिद्ध नहीं होता । और उस के 'ईशशरणा' इत्यादि विशेषण भी व्यर्थ ही हैं । इसी प्रकार 'ख्याति' पद के 'प्रततसुगुणा' 'वेदमनना' ये दोनों विशेषण भी सर्वथा निस्सार ही प्रतीत होते हैं क्यों कि इन में किसी विशेष अर्थ का विधान नहीं बहुत क्या कहें ! इस करतूत से बाल लालन ही किया है ।

मनुष्येभ्यो हितायेति- हित शब्द जिस अर्थ को लेकर प्रवृत्त होता है

हितशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमजानतैवात्रभवता 'हिताये' तिनिबद्धमिति प्रतीमः। अन्यथा 'हितशब्देनैव केवलेनाभिप्रेतसिद्धेः। सत्यार्थमितिपदं निधाय 'सत्यमानत' इति न रमणीयरूपम्, निरर्थकत्वात्तस्य। तथा एव शब्दोपि मुधास्थितिक एवाभाति, अवधारणाद्यर्थस्य प्रयोजनाभावात्।

संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्व भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।
मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ् मया ॥५॥

अहो वैयात्यं मस्करिमहाशयस्यास्य, यद्व व्याकृतितन्त्रबोधगन्धशून्यधीरपि वेदभाष्य उत्तिष्ठते। भगवति देववाणि काममधुना ते दशा दयनीयास्ति संवृत्ता, यत्तावकीनं सुसंस्कृतं रूपं विविधदोषदूषितं कर्त्तुं समुद्युञ्जते दोषम्मन्यो धर्मध्वजिमूर्धन्याः केचन। अहो नु खलु भोः! धर्मतत्वं वत्वेश्यमानाः कृतसाधुवेषमाना वञ्चिता अद्य तपस्विनः। अयि पक्षपातपङ्कविरहितदृशो विद्वद्धिशोऽत्रभवन्तो भवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु इदं पद्यमिदं यत्र प्रथमम्बाशुद्धिलतिकया प्रहृतं व्याकरणालङ्काराहितसौन्दर्यपुषि गीर्वा-

---

इसके निमित्त को न जानते हुए ही आपने 'हिताय' यह चतुर्थ्यन्त पद रक्खा है। नहीं तो 'हितम्' ऐसा लिखते, क्योंकि केवल हित शब्द से ही आपका अभिप्राय सिद्ध हो जाता। 'सत्यार्थम्' यह पद रखकर, फिर 'सत्यमानतः' इस पदका प्रयोग मनोहर नहीं, क्योंकि वह निरर्थक है। इसी प्रकार 'एव' शब्दभी व्यर्थ ही जान पड़ता है, किसी निश्चय करने आदि अर्थ का प्रयोजन न होने से।

संस्कृतप्राकृताभ्यामिति०— आश्चर्य है और बड़े शोक की बात है। इन स्वामी जी महाराज की धृष्टता तो देखो कि जिनकी बुद्धि में व्याकरण शास्त्र के बोध की गन्ध भी नहीं और वेदभाष्य करने के लिये खड़े होगये। देवि! संस्कृत वाणि! निश्चय अब तेरी दशा दयायोग्य होगई, क्योंकि अब अपनेको पण्डित मानने वाले, पाखण्डियों में शिरोमणि कोई २ तेरे निर्मल स्वरूप को अनेक प्रकार के दोषों से दूषित करने के उद्योग में लग गये हैं। अहो! शोक है, कि धर्म के तत्वका हल्लागुल्ला मचाने वाले और साधु वेष बनाकर मान कराने वाले तपस्वी लोग अब ठगेगये। पक्षपात की दृष्टि से रहित विद्वज्जनो! आप लोग इस मनोहर पद्यको अवलोकन कर विचारें कि जिस में पहले ही अशुद्धि रूप छुरी से व्याकरण और अलङ्कारादि से स्थापित सौन्दर्य से सजे

स्त्रीवपुषि । संस्कृतशब्दात् स्त्रीद्योत्ये 'अजाद्यतष्टाप्' इति सूत्रेण टापिकृते 'संस्कृता' इति, प्रकृतेरागता इत्यर्थविवक्षायाऽचाणि कृते टिड्ढेत्यादिना ङीपि प्रत्यये पूर्वस्याचो वृद्धौ कृतायां 'प्राकृती' इति च रूपसिद्धिः । इतरेतरयोगद्वन्द्वे च कृते 'संस्कृताप्राकृतीभ्याम्' इत्येव रूपं साधु भवति। परं 'संस्कृतप्राकृताभ्याम्' इति वदतो दयानन्दस्योद्भटपाण्डित्ये नास्ति विदुषां सन्देहलवोपि । यतोहि सर्वथाऽपरतन्त्रप्रकृतयो योगिनो भवन्ति । किमिति व्याकृतितन्त्राधीनतामपि ते स्वीकुर्युः । किञ्च यद्विधं मन्त्रार्थवर्णनं भाष्ये तदपि सदसद्विचारवद्भिर्विद्वद्भिः समालोचनीयम् । अपिच मन्त्रार्थवर्णनं किं भाष्याद् भिन्नं ? तत्स्वरूपं वा ? भिन्नंचेत् तत्किमात्मकमिति वक्तव्यम् । अभिन्नं चेत् द्वाभ्यां शब्दाभ्यां कथनं व्यर्थमेव सर्वथापि । किञ्च वर्णनपदस्यापि व्याख्यापरत्वात् मन्त्राणां तत्र व्याख्या न क्रियते, उतार्थस्य-

घजे सरस्वती के शरीर पर कैसी चोट की गई है । संस्कृत शब्द से स्त्रीलिङ्ग वाचक अर्थ प्रकाशित करनेमें 'अजाद्यतष्टाप्' इस सूत्र से टाप् प्रत्यय करने पर 'संस्कृता' ऐसा रूप होता है और 'प्रकृति से आई हुई' इस अर्थ के कहने की इच्छा में 'अण्' प्रत्यय कर लेने पर 'टिड्ढे'त्यादि सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय और पहले अच् को वृद्धि करने से 'प्राकृती' यह रूप सिद्ध होता है । दोनों का 'इतरेतरयोगद्वन्द्व' समास करने पर 'संस्कृताप्राकृतीभ्याम्' यही शुद्ध रूप होता है । परन्तु 'संस्कृतप्राकृताभ्याम्' ऐसा रूप कहते हुए स्वामी दयानन्द जी के उच्च कोटि के पाण्डित्य में किसी विद्वान् को लेशमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि जब योगी लोग सब प्रकार स्वतन्त्र प्रकृति (स्वाधीन स्वभाव) के होते हैं तब वे व्याकरण शास्त्र की भी अधीनता क्यों स्वीकार करने लगे हैं बस, समयानुसार जैसा समझ में आया, लिख मारा चिन्ता भी क्या है ? और भाष्य में जिस ढंग से मन्त्रार्थ वर्णन किया गया है अच्छे बुरेका विचार रखने वाले विद्वानों को उसकी भी समालोचना करनी चाहिये । प्रथम उस में यही प्रष्टव्य है कि मन्त्रार्थवर्णन अर्थात् मन्त्रों के अर्थ की व्याख्या भाष्य से भिन्न है ? अथवा भाष्यस्वरूप ही है ? यदि भिन्न है तो कहिये कि उसका स्वरूप क्या है ? यदि भिन्न नहीं अर्थात् भाष्यस्वरूप ही है तो मन्त्र और अर्थ इन दो शब्दों से कथन करना सब प्रकार व्यर्थ ही हुआ । कृपा कर यह भी तो कहिये कि जब 'वर्णन' पदका

त्यपि संशयास्पदमेवेत्यलं बहुप्रपञ्चेन। यथा यथात्र विचारः क्रियते तथा तथा महर्षेरस्य प्रागल्भी संस्तवः प्रस्फुरन् बलादिव संन्यासिजनोचितात्मानाद् व्यपहस्तयति नः।

"पूर्वमेव मयाज्ञातं, पूर्णमेतद्धि मेदसः।
अनुप्रविश्य विज्ञातं, यावच्चर्म च दारु च॥"

इत्युक्तिः कस्यचित्कवेरत्र साधु संगच्छते।

अपिच:—

'आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा॥६॥

इत्यत्र प्रष्टव्योयं भिक्षुपारीन्द्रः— किमृषय आर्या न भवन्ति? अथ मुन्यृषिशब्दयोश्च कोऽस्ति पारमार्थिको भेदः, यतस्तत्पृथगुपादानं व्यधायि वेदभाष्यखुरलीकामेन भवता। किञ्च तत्र भवत्कृती केनाप्यनभिज्ञेनाप्रामाणिकता शङ्किता, यत् 'नान्यथे'ति सग्रीवपूर्णनं शपथपूर्वकं घोषं चोद्घोषितम्।

अर्थ व्याख्या करना है तो वहां मन्त्रों की व्याख्या की जाती है, अथवा अर्थ की? अर्थात् 'मन्त्रार्थवर्णन' इस पद में एक शब्द होना चाहिये था— 'अर्थ'। अथवा 'वर्णन'। एकार्थक होने से दोनों का एकत्र समावेश सर्वथा व्यर्थ है इत्यादि बहुत ही सन्देहास्पद बातें हैं। बस; इतना ही बहुत है, विद्वानों के लिये अधिक क्या लिखें। जैसे२ यहां पर विचार किया जाता है, वैसे२ ही इस महर्षि का उत्पन्न हुआ गहरा परिचय संन्यासिजनों के उचित आदर से बलात्कार हमें अलग हटाता है।

"पहिले मैंने जाना था कि यह मेदे (चर्बी) से पूर्ण है। जब भीतर घुस कर मालूम किया तो चमड़े और लकड़ी के सिवा और कुछ न पाया अर्थात् ढोल की पोल ही निकली"॥

किसी कवि का यह कथन यहां अच्छे प्रकार घटता है। और भी अवलोकन कीजिये :—

आर्याणामिति—यहां पर इन स्वामिशिरोमणि जी से यह प्रष्टव्य है कि ऋषि लोग क्या आर्य नहीं होते और मुनि तथा ऋषियों में वास्तविक भेद क्या है? जिस से कि ऋषि शब्द का पृथक् ग्रहण किया। और किसी अनभिज्ञ ने आपकी रचना में प्रामाणिक न होनेकी आशंका की होगी, जिस

सत्यं नास्ति जगतीतले तादृशः कोपि पुरुषो यस्तपस्विनां भवादृशां कृतिं काणेनापि निभालयेत् । यतः 'स्वयंसिद्धास्तपस्विनः' । किमनल्पजल्पनेनाप्रस्तुतविस्तारेण । भगवन् ! कुतो न विहितास्त्ववाटभुवि प्रतीपं रुचिर्भवता विपुलवपुषा । यतोऽनेके भवादृशास्तत्र कृतार्था भवन्ति धनादिलाभेन । अनेकजन्मार्जितपुण्यप्रभावसद्गुरुप्रसादाधीतिकारणकलापसाध्ये वैदुष्ये श्रद्धाभक्तिभूष्ये तु न कथमपि गतिर्भ्रान्तचेतसामटाट्यापरताजुषां भवादृशाम् ।

किञ्च :—

'येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः ।
दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥७
सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः ।
ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोयं सुसिध्यताम् ॥८॥'

इतीदमस्य चरमचेष्टितम् । 'आधुनिकभाष्यैष्टीकाभिश्च येन्यथार्थविवर्णना वेददूषका दोषाः सर्वे येन विनश्येयुः' । इति प्रथमश्लोकान्वयः । हा हन्त वेदार्थविद्त्वाभिमानिना श्रीस्वामिना पद्यमिदं संकलय्य विद्वि-

---

से ग्रीवा (नाड़) हिलाते हुए और सौगन्द के साथ आपको 'नत्वन्यथा' यह पद जोड़ कर ऊंचे स्वर से यह घोषणा (मनादी) करनी पड़ी । सत्य है, इस संसार में, भला, ऐसा कोई पुरुष है कि जो आप जैसे तपस्वियों के किये काम को कुदृष्टि से देख भी सके ? क्योंकि 'तपस्वी लोग स्वयं सिद्ध होते हैं' । विना प्रसङ्ग अधिक लिख कर विस्तार बढ़ाने से क्या ? बस, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भगवन् ! अच्छा मोटा–ताज़ा एवं डील डौल का शरीर रखते हुए आपने मल्लभूमि अर्थात् अखाड़े की ओर ही चित्त क्यों न लगाया ? क्योंकि उस काम में आप जैसे अनेक पुरुष धनादि के लाभ से कृतार्थ होजाते हैं । अनेक जन्मों में सञ्चय किये पुण्यों के प्रभाव और सद्गुरु की प्रसन्नता से प्राप्त की विद्या से जो मिल सकता है और श्रद्धा तथा भक्ति से जिसकी शोभा होती है, उस पाण्डित्य के मिलने का सौभाग्य आप जैसे भ्रान्तचित्त और इधर उधर घूमने वालों को कहां प्राप्त हो सकता है ।

येनाधुनिकेति—यह इनकी अन्तिम करतूत है । पाठकगण ! इस पहले श्लोक का अन्वय ऊपर मूलमें अवलोकन करें । हा शोक है कि वेदार्थज्ञानी

साहित्यादिविद्या विज्ञातपरोक्तिहृद्याः समाश्रितश्लिष्टपद्याः सहृदयहृदया अभिलषितवैदिकसमयाभ्युदयाः सूरयो नितरां कापि पदपदार्थव्यवस्थारक्षां प्रति चिन्ताकुलाः कृताः। हा गुणोपकृतालङ्कारालङ्कृता दोषगन्धराहित्यानवद्यरूपा कविता भगवती साम्प्रतं नितरामसाम्प्रतं रूपं लम्भिता तपस्विना तपस्विनी। अस्य श्लोकस्यान्वितार्थः किंविध इतिविज्ञैर्विचार्य्यम्। यदि दोषजनकतायामाधुनिकता हेतुरीप्सित तर्हि सदा तत्कृतं भाष्यं किंबलात्ततो विनिर्मुक्तं भवेत्। किंत्वपेक्षाकृताधुनिकतापि तस्य सद्यस्का एव, कुतो न तत्रातिशयेन वेददूषकत्वम्। किंच टीकास्तु स्वप्रामाणिकत्वे आधुनिकतानाधुनिकतानपेक्षा एवात्रभवता दोषोत्पादिकाः स्वीकृताः। परं तत्र नादायि कश्चिद्धेतुः। किंच दोषशब्देनैव दूषकत्वेस्फुरति व्यर्थमेव 'दूषका' इति पदम्। अपिच यच्छब्देन कमप्यर्थमभिलप्य पूर्वं पुनस्तदर्थप्रतिपादनाय तच्छब्दप्रयोग एव साधुर्भवति। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धस्याभिधानिकैः स्वी-

होने का अभिमान रखने वाले स्वामी दयानन्द जी ने इस पद्य को रच कर, साहित्य शास्त्र के ज्ञानी, उत्तमोत्तम कविताओं का भाव जानने वाले, अच्छे एवं व्यवहारमें आने वाले मनोहर पद्योंको आश्रय देने वाले, दयार्द्रहृदय और वैदिक सिद्धान्तों की उन्नति चाहने वाले विद्वान् लोग पद पदार्थों की ठीकर रखने की रक्षा में व्याकुल कर दिये। हा! शोक है कि इस तपस्वी ने गुण तथा उपकाररूपी अलङ्कारों (आभूषणों) से विभूषित, दोषों की गन्ध से भी रहित, अतएव निर्मल स्वरूपा तपस्विनी कविता देवी को इस समय अत्यन्त अनुचित रूप में पहुंचा दिया है। इस श्लोक का अन्वित अर्थ क्या है और किस प्रकार का है, यह विद्वज्जन स्वयं विचार लेंगे। वर्त्तमान काल में प्रचलित भाष्य क्योंकि नवीन बने हुए हैं, इस लिये दोषों से भरे हुऐ हैं यदि दोषोत्पादन में यही हेतु स्वामी जी को रुचता है तो उनका वर्तमान काल में नवीन बना हुआ भाष्य इस दोष से किस प्रकार दूर होसकता है? यदि अपेक्षा से आधुनिकता मानो तो भी अन्य वेदभाष्यों की अपेक्षा जब कि स्वामी जी का बनाया भाष्य नवीन होने के कारण आधुनिक है तब उस में और भी अधिक वेदों को दूषित करने का दोष क्यों नहीं? और आप ने टीकायें तो अपने प्रामाणिक होने के विषय में प्राचीनता तथा नवीनता की अपेक्षा न रखती हुई स्वीकार की हैं, परन्तु आपने इस में कोई हेतु नहीं

कृतत्वात् । तथाच 'येदोषाः' इति पूर्वमभिधाय तदितिसर्वनाम्ना पुनस्तदर्थमनुक्त्वा 'सर्वे' इत्येतावन्मात्रपदप्रयोगोऽसाधुरेव । किंच येनेतिसाकांक्षमेव पदं कथंकारं प्रत्यपादि प्रकृतेन भाष्येणास्य संबन्ध इति चेत् तस्य सफलतायां हेतुर्वाच्यः । आधुनिकभाष्यादिजनितदोषा नश्येयुरिति कथं नायुक्तम् ? अधुनापि तद्विरहाभावप्रसिद्धेरिति ।

द्वितीयपद्येपि वेदानां यःसत्यार्थः स प्रकाश्येत इत्युक्त्वा तस्य सनातन इति विशेषणं निःसारमेव, सत्येनैव तदर्थसिद्धेः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नः सुसिध्यताम्' इत्यत्र सहायपदं न रमणीयं सहायतार्थबोधशक्तिविरहात्तस्य-यथाश्रुतार्थविधाने भवत्प्रतिपादिततात्पर्यविलोप एवस्यात् सहाय शब्दो

दिया और जब कि दोष शब्द से ही दूषित होने का अर्थ सिद्ध हो जाता है, तब, दूषक, यह पद सर्वथा व्यर्थ है और पहले 'यत्' इस शब्द से किसी अर्थ को कथन करके, फिर उसके अर्थ को प्रतिपादन करने के लिए 'तत्' शब्दका ही प्रयोग करना चाहिए था क्यों कि शास्त्रकारों का यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि, यत्, और तत्, शब्द का सम्बन्ध नित्य होता है और भी ध्यान दीजिए, 'येदोषाः' पहले यह कहकर फिर 'तत्' इस सर्वनामसे उसके अर्थ को कथन न करके केवल 'सर्वे' इतना कह देने मात्र ही अथवा यु कहिये कि केवल सर्व, शब्द का प्रयाग ही उचित नहीं है और यह भी तो बतलाइये कि आपने 'येन' इस साकांक्ष पद का प्रयोग क्यों किया इस भाष्य से उसका सम्बन्ध है यदि यह कहो तो उसकी सफलता में हेतु कहना चाहिये। वर्तमान कालमें बने भाष्यों से उत्पन्न हुए दोष नष्ट होजावें, आप का यह कहना अनुचित क्यों नहीं? जब कि अब भी अर्थात् आप का भाष्य बन जाने पर भी आपके मन माने वे दोष ज्यों के त्यों विद्यमान हैं ।

दूसरे श्लोक में भी– वेदानां यः सत्यार्थः स प्रकाश्येत, यह कह कर फिर उस (सत्यार्थ) का सनातन, यह विशेषण निष्प्रयोजन है क्यों कि सत्यशब्द से ही सनातन शब्द का अर्थ भी सिद्ध होजाता है, ईश्वरस्य सहायेन०— यहां पर सहाय पद का प्रयोग मनोहर न हो यही नहीं किन्तु अत्यन्त अनुचित है क्यों कि सहायता अर्थ के जतलाने मे यहां उसकी शक्ति नहीं और जैसा सुना जाता है उस अर्थ के करने में आप का प्रतिपादन किया हुवा आशय ही नष्ट हो जाता है क्यों कि 'सहाय' शब्द 'सेवक' के अर्थ में

हि अनुचरे प्रसिद्धः, 'अनुप्लवः सहायश्चानुचरोभिचरः समा' इत्यमरप्रामाण्या च्च । "संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः" इत्यादि कविप्रयोगेष्वपि नोवदत्तमवधानं भिक्षुकपुङ्गवेनेति प्रतीयते । एवमास्तिकानांनोनयेनेश्वरो-नुचरो भवितुमर्हति दयानन्दस्य । नापीश्वरस्यान्यः कश्चित्तादृशोनुचरः साधयितुं यः शक्नुयादेतस्यप्रयत्नम् तस्माद्यत्किञ्चिदेतत्सर्वमिति । अनुपपत्ति-निमित्तया स्वारसिकलक्षणयास्य साधुतेति चेन्न, निरूढाप्रयोजनवत्योरेव शिष्टैः स्वीकारात् । तथाच 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्' इत्या-दिसाहित्यबुधबोधितकाव्यनिर्माणहेतुमनधिगम्यैव सहसानेन कवनपाटवं मतिरुच्चिनिबद्धा, यत्पदेपदे प्रस्खलन् विज्ञजनपरिषदुपहस्यतेतमाम् । किंच 'प्रयत्नः सुसिध्यताम्' इत्यत्रापि बहुस्खलितं मस्करिमहाभागेन । सिध्यते रात्मनेपदित्वं भ्रान्त्यास्वीकृत्याशुद्धं रूपमुदलेखि, लोटि प्रथमपुरुषैकवचने तस्य 'सिध्यतु' इत्येव रूपं सिध्यति । प्रयत्नसिद्ध्याशंसापि नाभिप्रेतसाधन-

---

प्रसिद्ध है प्रमाण अमर कोश का देखिए- अनुप्लव, सहाय, अनुचर और सेवक, ये शब्द समानार्थ और सेवकार्थ वाचक हैं इसी अर्थ की पुष्टि में और भी प्रमाण देखिए- सम्पत्स्यन्त इति आकाश में राजहंस आप के सहायक होंगे इत्यादि कवियों के प्रयोगों में भी मालूम होता है कि स्वामी जी महाराज ने ध्यान ही नहीं दिया एक और बात यह भी तो है कि हम आस्तिकों के मत वा न्याय में ईश्वर स्वामी दयानन्द के सेवक कदापि नहीं हो सकते और स्वामीजी के अतिरिक्त ईश्वरका और कोई ऐसा सेवक भी न होगा कि जो ईश्वर को सेवक बनाने के प्रयत्न में सफलता सिद्ध कर सके इस लिए यह जो कुछ कहा है, सब निस्सार ही है ।

इत्यादि साहित्य शास्त्र का ज्ञान रखने वाले विद्वानों के बतलाये हुए काव्य रचना के हेतु को विना जाने ही एक दम स्वामी जी महाराज की कविता करने की ओर रुचि होगई जिससे कि पद२ पर गिरते हुए विद्वज्जनों की सभा में हंसी कराते हैं । पाठकगण ! 'प्रयत्नः सुसिध्यताम्' यहां पर तो स्वामी जी ने बहुत बुरी तरह पटकी खाई है । वह यह कि 'सिध्' धातुको भ्रान्ति से आत्मनेपदी जान कर 'सिध्यताम्' यह अशुद्ध रूप लिख मारा । लोट् लकार प्रथमपुरुष के एक वचन में 'सिध्यतु' ऐसा रूप बनता है । प्रयत्न सिद्धि की प्रार्थना भी अपने अभिलषित वस्तु की पूर्त्ति का साधन नहीं हो

क्षमा, तत्प्रयत्नसाफल्यमेवाशंसाविषयः साधीयान् । साहाय्यापेक्षया चानुग्रह-पदप्रयोगश्चारुभाति । अतएव "ईश्वरानुग्रहेणायं प्रयत्नः सफलो भवेत्" इति पाठः साधुर्भवेत् ।

--»»»※«««--

अथ 'ईश्वरप्रार्थनाविषयः' इति शीर्षकमुल्लिख्य कैश्चित् सभाष्यैर्मन्त्रै र्भगवन्तं परमेश्वरं स्वाभिलषितसिद्ध्यर्थं प्रार्थितवान् श्रीमान् भूमिकाकृत्-स्वामी दयानन्दः । तत्रापि किंचिदभिधीयते विद्वज्जनमानसकौतुकसम्पा-दनाय । 'अथेश्वरप्रार्थना' इत्येव लिखितुमुचितं, तद्विषयविशदीकरणप्रवृत्ते-रभावात् । किंच 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव' इति वेदमन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यदुक्तं 'सत्यविद्याप्राप्त्याभ्युदयनिःश्रेयस-सुखकरं भद्रमस्ति' इति, सर्वंतद् भ्रान्तिविलसितमेव, सत्यविद्याप्राप्तेः साक्षाद् भद्रे विनियोगात् । सुखशब्दस्य सर्वथा निरर्थकत्वाच्च । यच्चोक्तं वेदभाष्य-

सकती, इस लिए अपना प्रयत्न सफल होने की आशा वा प्रार्थना ही उत्तम है । 'साहाय्य' पद की अपेक्षा 'अनुग्रह' पदका प्रयोग अच्छा मालूम होता है । इस लिए 'ईश्वरानुग्रहेणायं प्रयत्नः सफलो भवेत्' यह पाठ यदि होता तो अच्छा था ॥

—»»»०«««—

अथ 'ईश्वरप्रार्थनाविषयः' यह शीर्षक (हेडिंग) लिख कर, कतिपय (कुछएक) भाष्य सहित मन्त्रों से भूमिका के बनाने वाले स्वामी दयानन्द जी ने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए परमात्मा की प्रार्थना की है, उस में भी विद्वान् लोगों के मनोरञ्जन के लिए कुछ कहते हैं । 'अथेश्वरप्रार्थना' बस, इतना ही लिखना उचित था। उसका विषय साफ २ खोल कर लिखने की आवश्यकता न होने से । और- 'विश्वानि देव०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते समय 'सत्य विद्या०' यहां से लेकर- 'भद्रमस्ति' यहां तक जो कुछ कहा है, वह सब भ्रान्ति अथवा यों कहिए कि अज्ञान से ही किया हुआ । सत्यविद्या की प्राप्ति का आपने भद्र में विनियोग किया है । सुख शब्द तो वहां पर बिल्कुल ही निरर्थक है । और 'वेदभाष्यकरणानुष्ठाने०'

करणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव (परासुव) इति, तत्र, वेदभाष्यकरणानुष्ठाने, इति पदं न चारु भाति, करणानुष्ठानशब्दयोरेकार्थ-वाचकत्वात् । दुष्टेति विशेषणमपि विघ्नानां तदानीमेव सार्थकतां भजेत, इष्टा अपि विघ्ना यदा स्युः । यच्च, शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति, इत्युक्तं, तदस्पष्टार्थकत्वादतिसंशयास्पदम् । शरीरसुस्थताबुद्धिकौशलादिप्रार्थनैव शोभना, सहायादिविन्यासस्तु नितरामसंगतो निरर्थकादिदोषजुष्टत्वात् । निराकारभगवत्कृपाकटाक्षोपि भवन्मुखारविन्दान्निःसृतो न चारुतां बिभर्ति, निराकारमूर्तिं प्रति दृढवैरत्वाद्भवतः । किञ्च 'अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयात्यन्ताप्रीतिर्यथास्यात्तथैव भवता कार्यमि'त्यत्रापि परमश्रद्धया या प्रीतिः समुत्पत्स्यते किं तस्यामपि न्यूनता शङ्क्या ? यत्प्रीते रत्यन्तेति विशेषणमदायि । आढमिति चेन्न, प्रतीतिविरोधात् । किंच परमेश्वरं प्रति

इत्यादि जो आपने कहा है वहां पर 'वेदभाष्यकरणानुष्ठाने' यह पद अच्छा नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'करण' और 'अनुष्ठान, इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है । 'दुष्ट' यह विशेषण भी जो कि विघ्नों का है तब ही चरितार्थ होसकता है, जब कि विघ्न इष्ट भी हों । और आपने 'शरीरबुद्धि०' इत्यादि जो कहा है वह सब स्पष्ट अर्थ न होने के कारण सन्देहग्रस्त है । शरीर की नीरोगता और बुद्धि की चतुरता आदि की प्रार्थना ही उत्तम है । वहां पर सहाय आदि पदों का ग्रहण निरर्थक आदि दोषों से पूर्ण होने के कारण सर्वथा संगति रहित है । निराकार भगवान् की कृपा का कटाक्ष भी आप के मुख कमल से निकला हुवा शोभा नहीं देता क्यों कि निराकार की मूर्ति से तो आपका बड़ा प्रबल विरोध है । और— 'आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेद भाष्य में श्रद्धा सहित अत्यन्त उत्साह हो०' इत्यादि जो आपने कहा है, उसमें भी यह प्रष्टव्य है कि बड़ी श्रद्धा से जो प्रीति उत्पन्न होने वाली है क्या उसमें भी आप को न्यूनता (कमी) की आशङ्का दीख पड़ी ? जो कि प्रीति का 'अत्यन्त' यह विशेषण दिया । यदि कहो कि हां आशङ्का थी, तो यह कथन ठीक नहीं, क्यों कि ऐसा मानने से विश्वास के साथ विरोध आता है । और परमेश्वर के विषय में 'कार्यम्' अर्थात् यह कीजिए यह पद प्रयोग अनुचित है क्योंकि

'काव्य' मिति पदप्रयोगो न युक्तः, आज्ञार्थस्य ततो भावात्। प्रार्थनायां च लोट एव प्रयोगः सधीयान्।

" यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः" ॥

इति मन्त्रभाष्ये 'यो भूतभविष्यद्वर्त्तमानान् कालान् (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोस्तीति यद् भाषितं तन्न संगतमाभाति, मन्त्रगतपदबोध्यार्थबाधाविरहात्। तथा च 'यः भूतं भव्यं वर्त्तमानं चकाराद् भविष्यच्च सर्वं पदार्थजातमधितिष्ठति, इत्येषप्रसादगुणलभ्योर्थः साधीयान् भाति। 'यो भूतभविष्यद्वर्त्तमानान् कालान् सर्वं जगच्चाधितिष्ठति सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोस्ति, इति दयानन्दभाषणेन यद्विन्यस्तं तद्विज्ञैर्विचार्यम्। किं कालनिष्कालनमेव कृतमन्यपदार्थततेः केनापि शक्तिमता ?, उत त्यक्तं सर्वशब्देन स्वसामर्थ्यं कालसंग्रहे ?, किंवा केवलकालाधिष्ठातृत्वमेव

इसमें परमात्मा के लिए आज्ञा देना रूप अर्थ पाया जाता है। परमात्मा से प्रार्थना करना ही उचित है और उस में लोट् लकार का ही प्रयोग श्रेष्ठ होता है।

'यो भूतं 'ति-इस मन्त्र के भाष्य में-'(यो भूतं च०) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत होगया है (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्त्तमान है (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होने वाला है इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है०' इत्यादि जो कुछ आपने कहा है वह सब असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि मन्त्रस्थ पदों में कोई ऐसा क्लिष्ट पद नहीं कि जिसका अर्थ जानने में किसी प्रकार की बाधा हो। मन्त्रगत जितने पद हैं वे सब स्पष्टार्थ हैं, तब उनका सीधा २ अर्थ न कर, इस प्रकार जोड़ मिलाना किस लिए ? जो परमात्मा उन सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है कि जो पहले हो चुके, अब वर्त्तमान हैं और आगे जो होंगे। बस, यही चित्त में समाने वाला सरल अर्थ उत्तम प्रतीत होता है। और स्वामी दयानन्द जी ने-'यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान्०' इत्यादि जो कुछ कथन किया है, उसे विद्वज्जन विचार लें। क्या किसी शक्तिशाली विद्वान् ने सब पदार्थसमूहों से काल अर्थ का निष्कालन किया है ? अथवा

मुख्यं भगवतः ? यन्महतायासेन भस्करिमहतेन भूतं भव्यमित्यादि सामान्ये नपुंसकप्रयुक्तेः सर्वशब्दप्रयोगबलाच्च लभ्यं कृत्स्नं वस्तुजातं विहाय कालाकलनमेव मूर्धन्यमाधायि । महात्मन् ! कालस्त्वनुच्यमानोऽपि सर्वपदार्थनिमित्ततया स्वयमेव न हीयतेऽतस्तत्पृथगुपादानं न रमणीयम् । यथा दिग्विशेषापेक्षया यः परस्तस्मिन्नपर इति प्रत्ययः, यश्चापरस्तस्मिन् पर इति प्रत्ययः परापरयोर्व्यतिकरयोर्व्यत्ययः, तथा युगपत्प्रत्ययोऽयुगपत्प्रत्ययश्च क्षिप्रप्रत्ययश्चिरप्रत्ययश्च काललिङ्गम् । ननु कालस्याप्रत्यक्षत्वात् तेन सह परापरादिप्रत्ययानां व्याप्तिग्रहणाभावात्कुतो लिङ्गत्वसिद्धिरिति चेन्न युगपदादिप्रत्ययानां विषये द्रव्यादिषु पूर्वप्रत्ययविलक्षणानां द्रव्यादिप्रत्ययविल-

---

सर्व शब्द से काल के संग्रह में ही अपना सब सामर्थ्य खो दिया ? और क्या केवल काल का अधिष्ठाता (स्वामी) होना ही परमात्मा का मुख्य हेतु है ? जोकि स्वामी जी महाराज ने बड़े परिश्रम से भूत-भव्य इत्यादि सामान्य नपुंसकलिंग के प्रयोगों और सर्व शब्द के बल से ग्रहण हो सकने योग्य सब वस्तुओं को छोड़ कर, केवल काल अर्थ का प्रतिपादन करना ही मुख्य समझा । महात्मन् ! काल तो कथन न किया जाता हुआ भी सब पदार्थों का निमित्त होने के कारण स्वतः ही दूर नहीं हो सकता, इस लिए उसका पृथक् ग्रहण करना ठीक नहीं । जैसे किसी दिशा विशेष की अपेक्षा से जो पर अर्थात् परला=अगला है उसी में अपर अर्थात् पहला यह ज्ञान उत्पन्न होता है और जो अपर है उसमें परका ज्ञान होता है । इस प्रकार परस्पर मिले हुए जैसे पर और अपर का ही यह अदल बदल है वैसे ही एक ही समय में होने वाला, भिन्न २ समय में होने वाला, शीघ्रता से होने वाला और देरी से होने वाला; इस प्रकार का जो यह ज्ञान है, बस, यही काल का लिङ्ग अर्थात् चिन्ह है। यदि कोई इस में यह आशङ्का करे कि काल प्रत्यक्ष नहीं इस लिये उसके साथ पर तथा अपर आदि ज्ञानका व्याप्ति ग्रहण न होने से उन को लिङ्गत्व अर्थात् चिन्ह किस प्रकार मालूम किया जा सकता है कि यह काल है ? ऐसा नहीं कहना वा मानना चाहिये क्योंकि एक समय, भिन्न २ समय, शीघ्रता तथा बिलम्ब, इस प्रकार के ज्ञान अथवा निश्चय के विषय जो द्रव्यादि हैं उन में पूर्वापर के ज्ञान से विलक्षण द्रव्यादि के ज्ञान की उत्पत्ति में एक दूसरे का निमित्त नहीं हो सकता अर्थात्

क्षणानामुत्पत्तावन्यतरस्य निमित्तत्वाभावात् । अत्रायमभिसन्धिः— द्रव्यादिविषयेषु ये पूर्वापरप्रत्यया जायन्ते नच तेषां द्रव्यप्रभृतयो निमित्तं, तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात् । नच निमित्तमन्तरेण कार्यस्योत्पादस्तस्माद्यत्तत्र निमित्तं स काल इति तर्करसिकैस्तत्र तत्र सविस्तरं प्रतिपादितत्वात् ।

एवं 'यस्य भूमिः प्रमा' इत्यादि मन्त्रभाष्ये 'यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ती'ति यदुक्तं तदत्यन्तं स्थवीयः । केनाप्याचार्येण सकलशास्त्रपरिशीलनविशुद्धशेमुषीकेण परावरज्ञेन श्रुतितत्त्वावगाहिना मुनिना वा केनापि गगनस्य सहस्ररश्मिरश्मिप्रकाशमयत्वप्रतिपादनाभावात् । अत्रहि मयट् विकारार्थे वा स्यात् ? प्राचुर्यार्थे वा ? नाद्यः, अनुत्पादविनाशशालित्वेनाविकारित्वाद् गगनस्य । नित्यत्वाभावाङ्गीकर्तृ नयेपि नाकाशं सूर्यरश्मिप्रकाशविकारभूतं किञ्चिद्वस्तु । सांख्यानां पातञ्जलानां च गगनोत्पादप्रक्रियायां

पूर्वापर के ज्ञान या निश्चय में जैसे द्रव्यादि हेतु नहीं वैसे ही द्रव्यादि के ज्ञान या निश्चय में पूर्वापर को जानना चाहिए । इसका स्पष्टरूप से समाधान यह है कि— द्रव्य आदि के विषय में जो पहले और पिछले का ज्ञान होता है उसके द्रव्य आदि निमित्तकारण नहीं क्योंकि उनका ज्ञान विलक्षण है । और विना निमित्त के कार्य की उत्पत्तिभी नहीं होसकती, इस लिए इस में जो भी निमित्त है वही काल है यह न्यायशास्त्र के विद्वानों ने वहां२ विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है ॥

इसी प्रकार, 'यस्यभूमिःप्रमा' इत्यादि मन्त्रके भाष्य में 'जिस परमात्मा ने सबसे ऊपर विराजमान सूर्य की किरणोंसे प्रकाशमय आकाश को शिर के स्थानापन्न किया है' यह जो कहा है वह सब अत्यन्त स्थूल है । क्यों कि सब शास्त्रों का विचार करने से निर्मल बुद्धि वाले स्थूल और सूक्ष्म के ज्ञानी और वेद तत्व को जानने वाले किसी भी आचार्य या मुनि ने आकाश को सूर्य की किरणों के प्रकाश मूल होने का वर्णन नहीं किया । यह तो बतलाइये कि 'प्रकाशमय' यहां पर मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में है अथवा आधिक्य अर्थ में यदि कहो कि विकार अर्थ में है तो यह कहना इस लिए उचित नहीं कि आकाश उत्पत्ति और विनाश इन दोनों धर्मों से रहित है इसलिए उस में विकार होना रूप धर्म घट ही नहीं सकता । और

शब्दतन्मात्रा एव कारणं नभसः । नहि शब्दतन्मात्राऽभिन्ना सूर्यरश्मि प्रकाशात्, सूर्यस्यैव तेजसो रूपतन्मात्रात्तस्तावदनुत्पत्तेः । नान्त्यः नभस्पृष्ठादीधितिदीधितप्रकाशप्राचुर्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । इदमत्राकूतकम्· यथा अन्नमयो यज्ञः इत्युक्ते मयटः प्राचुर्यार्थकत्वादन्नान्नप्रचुरोयज्ञ इत्यर्थो गम्यते, तथैवप्रकाशमयमाकाशमित्यत्रापि प्रकाशप्रचुरमाकाशमित्येवार्थः सम्भवति । यज्ञे प्राचुर्यमन्नस्यान्यापेक्षयाधिक्येन तदुपयोगित्वम् । एवमाकाशे प्रकाशप्राचुर्यं किंविधमिति वाच्यम् । नचोपयोगित्वमात्रंप्राचुर्यं सम्भवति, उपयोगितायाः साधकत्वपर्यवसाने सत्येव साध्येतत्सम्भवात् । साध्यता च गगने प्रत्यक्षविषयतावास्यात्, ज्ञानमात्र-विषयता वा, उत्पाद्यता वा ? नाद्यः अतीन्द्रियत्वादाकाशस्य। अतीन्द्रियत्वं

आकाश को नित्य न मानने वालों के मतमें भी सूर्य की किरणोंके प्रकाश का विकार भूत आकाश कोई वस्तु है ही नहीं सांख्य और पतञ्जलि मुनि के मतानुयायियों की नीति में भी आकाश के उत्पन्न होने के प्रकरण में शब्द-तन्मात्रा ही आकाश का कारण बतलाई हैं। और शब्दतन्मात्रा सूर्य्य की किरणों के प्रकाश से भिन्न हैं इस लिए सूर्य्य ही के तेज रूप तन्मात्रा से उस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि प्राचुर्य्य अर्थात् आधिक्य अर्थ में मयट् प्रत्यय का विधान करो तो भी ठीक नहीं— क्यों कि आकाश में सूर्य्य से धारण किये हुए प्रकाश की अधिकता का निर्वचन ही नहीं किया जासकता। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे 'अन्नमयो यज्ञः' ऐसा कहने में यहां पर अधिक होने अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय है इस लिए 'अधिक अन्न वाला यज्ञ' यह अर्थ होता है। वैसे ही 'प्रकाशमयमाकाशम्' इस शब्द का भी 'अधिक प्रकाश वाला आकाश' यही अर्थ हो सकता है। यज्ञ में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अन्न का अधिक होना अत्यन्त आवश्यक है, पर आकाश में प्रकाश की अधिकता किस प्रकार की और क्यों यह बतलाना चाहिये। और उपयोगितामात्र अर्थात् आवश्यकता का होना ही आधिक्य नहीं हुआ करता उपयोगिता के साधकत्व हेतु का अभाव होने पर ही उसका साध्य में होना माना जाता है और यह तो कहिये कि जो आपने आकाश को प्रकाशमय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है उसका हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है या केवल ज्ञान अथवा उत्पाद्य का ? प्रत्यक्ष का विषय तो इस लिए नहीं हो

च इन्द्रियजन्यज्ञानाविषयत्वमेव । मनसस्त्विन्द्रियत्वं नास्त्येव सत्य-पीन्द्रियत्वे नेन्द्रियत्वेन रूपेण नाभसज्ञाने तदुपस्थितिः । अपितु करणत्व-विधया च । अन्यथा सर्वानुमानादिविलोपः प्रसज्येत । न द्वितीयः– तादृश-साध्यताङ्गीकारे तु खपुष्पायितमेवाकाशविशेषणं स्यात् सर्वस्यापि पदार्थस्य ज्ञानविषयत्वात् । ज्ञानमात्रे प्रकाशस्य हेतुत्वासम्भवाच्च । चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रत्येवालोकसंयोगः कारणमित्याभियानिकैरुक्तत्वात् । नान्त्यः– उक्तोत्तर-त्वात् । तथाच प्राचुर्यार्थे मयड्विदधता प्रचुरं पाण्डित्यं प्रकटितं प्रविरल-मतिना यतिना दयानन्देनेत्यलं पल्लवितेन ।

"य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम"। यजु० अ० २५ मन्त्र १३ इति मन्त्रभाष्यसार-

सकता कि आकाश इन्द्रियों की पहुंच से दूर है। जो वस्तु इन्द्रियों की पहुंच से दूर होती है वह इन्द्रियों के ज्ञान का विषय नहीं हुआ करती। यदि कहो कि इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय न सही मन का विषय तो हो सकता है सो यह कथन भी नहीं बनता क्योंकि मनको इन्द्रिय माना ही नहीं। और थोड़ी देर के लिए मनको इन्द्रिय मान लेने पर भी इन्द्रियत्व रूप से आकाश के ज्ञान में उसकी उपस्थिति नहीं होसकती। हां, साधनरूप से उसकी प्रवृत्ति हो सकती है। ऐसा न मानने से तो फिर सब अनुमानादि प्रमाण के लोप का प्रसंग आजाना संभव है। और दूसरा पक्ष अर्थात् ज्ञान मात्र विषय भी पर्याप्त हेतु नहीं है। उस प्रकार की साध्यता स्वीकार कर लेने में तो आकाश का विशेषण ही आकाश के पुष्प के समान व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि सब पदार्थ ज्ञान के विषय हैं। केवल ज्ञान में प्रकाश के हेतु का होना असम्भव है। जो पदार्थ नेत्रज्ञान के प्रत्यक्ष होता है उसी में प्रकाशका संयोग कारण होता है। यह न्यायशास्त्र के विद्वानों ने अच्छे प्रकार प्रतिपादन किया है। अन्तिम उत्पाद्यत्व हेतु भी ठीक नहीं। उसका भी यही उत्तर होने से। अब इस विषय में अधिक क्या लिखें, बस यही समझ लीजिए कि स्वामी दयानन्द जी ने प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय विधान करके अपना बहुत ही पाण्डित्य प्रकट किया है।

"य आत्मदेति- इस मन्त्र का भाष्य रचते हुए प्रशंसनीय स्वामी जी ने जो निरङ्कुशता प्रकट की है उसके बदले में और क्या बस इनको अनेक धन्य-

चयत्रभवता मस्करिणा याऽर्थे निरङ्कुशता प्रकटिता तन्निमित्तमनेकशो धन्यवादाः प्रदेया अस्मै प्रदानोचिताय भिक्षवे। "य आत्मदा विद्या विज्ञानप्रदः" इत्यत्र आत्मशब्दस्य विद्याविज्ञानवाचित्वं कुतोऽधिगतं भवतेति प्रष्टव्योऽयं महात्मा: किंच '(बलदा) यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः' इति यदुदलेखि लेखचञ्चुनामुना तत्रापि किञ्चिदवधानं दीयताम्। पुष्टिशब्देनैव यथाभिप्रेतसिद्धौ दृढत्वोपन्यासः किंप्रयोजनः? देव शब्दस्य विद्वदर्थवाचित्वमपि कौशिकप्रवरेणातेनैव क्वचित्कोशे विलोकितं भविष्यति। ननु 'विद्वांसोहि देवाः' इति शतपथप्रमाणतोऽस्यात्र प्रयोगः साधुरिति चेन्न, तत्र देवानां विद्वत्त्वस्य साधितत्वात्। नानेन साधुना पूर्वापरविचारपुरःसरं शतपथस्य तत्प्रकरणं दृष्टं, यतो भ्रान्तिमासाद्य देवा विद्वांसो हि भवन्तीत्यर्थमजानानो विद्वांसो हि देवा इति विसंज्ञातवान्। किंच मृत्यु शब्दस्य 'जन्ममरणकारकः' इत्यर्थस्तु पूर्वं तत्रभवत एव शेमुष्या-

---

वाद ही देने चाहियें "यआत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः" यहां पर इन महात्मा जी से यह तो पूछना चाहिए कि आपने आत्म शब्द का विद्या विज्ञान वाचित्व अर्थ कहां से प्राप्त किया? स्वामी जी लिखने में तो बस अद्वितीय हैं इस लिए आपने "(बलदाः) इसका भाष्य करते हुए 'यः शरीरेन्द्रिय' इत्यादि जो लिखा है उसे पाठकगण ध्यान से देखें कि जब 'पुष्टि' शब्द से ही अभिप्राय सिद्ध हो जाता है तब न मालूम वहां स्वामी जी ने 'दृढ' शब्द किस प्रयोजन से रक्खा? और 'देव' शब्द 'विद्वान्' अर्थ का वाचक है यह भी महाराज ने ही किसी कोश में देखा होगा यदि आप यह कहें कि 'विद्वांसो हि देवाः" इस शतपथ के प्रमाण से यहां पर इस को प्रयोग शुद्ध है तो यह कथन युक्ति युक्त नहीं क्यों कि वहां पर इस वचन से देवताओं का विद्वान् होना सिद्ध किया गया है यह नहीं कि विद्वानों अर्थात् पंडितों को देवता कहते हैं वहां पर विद्वान् देव शब्द का विशेषण है पर स्वा० दयानन्द जी ने इस के प्रतिकूल देव पद को विद्वान् शब्द का विशेषण बना अर्थ को अनर्थ कर डाला। मालूम होता है कि इन्हों ने पूर्वापर का विचार न रख कर शतपथ का वह प्रकरण ही नहीं देखा, जिस से कि भ्रम में पड़ कर 'देवता विद्वान् होते हैं' इस अर्थ को न जान 'विद्वान् ही देवता होते हैं' यह विरुद्ध अर्थ समझ बैठे। और मृत्यु शब्द के जन्म, मरण कारक

सुपक्रान्तः। किंचास्यैव मन्त्रस्य वेदभाष्यानर्सो अन्य एवार्थोऽभिहितोऽत्रत्वन्य एव। तथाहि वेदभाष्ये (आत्मदाः) य आत्मानं ददाति (बलदाः) यो बलं ददाति सः" इत्याद्युव्वटमहीधरादिकृतं युक्तमर्थं शब्दतोऽर्थतश्च यथाकथञ्चिदुद्धृत्य भाष्यभूमिकायां "(आत्मदा) विद्याविज्ञानप्रदः (बलदा) शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः" इत्येव पुनर्जगाद सँस्कार विधौ च पुनः (आत्मदा) आत्मज्ञानप्रदः (बलदा) शरीरात्मसमाज-बलप्रदः' इत्युदाजहार। इत्थं स्थलत्रये त्रिविधमर्थं मुक्तवता दयानन्देन वेदभाष्यानुष्ठानेऽतीव वैदुष्यं विशदीकृतम्। सप्तममन्त्रभाष्ये-प्यर्थस्य पुस्तकमुद्रणादिव्यवहारसाधनत्वात् समञ्जसैव तत्कामना, परं मुक्तिसुखकामनाभाष्ये कामुपयोगितां दधातीति न विद्मः' । प्राप्ति-वाञ्छापि नोचिता संन्यासिनः । शिवसंकल्पशब्दस्य कल्याणप्रियं सत्यार्थ-प्रकाशं चेति न सम्मतोऽर्थः शक्तिग्रहविदां विदुषामिति ।

इस अर्थ ने बस पहले पहल आप ही की बुद्धि में आने का सौभाग्य प्राप्त किया है। स्वामी जी ने इसी मन्त्र का वेदभाष्य करते समय कुछ और ही अर्थ किया है और यहां पर कुछ और ही। जैसे कि वेदभाष्य में — "(आत्मदाः) य आत्मानं ददाति (बलदाः) यो बलंददातिसः" इत्यादि उव्वट और महीधर आदि के किये युक्ति युक्त अर्थ को शब्द और अर्थ से जैसे तैसे उद्धृत करके - भाष्यभूमिका में "(आत्मदाः) विद्याविज्ञानप्रदः (बलदाः) शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः" इस प्रकार अर्थ किया है और फिर संस्कार विधि में- '(आत्मदा) आत्मज्ञान-प्रदः (बलदा) शरीरात्मसमाजबलप्रदः' ऐसा अर्थ किया है। इस प्रकार तीन जगह तीन तरह का अर्थ करते हुए स्वा० दयानन्द जी ने वेदभाष्य करने में अपना बहुत पाण्डित्य प्रकट किया है। सप्तम मन्त्रके भाष्य में भी पुस्तकों के छापने और बेचने आदि व्यवहार से धन की प्राप्ति तो होती है इस लिए यह कामना तो स्वामी जी की उचित ही है परन्तु मुक्ति के सुख की इच्छा वेदभाष्य में क्या उपयोगिता रखती है यह हम न जान सके। संन्यासीके लिए काम प्राप्ति की इच्छा तो उचित ही नहीं है। शिव संकल्प शब्दके कल्याणप्रिय और सत्यार्थ प्रकाशन ये दोनोंही अर्थ विद्वज्जनों को सम्मत नहीं है।

अथ वेदोत्पत्तिविषयः

'यस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे,
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
'यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसोमुखम्,
स्कंभंतं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः' । अथर्व० ॥

प्रथममन्त्रभाष्यावसरे 'सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हतीति' यदुक्तं, तन्न युक्तम्, विभक्ति-विपरिणामेनापि ऋचादेव विशेषणेन भवितुं शक्यत्वात् यज्ञो वै विष्णुरिति शतपथप्रमाणमुपन्यस्य तदर्थानभिज्ञतैव प्रकटीकृतास्मभवता, किंयज्ञशब्दो व्यापकार्थको यत्तदुपन्यासक्लेशः सोढः । तत्रतु यज्ञे विष्णुत्वारोपएव तात्पर्य्यम् । भगवन् ! वेदाचार्य्यपदकामनाकृता, परं तत्सिद्धध्यर्थं वैदुषी नार्जिता श्रीमता, यदभावात् पदे पदे स्खलनजन्यापकीर्तिपङ्कः प्रादुर्भूय यत्किंचित्तपः समाधिजमपि पुण्यसलिलमाविलयति । अन्यच्च यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादि शब्दो-

अब वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है ।

तस्माद्यज्ञादिति-पहले मन्त्र का भाष्य करते समय 'सर्व हुतः' यह वेदों को भी विशेषण होसकता है, स्वामीजी ने जो यह कहा है वह युक्त नहीं,क्यों कि विभक्ति के परिवर्त्तन (तबदीली) से भी 'सर्व हुतः' यहपद ऋचाओं का ही विशेषण हो सकता है । 'यज्ञोवै विष्णुः' इस शतपथ के प्रमाण को उद्धृत करके उसका अर्थ जानने में आपने अपनी अज्ञता ही प्रकट की । क्या यज्ञ शब्द का अर्थ व्यापक है , जो कि उसके रखनेका आपने व्यर्थ ही क्लेश सहा वहां पर तो यज्ञ में विष्णु के आरोपण का तात्पर्य है । भगवन् ! आपने वेदाचार्य्य होने के पदकी इच्छा तो की परन्तु उसकी सिद्धि के लिए पाण्डित्य प्राप्त नहीं किया, जिसके न होनेसे पदपद पर गिरजाने के कारण उत्पन्न हुई निन्दा रूप कीचड़ आपके पुण्य रूपी जलको जो कि यत्कि-

चारणं भवति तथेश्वरेऽपि मन्यताम् इति वेदानामीश्वरकर्तृत्वमापाद-
यन्यदाह तन्नविचारसहम्, ताल्वाद्यभिघातं विना तदुच्चारणासम्भवात् ।
न्यायविद्याया विधिवदध्ययनं विनानुमानहेवा कोऽपि वराकः सूरिजन-
संसदि हास्यायैवप्रयोक्तुः । उच्चारणशब्दस्यार्थं मस्यपि यो मुग्धः स तद्
द्वारा भगवतो वेदस्य ईश्वरकर्तृत्वमुपपादयितुं कथं प्रभवं दिति विचारा-
स्पदम् । येन न्यायशास्त्रस्य लघीयस्तर्कसंग्रहपुस्तकमपि सम्यक् पठितं
भवत्सोऽपि बालो नैवंविधं प्रयुञ्जीतानुमानम् । ननु जगद्रचने तु खल्वी-
श्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति वेदरचनेत्वन्यस्यान्यग्रन्थरचन-
वत्स्यादिति पूर्वपक्षीकृत्य यदुक्तं, तद्वाचोयुक्तिरपि तर्करसिकैरप-
श्रुत्य विवेचनीया । 'अत्रोच्यते-ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव
ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यात्, नत्वन्यथा । नैव कश्चित्पठनश्रवणमन्तरा
विद्वान् भवति । यथेदानीं किंचिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च
दृष्ट्वैवमनुष्याणां ज्ञानं भवतीति' वेदस्याध्ययनानन्तरमेव कस्यापि ग्रन्थरचने सामर्थ्यं
स्यादित्यत्र जिज्ञास्यमिदं, किं ग्रन्थरचने वेदाध्ययनं सामर्थ्यसाधकं तदान-

---

चित् तप अथवा ध्यान से उत्पन्न हुआ है मलिन (गन्दा) करे देती है कुछ
और भी देखिए –

'जैसे विचार करते समय मनमें प्रश्न और उत्तर आदि शब्दोंका उच्चारण
होता है वैसे ही ईश्वरके विषय में भी समझो इस प्रकार वेदों का ईश्वर
रचित होना सिद्ध करते हुए स्वामी जी ने जो कहा है वह युक्त नहीं, क्यों
कि तालु आदि स्थान की स्पर्श किये बिना शब्द का उच्चारण ही नहीं हो
सकता। विधिपूर्वक न्यायशास्त्र के बिना पढ़े ही अनुमान प्रमाण कल्पना
करने की अभिलाषा (शौक) विद्वज्जनों की सभा में प्रयोग करने वाले का
उपहास ही कराती है। जो उच्चारण शब्द का अर्थ भी न समझ
सके भला वह उसके द्वारा भगवान् वेदों का ईश्वर रचित होना
सिद्ध करने के लिए कैसे समर्थ हो सकता है ? यह विचारणीय है
जिसने न्यायशास्त्र का छोटा सा 'तर्कसंग्रह' पुस्तक भी अच्छे प्रकार पढ़ा
होगा वह बालक भी इस प्रकार के अनुमान को प्रयुक्त नहीं कर सकता।
'प्रश्न-जगत् के रचने में तो ईश्वर के बिना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है
परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है वैसे

न्तर्यं वा ? आद्यं चेद् वेदस्याध्ययनादेव तद्भवतीति तावद् वक्तव्यम् द्वितीयमिति चेन्न, कालस्य स्वतन्त्रहेतुत्वाभावात् किंच कस्यापि सामर्थ्यं स्यादित्यपि न रमणीयम् तथा प्रतीतेरभावात् पठनश्रवणानन्तरेत्यत्रापि पठनादिशब्दद्वयप्रयुक्तिर्न मनोरमा तयोरेकतरेणापि कार्यसिद्धेः।शास्त्रं पठित्वा उपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवतीति यदुक्तं तत्रापि नोद्दूङ्कनाविरहः। तथा च समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले इत्यनेन क्त्वाप्रत्ययमादिदेश भगवान्पाणिनिः। मनुष्यैककर्त्तृकाणां पठित्यादि धातूनां भवतिना सह

वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है, स्वामी जी ने यह पूर्व पक्ष उठाकर जो कहा है उनके वचन की युक्ति को तर्कशास्त्र के विद्वान् विचारें। और उन्होंने अपने इस पूर्व पक्ष का जो समाधान किया है उसे भी देखें। 'उत्तर- नहीं किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं उनको पढ़ने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को होसकता है उसके पढ़ने और ज्ञान के विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता जैसे इससमय में किसी शास्त्र को पढ़के किसी का उपदेश सुन के और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है अन्यथा कभी नहीं होता 'स्वामीजी ने जो कहा है कि-'वेदोंको पढ़नेके पश्चात् ग्रन्थरचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है, इसमें यह जानना है कि ग्रन्थ रचने में वेदों का पढ़ना सामर्थ्य स्थापन करने वाला होता है अथवा उसके पश्चात् का समय? यदि वेदों के पढ़ने को आप ग्रन्थ निर्माण में शक्ति प्रदायक मानते हैं तब तो 'वेद के पढ़ने ही से वह सामर्थ्य होता है' बस इतना ही कहना पर्याप्त था। यदि दूसरा अर्थात् वेदाध्ययन के पश्चात् का समय हेतु मानो तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ग्रन्थ रचने आदिके सामर्थ्य देनेमें काल स्वतन्त्र हेतु नहीं होसकता और न है। और किसी मनुष्यको सामर्थ्य हो सकता है आप का यह कथन भी मनोरञ्जक नहीं क्यों कि वैसा विश्वास न होने से। 'पठनश्रवणानन्तरा' इस वाक्य में भी पठन आदि दो शब्दों का प्रयोग मनोहर नहीं, क्योंकि उन दोनों में एक से भी कार्य सिद्ध हो जाता है 'शास्त्र को पढ़के, उपदेश को सुनके, व्यवहार को देखकर ही मनुष्योंको ज्ञान होता है' आपका यह कथन भी तर्कना या सन्देह रहित नहीं है। भगवान् पाणिनि मुनि ने 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इस सूत्र से 'क्त्वा' प्रत्यय के

कथं समानकर्तृकता । यदि लोके क्वचिदेवं प्रयोगा दृष्टास्तनुसारमेतदपि साध्विति चेद् दर्शनीयास्तावत्ते, वैयाकरणत्वं त्वित्थं परीक्षितमिदं-युगीनस्य ऋषेः । 'पुस्तकस्था वेदास्तेनादौनोत्पादिताः, किन्तर्हि ज्ञानमध्ये प्रेरिताः' इत्यत्रापि पुस्तकस्थानां वेदानां ज्ञानमध्ये प्रेरितानां चास्ति चेत्कश्चिद्विशेषस्तर्हि युक्तिपुरस्सरं प्रतिपादयतु कश्चिद्दयानन्दमता-नुयायी । विशेषाभावे मुधैव परिश्रान्तं स्वामिना । किञ्च ज्ञानमध्ये प्रेरिता इति न युक्तरूपं भाति, तन्मते तेषामपि परमेश्वरज्ञानरूपत्वात् । निरवय-वस्य ज्ञानस्य मध्यादिदेशव्यवस्थापि कथं सिध्येत् ? । सावयवं तदिति-चेद् बालविजृम्भणमात्रमेतत्स्यात् । किंचेश्वरज्ञानरूपस्य वेदचतुष्टयस्य समवायसम्बन्धेन तत्रैव विद्यमानत्वादन्यत्र संक्रमोऽतीवाऽसम्भूतः । अतोऽत्र विषये यत्प्रत्यपादि स्वामिना तदनेकदोषदुष्टत्वादनादरणीयं

विधान का उपदेश किया है। अब आप बतलाइये कि जब मनुष्य ही जिन का एक कर्त्ता है ऐसी पठ, श्रु और दृश् इन धातुओं का 'भवति' इस क्रिया के साथ समानकर्त्तृत्व कैसे हो सकता है ? यदि लोक में कहीं पर ऐसे प्रयोग देखने में आये हों तब तो यह आप का प्रयोग भी शुद्ध माना जा सकता है पर ऐसे प्रयोग यदि लोकमें हों तो आप प्रथम दिखलाइये । अधिक क्या, बस यही समझ लीजिए कि इस कलियुगीय ऋषि के व्याकरण की परीक्षा तो इसप्रकार स्पष्टतया होगई ।—'पुस्तकस्थावेदाः०' वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे । प्र०— तो किस प्रकार किये थे ? उ०- ज्ञान के बीच में । यहां पर भी यह प्रष्टव्य है कि पुस्तकों में लिखे वेदों में और ज्ञान के बीच में प्रकाशित किये वेदों में क्या कोई विशेषता है यदि है तो दयानन्दमतानुयायी कोई जन युक्तिपूर्वक इसका समाधान करे विशेषता न होने से बस यही समझ लेना चाहिये कि स्वामीजीने यह परिश्रम व्यर्थ ही किया । और- 'ज्ञानमध्ये प्रेरिताः' अर्थात् ज्ञानके मध्य में वेद प्रकाशित किये । यह कथन भी युक्त प्रतीत नहीं होता- क्यों कि उनके मत में वेद भी तो ईश्वर के ज्ञानरूप ही हैं । और आप यह भी तो बतलाइये कि जब ज्ञान निरवयव अर्थात् आकार रहित है तब उसके बीच आदि देश की व्यवस्था का पता ठीक २ कैसे लग सकेगा ? यदि कहो कि वह सावयव है तो बस यह सब कथन बालकों के

विदुषाम् । तत्पुरातनशुद्धसंस्कारभावितान्तरात्मनामृषीणां बुद्धावीश्वरानुग्रहेण पुराधीतं वेदचतुष्टयं पुनरपिस्मृतिपथमारुरोहेति वक्तुं साम्प्रतम् तथा सति पूर्वोक्तदोषपरिहारक्लेशोऽपि न सोढव्यः स्यात् । अन्येपि तत्र सम्भविनो दोषा न प्रादुःष्युः । परमयं तु स्वामिमहाभागो यथेच्छमेवकार्यं कार्यमिति निश्चिकाय । यक्षानुरूपो बलिरिति लोकोक्ति सफलयंस्तदनुयायिवर्गोऽपि तथाविध एवास्ति । "वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् ? उच्यते, वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति । अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः । सत्यमेवैतत्, तावद्वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत । ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति नवा ? अस्ति सा किमर्थास्ति, स्वार्था । ईश्वरः परोपकारं न करोति किम् ? तेन किम्, तेनेदमस्ति विद्या स्वार्था परार्था च भवति, तस्यास्तद्विषयत्वात्" इत्यादिग्रन्थेन प्रश्नोत्तरपुरःसरं वेदरचने भगवतः परमेश्वरस्य याप्रयोजनवत्ता साधिता, तत्प्रतिपादनरीतिरपिशास्त्रार्थजन्ये जयमिच्छद्भिर्विद्वद्भिरवश्यं संस्तोतव्या, शङ्कासमा-

खेल जैसाही होगा, और जबकि ईश्वर के ज्ञान रूप चारों वेद समवाय अर्थात् कभी भी दूर न हो सकने वाले सम्बन्ध से ईश्वर में ही विद्यमान रहते हैं तब उनका वहां से दूसरी जगह जाना अत्यन्त असम्भव क्यों नहीं? इसलिए इस विषय में स्वामी जी ने जो कुछ कथन किया है वह अनेक दोषों से दूषित होने के कारण विद्वानों के आदर का पात्र नहीं हो सकता उनके पूर्व जन्म के शुद्ध संस्कारों से निर्मल अन्तःकरण वाले ऋषियों की बुद्धि में ईश्वर की दया से पहिले पढ़े हुए चारों वेद फिर भी उन्हें स्मरण अर्थात् कण्ठस्थ होगये । बस इसी प्रकार कहना उचित है । ऐसा कहने अथवा मानने से पहले कहे हुए दोषों के दूर करने का क्लेश भी न सहना पड़ेगा और उस में होने वाले अन्य दोष भी प्रकट न होंगे परन्तु इन स्वामी जी महाराज ने तो यह निश्चय किया हुआ है कि हमें तो अपनी इच्छा के अनुसार ही कार्य करना है 'जैसा यक्ष अर्थात् पूजनीय देव वैसी ही उसके लिए बलि' इस लोक कहावत को सफल करते हुए उनके पीछे चलने वाले लोग भी बस वैसे ही हैं अब स्वामी जी के वेद विषयक कुछ और भी प्रश्नोत्तर अवलोकन कीजिये । प्रश्न-वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था । उ०-मैं तुमसे पूछता हूं कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन

धानप्रकारोऽपि शिष्यजनकृते साधुतया प्रबोधितोऽतएव मन्तृमुखा अपि तदनुयायिनो वक्तृमुखा भवन्ति निरक्षरा अपि विदुषोऽभिभवितुं समुद्युक्ते अनधिगतवेदबोधगन्धा अपि वैदिकान् प्रति कृतस्पर्द्धा जायन्ते। योऽपि कश्चिद्धर्मतत्त्वं जिज्ञासमानः समुपेत्य कमपि प्रश्नं कुर्यात् स तद्विरुद्धं प्रबोध्य पूर्वं निरुत्तरं विदध्यात्, पुनर्यथेच्छं जिज्ञासितविषयं समाधाय वदावदतां हेवाकं सफलं वितन्वीत। वेदप्रतिपादने परमेश्वरस्य किं प्रयोजनमिति पृष्ट स्तदनुत्पादने प्रयोजनस्य प्रष्टास्योत्तरं तु वयं न जानीम इति प्रतिवचना मतुष्टः प्रयोजनं श्रृणुतेति प्रतिजानानः किं मदुत्तरं प्राहादिति विद्वा

था। जो तुम यह कहोकि इसका उत्तर हम नहीं जान सकते तो ठीक है। जो वेदोत्पति का प्रयोजन है सो आप लोग सुनें। प्र०—ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं। उ०—है। प्र०—तो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिए है। उ०—अपने ही लिये। प्र०—अच्छा तो मैं आप से पूछता हूं कि ईश्वर परोपकार करता है वा नहीं। उ०—ईश्वर परोपकारी है इससे क्या आया। प्र०— इससे यह बात आतीहै कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है क्यों कि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना।" इत्यादि रचना के प्रश्न करने और साथ ही उनका उत्तर देते हुए स्वामी जीने वेद के रचने में ईश्वरकी प्रयोजनता अर्थात् कुछ अपना मतलब सिद्ध किया है। स्वामी जी के इस प्रश्नोत्तर के प्रकार की शास्त्रार्थ रूपी युद्ध में विजय चाहने वाले विद्वानों को अवश्य स्तुति करनी चाहिये। शङ्का समाधान का प्रकार भी शिष्य जनों के लिए अच्छी तरह समझाया है तभी तो केवल अकारादि अक्षरों का ही ज्ञान रखने वाले भी उनके मतानुयायी वक्ताओं में शिरोमणिनिरक्षर भट्टाचार्य भी विद्वानोंका अनादर करनेके लिये तय्यार और जिन्हें वेद के बोध की गन्ध भी न आई वे भी वैदिक सिद्धान्तों के जानने वाले विद्वानों के साथ ईर्ष्या करने में तत्पर हो जाते हैं। जो भी कोई धर्म का तत्त्व जानने की इच्छा करता हुआ किसी के पास आकर प्रश्न करे तो वह उत्तरदाता उसके प्रतिकूल उसे पछाड़ कर पहले निरुत्तर करदे फिर अपनी इच्छा के अनुसार उसके ज्ञातव्य विषय का समाधान करके खूब बढ़ाचढ़ बोलता हुवा बस अपनी अभिलाषा को सफल करले। 'वेद के रचने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है' इस प्रकार पूछा जाने पर फिर उसी

एव विद्वांकुर्वन्तु । विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्मात्तद्विषयत्वादिति यदुक्तं तन्न विचारचारु । यदेव स्वार्थत्वं परार्थत्वं च विद्यायाः साध्यं तस्यैव हेतुत्वेनोपन्यासात्, ईश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता सम्पादिता इत्यनेन निष्कामस्य भगवतः परमेश्वरस्य स्वविद्याभूत वेदोपदेशद्वारा सप्रयोजनतासाधनं लौकिकपुरुषतो न तत्र किंचिद्वैशिष्ट्यमिति स्फोरयति । यथा स्वनिर्मितप्रबन्धस्य प्रचारद्वारा निजबुद्धिवैभवं प्रकटयितुकामः प्रयतते तथैवेश्वरोऽपीति व्यज्यते । यत्तु "धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यादिति यदुक्तं तदपि बहुविषयविशिष्टम् । भगवन् ! कलिकालर्षे ! धर्मार्थकाममोक्षसिद्धौ सत्यां यः परमानन्दो भवति, स किंरूपः? अद्यावधि तु धर्मादय एव पुरुषार्थत्वेन प्रसिद्धाः श्रुताः, परमधुना तदनन्तरभावी परमानन्दोऽपि ततः पृथक्प्रदिष्टो विशालधिषणावतां भवता । यदस्मिन्विषयेऽपि न प्रभवत्ययमसावस्मिनवाद्यर्थाचार्यः ।

वेद के न रचने में प्रयोजन के पूछने वाले ने-'इसका उत्तर तो हम नहीं जान सकते' इस प्रत्युत्तर से प्रसन्न होकर 'वेद रचनेका प्रयोजन सुनो' यह प्रतिज्ञा करते हुए क्या अच्छा उत्तर दिया उसे विद्वान् लोग जानलें । 'विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है क्यों कि विद्या का यही गुण है' यह कथन युक्ति युक्त नहीं, क्यों कि स्वार्थत्व और परार्थत्व जो ही विद्या का साध्य है उसी को आप ने हेतुरूप से रक्खा है परमेश्वर ने अपनी वेद-विद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध की है इस कथन से निष्काम परमेश्वर की अपनी वेदविद्या के उपदेश द्वारा प्रयोजनता का सिद्ध करना इस बात को स्पष्टरूप से जतलाता है कि संसार के साधारण जनों की अपेक्षा परमेश्वर में कुछ भी विशेषता नहीं जैसे कोई मनुष्य अपने रचे ग्रन्थ के प्रचार द्वारा अपनी बुद्धि वैभव के प्रकट करने में प्रयत्न करता है वैसे ही परमेश्वर ने भी किया । और आपने जो यह कहा है कि-'धर्म अर्थ काम मोक्ष की सिद्धि के विना परमआनन्द भी किसी को नहीं होता' यह अत्यन्त ही सन्देह से पूर्ण है । भगवन्, कलिकाल के ऋषि जी ! यह तो बतलाइये धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि होजाने पर जो परमानन्द होता है उसका स्वरूप क्या है ? अबतक तो धर्म आदि ही पुरुषार्थ रूप से प्रसिद्ध सुनने में आते थे पर अब उनके पश्चात् होने वाला एक परम आनन्द

तद्यथा किंच ब्रह्माण्डस्योत्कृष्टसर्वपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावत् विद्याप्राप्तिसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्तीतिनिश्चयः, अत्र 'सहस्रतमेनाप्यंशेन' 'ईश्वरेणैव कृत' इत्येवं शब्दयोजना समुचिता स्यात्, यतोऽक्रमदोषो न स्यात्। परं साहित्यशास्त्र-बोधशून्यो जनः कथंकारं समुचितपदावलिप्रयुक्तौ प्रभवेत्।"

"साहित्यशास्त्रहीनानां नानाशास्त्रविदामपि।

समाजं परिपश्यन्ति समजं बुद्धिशालिनः॥"

वेदोपदेश ईश्वरेणैव कृत इतिप्रतिज्ञाय तार्किकवरेण यत्प्रयुक्तं तत्तु न्यायशास्त्र-विदां यथा चेतः प्रसक्तिं जनयितुमलं तत्सहृदयैरेव सावधानतयाभ्युपगम-नीयम्। "एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः। सत्यमेव-मेतत्। परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं, ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते। नैवं विज्ञायि। ज्ञानं किं प्रकारकं दत्तं ? वेदप्रकारकम्। तदी-

और भी निकल पड़ा जिसको परमबुद्धिशाली आपने उनसे पृथक् उपदेश किया है। इन नवीन आर्यों के आचार्य्यजी से पदों की यथास्थान ठीकर संगति लगानी भी नहीं आती। जैसे कि -'किञ्च ब्रह्माण्डस्योत्कृष्ट०, जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्या प्राप्ति होने के सुखके हजारवें अंशके भी तुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम पदार्थ जो वेद है उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता। इस से निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं। यहां पर किञ्च; इत्यादि संस्कृतके अन्तर्गत-'सहस्रतमेनांशेनापि' और- 'ईश्वरेण कृत एव' इन दोनों के स्थान में 'सहस्रतमेनाप्यंशेन' 'ईश्वरेणैव कृतः' इस प्रकार शब्दों की योजना उचित थी जिस से कि क्रम भङ्ग होने का दोष न होता। परन्तु साहित्यशास्त्र के ज्ञान से शून्य है वह ठीकर पदों की संगति लगाने में क्यों कर समर्थ हो सकता है।

जो अनेक शास्त्रों को जानते हैं, पर साहित्य शास्त्र का ज्ञान नहीं रखते ऐसे लोगों के समाजको विद्वान् लोग पशुसमूह के समान ही देखा करते हैं।

वेदका उपदेश ईश्वरने ही किया है यह प्रतिज्ञा करके नैयायिक शिरो-मणि जी ने जो प्रतिपादन किया है वह न्यायशास्त्रज्ञों के चित्त में जैसा संलग्न हो सकता है यह विद्वज्जन स्वयं ही सावधान हो समझ लेंगे।

श्वरस्य वा तेषाम्? ईश्वरस्यैव, पुनस्तेन प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च । यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः । पुनः किमर्था शङ्का कृता? तैरेव रचिता इति निश्चयकरणार्था । इति यदवाचि दण्डिना, तदत्यन्तंस्यर्थीयोऽनेकदोषसंवलितत्वात् ।

शब्दार्थसम्बन्धविचारमुग्धः, प्रयोगविज्ञानकलाविहीनः ।
वेदार्थहेवाकितया प्रणुन्नो, विलोचनान्तेसदयं विभाव्यः ॥

अहो कलेर्महिमा, यत्र सद्विद्यासम्पर्क शून्या अपि अनर्गलानना वावदूकजना यथेच्छं प्रतिपाद्य द्विजसंसत्स्वपि धन्या वदान्याश्च कथ्यन्ते । अस्तु प्रकृतमनुसरामः— 'एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद् द्वारा वेदाः प्रकाशिताः'

स्वामी जी का वेद रचना सम्बन्धी कुछ और भी रहस्य देखिये – "एषां ज्ञानमध्य० इति"— उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था । प्र०–सत्य बात है कि ईश्वर ने उनको ज्ञान दिया होगा और उनने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा । उ०–ऐसा तुमको कहना उचित नहीं क्योंकि तुम यह भी जानते कि ईश्वर ने उनको ज्ञान किस प्रकार दिया था ? उ०– उनको वेदरूप ज्ञान दिया था । प्र०–अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूं कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उनका ; उ०- वह ज्ञान ईश्वर का ही है । प्र० - फिर आप से मैं पूछता हूं कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उनके । उ०–जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया । प्र०– फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों की थी ? । उ०- निश्चय करने और कराने के लिये" ॥ स्वामी जी का यह कथन बहुत ही निस्सार और अनेक दोषों से परिपूर्ण है, बस इतना ही कहना पर्याप्त समझ हम तो यही कहते हैं कि-

'शब्द और अर्थ सम्बन्धी विचारों में अनभिज्ञ, प्रयोगों की रीति को न जानने वाला, वेदों के अर्थ करने की अभिलाषा (शौकीनी) से प्रेरणा किया हुआ यह महाशय ठीक विलोचन शिष्य ही है ?

धन्य है इस कलियुग की महिमा को, जिस में, उत्तम विद्याओं के स्पर्श से शून्य, जो मुख में आवे वही कह देने वाले, बकवादी भी अपनी इच्छा के अनुसार अगड़बगड़ कह कर द्विजों की सभा में भी प्रशंसा पाते और बड़े दानी कहाते हैं । अच्छा, हो कुछ भी, अब इस प्रकरण को आरम्भ करते हैं- 'एषां ज्ञानमध्ये०' जिसके मतमें वेद ईश्वर के ज्ञानरूप हैं वही उनको प्रेरणा

इति। यदीयमते वेदानामीश्वरीयज्ञानरूपत्वमस्ति स तत्प्रेरणं निरूप्येत। किंरूपा प्रेरणा ? इति। तस्या ज्ञानत्वेष्टसाधनत्वादिरूपत्वेत्वसङ्गता स्पष्टैव। अन्यद्रूपं तु श्रीमान् स साधुरेव जानातु। "सतां हि वाणी गुणमेव भाषते"। किंच 'ज्ञानमध्ये' इति पदबोधितं ज्ञानस्य मध्यत्वं किंरूपम् ? नहि ज्ञानानि सावयवानि कैश्चिदिष्यन्ते, येन तदवयवावच्छिन्नत्वं प्रेरणायाः स्यात्। 'सत्यमेवमेतद्' इति वाक्यरचनकौशलं चमत्काराधायकम्। तथाहि-एतद्वाक्यं पूर्वान्वयि। उत्तरान्वयि वा ? आद्ये, न परमेश्वरेणेत्यादिग्रन्थासङ्गतिः स्पष्टैव। अन्त्ये, येभ्यमिति पूर्वोक्तवाक्यस्यासंगतत्वापत्तिः। किंच परमेश्वरेण येभ्यो ज्ञानं दत्तमिति ज्ञानस्य दानं किमात्मकम् ? नहि ज्ञानं गवादिवन्मूर्तद्रव्यं, यत्तद्दानं भवेत्। स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वा-

---

कथन करे। पर यह तो कहिये कि प्रेरणा का रूप क्या है ? क्योंकि ज्ञान और इष्टसाधनत्व आदि रूप में तो उस (प्रेरणा) का संगत न होना स्पष्ट ही है। यदि उसका कोई और रूप है तो उसे स्वामी जी जानें। क्योंकि 'सज्जनों की वाणी गुण ही को कथन करती है'। और- 'ज्ञानमध्ये' अर्थात् ज्ञान के बीच में इस पदसे जतलाया हुआ ज्ञान के 'बीच' का स्वरूप क्या है ?—क्योंकि ज्ञान किन्हीं के भी मत में मूर्त्ति वाले पदार्थ तो हैं ही नहीं जिस से प्रेरणा की स्थिति के लिए उनका कोई अङ्ग कल्पना किया जा सके और 'सत्यमेवमेतत्' इस वाक्य की रचनाचातुरी अत्यन्त ही चमत्कारजनक है। और यह वाक्य पहले वचन के साथ अन्वय अर्थात् सम्बन्ध रखने वाला है अथवा अगले के। यदि पहले के साथ कहो तो 'परमेश्वरेण' इत्यादि के साथ इसकी असङ्गति स्पष्ट ही है। अन्तिम के साथ मानो तो पहले वाक्य में असंगत होने की दोषापत्ति आती है। और यह भी बतलाइये कि आपने जो यह कहा है—'परमेश्वर ने जिनके लिये ज्ञान दिया' यह ज्ञान का दान कैसा है ? अर्थात् ज्ञान के दान का स्वरूप क्या और वह कैसे दिया जा सकता है ? क्योंकि ज्ञान गौ आदि के सदृश मूर्त्ति वाला पदार्थ तो है ही नहीं कि जिसका देना बन सके। अपना अधिकार दूर करके दूसरे का अधिकार स्थापन कराना ही दान शब्द का अर्थ है वैसा दान तो किसी प्रकार भी उन (ज्ञानों) का नहीं घट सकता। इस लिये उन (ऋषियों) में वेदविषयक ज्ञान उत्पन्न किये यही कहना उचित

पादनं हि दानशब्दार्थः। तथाविधं तु दानं न कथमपि तेषां संगच्छेत। तस्मात् तेषु वेदविषयाणि ज्ञानानि जनितानीत्येव वक्तुमुचितम्। 'इति विज्ञायत' इत्यादिकमधिकं भाति। यतस्तेन न काचिदिष्टसिद्धिः। 'ज्ञानं किं प्रकारकं दत्तं, वेदप्रकारक'मिति यत् प्रयुक्तं तपस्विना, तन्न मनोरमम् किं विषयकं ? वेदविषयकमिति साम्प्रतम्। 'तदीश्वरस्य तेषां वेति वक्तव्ये या लेखनकौशली सात्वतीवाश्चर्यकरी, तस्यैवेत्युत्तरं प्रदायात्र पारितोषिक-ग्रहणयोग्यता प्रकटीकृतात्रभवता भिक्षुणा। केनचित् कस्मैचिद् गौर्दत्ता, तदुत्तरं, कस्येयं गौरिति पृच्छायां दातुरेवैषा नतु प्रतिग्रहीतुरित्युत्तरमनुहरन् दण्डी समुचितदण्डोपायनमर्हति। 'पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तै-श्चे'ति विकल्प्य यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीता इति प्रतिवचोऽसम्बद्धम्। ईश्वर-ज्ञानेन तेषां प्रणेतृत्वमापाद्य पुनरीश्वरकर्तृकत्वाभिधानात्। 'पुनः किमर्था शङ्का कृता, तैरेव रचिता इति निश्चयकरणार्था' इति शङ्कासमाधाने लोको-

---

है। 'इति विज्ञायत' इत्यादि पाठ भी अधिक होने से व्यर्थ है, क्योंकि उस से कोई इष्ट सिद्धि नहीं। 'ज्ञान किस प्रकार का दिया था ? उ०—वेदरूप' स्वामी जी का यह कथन मनोहर नहीं, इस लिये ऐसा न कह कर— 'किस विषय का ज्ञान वेद विषयक' इस प्रकार कहना उचित है। 'तदीश्वरस्य तेषां वा' इस कथन में जो लिखने की चतुरता है वह अत्यन्त ही आश्चर्य-जनक है। और 'तस्यैव' यह उत्तर देकर तो बस स्वामी जी ने पूरा २ इनाम पाने की योग्यता प्रकट करदी। किसी ने किसी के लिये गौ दी। उस के पश्चात् यह गौ किसकी है ऐसा पूछने पर यह देने वाले की है, किन्तु लेने वाले की नहीं। बस, ठीक २ इसी प्रकार कथन करता हुआ यह दण्डी दयानन्द अवश्य ही दण्डरूप पारितोषिक (इनाम) देने के योग्य है। 'फिर मैं आप से पूछता हूं कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उनके' यह तर्कना उठा कर—'जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया'। यह प्रत्युत्तर असंगत है। ईश्वर के ज्ञान से उनका रचा जाना कथन करके फिर उनका कर्त्ता ईश्वर बतलाना अनुचित है। 'फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शंका आपने क्यों की थी ? उ॰—निश्चय करने और कराने के लिए' यह शंका और समाधान दिव्यबुद्धि वाले उसी महाशय को शोभा देते हैं। 'प्रेरयित्वा' यह प्रयोग साफर इनके व्याकरण ज्ञान को प्रकट कर रहा है स्वामी जी का साहित्य

त्परमज्ञस्य तस्यैव महेच्छस्य शोभेते। 'प्रेरयित्वे'ति प्रयोगोऽस्य व्याकरणबोधं निगमयति। येषामित्यस्य स्थाने एषां प्रयोगश्च साहित्यशास्त्राभ्यासेऽस्ति प्रमाणम्–

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्यत्र बहुलालापा कवयो बालका इव॥

इति पद्यं स्मृतिपथमारोपितं नोऽस्य कृत्या स्वामिमहोदयस्य। विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः"। इति। "चतुर्मुखेन ब्रह्मणा निर्मायिषतेत्यैतिह्यम्, नैवं वाच्यम्- ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात् 'आप्तोपदेशः शब्दः'॥ न्यायशास्त्रे अ० १ सू० ७। इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात्। शब्द ऐतिह्यमित्यादि च। आप्तः खलुसाक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्त्तत इत्याप्तः। इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनोक्तेः। अतः सत्यस्यैवैति-

---

शास्त्र में कैसा अभ्यास था बस इसमें 'येषाम्' इसके स्थान में एषाम् यह प्रयोग ही प्रमाण समझ लीजिए।

अप्रगल्भेति०-कौन पद कहां रखना चाहिये और किसका किसके साथ सम्बन्ध है इस प्रकार के ज्ञान में मूढ, केवल अपनी माता की प्रीती के पात्र बालकों के समान ही कवि संसार में बहुत होते हैं।

स्वामीजी की इस करतूतने यह उपर्युक्त श्लोक हमें स्मरण करादिया। विचारहीन लोगों की गिरावट के सैकड़ों कारण हो जाया करते हैं। स्वामी जी की वेद विषयक कुछ और भी लीला देखिए – "चतुर्मुखेन ०" 'प्र०- चार मुख वाले ब्रह्मा ने वेदों को रचा ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं। उ०- ऐसा मत कहो क्यों कि इतिहास को शब्द प्रमाण के भीतर गिना है। (आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उसको शब्दप्रमाण में गिनते हैं ऐसा न्याय दर्शन में गोतमाचार्य ने लिखा है तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है अन्य नहीं इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है जो कि साक्षात् सब पदार्थ विद्याओं का जानने वाला कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है जिस को पूर्ण विद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उसके कहने की इच्छा की प्रेरणा से सबमनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के सत्य उपदेश

ह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य । यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यम् नातो विपरीतमिति, अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात् । एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च नैयथ्योपत्तेश्चे ति यदुक्तं विशालमतिना यतिना तद् दृष्टिगोचरतामापन्नं सदतीव तर्करसिकजने कौतुकमुत्पादयति। 'वेदाश्चतुर्मुखेन ब्रह्मणा निरमायिषतेत्यैतिह्यं मेवं वाच्यं, ऐतिह्यस्य शब्दान्तर्गतत्वात् , इत्यनैतिह्याभावं साधयतस्तस्य शब्दान्तर्गतत्वहेतौ वदतो व्याघातः । अस्यायमभिप्रायः - चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदाः प्रतिपादिता इत्येवंविधं यदैतिह्यं तन्नवाच्यमर्थात्तन्न प्रमाणम् , ऐतिह्यस्य शब्दान्तर्गतत्वात् ऐतिह्यत्वे सति शब्दत्वादित्यर्थः- शब्दप्रमाणत्वादिति यावत् इत्यनैति-

---

का करने वाला है और जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थोंको यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्तना इसीका नाम आप्ति है इस आप्ति से जो युक्त हो उसको आप्त कहते हैं उसी के उपदेश का प्रमाण होता है इससे विपरीत मनुष्य का नहीं क्यों कि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है अनृत का नहीं । सत्य प्रमाणयुक्त जो इतिहास है वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने योग्य है इससे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं क्यों कि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण नहीं होता इसी प्रकार व्यास जी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिए जो आज कल के बने ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं उन में कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं क्यों कि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोल कल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं ।" विशाल बुद्धि स्वामी जी ने जो कहा है वह दृष्टि के सामने आया हुआ न्यायशास्त्रके विद्वानों में बहुत ही चमत्कार दिखाता है । 'वेदाश्चतुर्मुखे०' इत्यादि लेख में इतिहास का अभाव सिद्ध करते हुए उसको शब्द के भीतर होने रूप हेतु में 'वदतो व्याघात' दोष आता है । इसका अभिप्राय यह है कि—चारमुखवाले ब्रह्मा ने वेद रचे इसप्रकार कथन करने वाला जो इतिहास है वह प्रामाणिक नहीं, क्यों कि इतिहास शब्द प्रमाण के अन्तर्गत है । इस कथन से इतिहास का प्रमाण न होना सिद्ध करते हुए स्वामी जी ने

तिह्यस्याप्रमाणत्वं साधयताऽनेन तस्य प्रमाणत्वमपि स्वयं स्वीकृतम् । आप्तोपदेशः शब्दः न्यायशास्त्रे इति गौतमाचार्येणोक्तत्वादित्यत्र आप्तोपदेशःशब्द इति न्यायशास्त्रे गौतमाचार्येणोक्तत्वात्, इति हेतुः इत्येवं प्रकारेण योयस्तेनोक्तः स स शब्दः यथा प्रमाणप्रमेय प्रभृति तथाचायं तस्मात्तथेति आप्तोपदेशे शब्दे प्रमाणत्वं साधयन् तार्किकवरोयं कथं न न्यायरत्नोपाधिना भूष्यः । 'शब्दैतिह्यमित्यादि चेति किमपि गूढतरमभिप्रायमपेक्ष्यैव विन्यस्तम् । सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणमित्यस्य कोभिसन्धिः, यद्यत्सत्यं तत्तदैतिह्यमिति चेत् प्रमामात्रे तथात्वप्रसङ्गः । नानृतस्येति कथनं व्यर्थं, पूर्वोक्तेनैवावधारणात् । यत्सत्यप्रमाणनाप्तोपदिष्टं मैतिह्यं तद् ग्राह्यम् । इत्यत्र सत्यप्रमाणमित्यस्य कोर्थः ? सत्यं प्रमाणं यस्मिस्त-

---

उसका प्रमाण होना भी स्वयं स्वीकार कर लिया । 'आप्त अर्थात् सत्यवक्ता पुरुष का उपदेश शब्द प्रमाण में गिना है ऐसा न्यायदर्शन में गौतमाचार्य ने कहा है, यहां पर—आप्त पुरुष का उपदेश शब्द प्रमाण में गिना है ऐसा न्यायदर्शन में लिखा है, यह हेतु हुआ । इस प्रकार से जोर उसने कहा वह२ शब्द जैसेकि प्रमाण, प्रमेय आदि वैसे ही यह भी इस प्रकार से आप्त (सत्यवादी) पुरुषों के उपदेश किए शब्द में प्रमाण होना सिद्ध करता हुआ तर्क शास्त्र के विद्वानों में शिरोमणि यह दयानन्द भला 'न्यायरत्न' की उपाधि से शोभित करने योग्य क्यों नहीं ? 'शब्दैतिह्यम्०' इत्यादि लेख कुछ बहुत गूढ अभिप्राय की अपेक्षा से ही रक्खा है 'सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणम्' अर्थात् सत्यका ही इतिहास रूप से ग्रहण है, यह जो आपने कहा है इसका समाधान क्या है? 'जोर सत्य, वहीर इतिहास' यदि ऐसा मानों तो यथार्थ रूप से जाने हुए प्रत्येक पदार्थ के वर्णन में इतिहास होने के प्रसंग रूप दोष आजायगा । 'नानृतस्य' यह कथन व्यर्थ है क्योंकि पहले सत्य शब्द के कथन से ही असत्य के इतिहास न होने का निश्चय हो जाता है । 'यत्सत्यप्रमाणनाप्तोपदिष्टम्०' इत्यादि वाक्य में 'सत्यप्रमाणम्' इस पदका क्या अर्थ है ? सत्य प्रमाण हो जिस में उसे सत्यप्रमाण कहते हैं, अथवा सचाई को लिए हुए जो प्रमाण वह सत्य प्रमाण है इस प्रकार ये दोनों ही अर्थ असंगत हैं क्यों कि प्रमाण में असत्य होने की शङ्का उत्पन्न नहीं हुआ करती । और प्रमाण को प्रमाण होने की सिद्धि के लिए यदि दूसरे प्रमाण की अपेक्षा

इत्यप्रमाणं यद्वा सत्यं च तत्प्रमाणमिति सत्यप्रमाणम् ? एतद् द्वयमपि न संगतं प्रमाणेऽसत्यत्वशङ्कानुत्थितेः । किंच प्रमाणस्य प्रमाणत्वसाधनं यदि प्रमाणान्तरमपेक्षेत, तर्हि तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्यदित्येवमनवस्था स्यात् यतो जन्मान्तरेष्वपि प्रयतमानो जनः प्रमाणत्वमेव प्रमाणस्य न साधयेत् । किंच साक्षात्कृतधर्मण आप्तस्यापि वचसि सन्दिहानो भवान् सत्यप्रमाण-मिति तद् व्याहरन् अतः सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणमिति स्वसिद्धान्तितमेव नातिष्ठिपत् तदैतिह्यं ग्राह्यं नातो विपरीतमिति पक्षीकृत्य अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात् इति यद् हेतुत्वेन व्याजहार तत्तस्य बुद्धिवैशद्यं साधु-स्फोरयत्तर्कविद्या पारगामित्वं दर्शयत्येव ।

"पदे पदे प्रस्खलनं जिहानो विरुद्धहेतुव्रजसाधनोऽसौ ।
प्रमत्तगीतानि परस्य युक्तिं वदन्नलज्जामुपयाति हन्त ॥
गीर्वाणवाणीसमयानभिज्ञो विज्ञाय वर्णावलिमेव तुष्टः ।

की जाये तब तो उसके भी प्रमाण होने के लिए फिर किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता पड़ेगी और उसके भी लिए और की इस प्रकार अनवस्था दोष आजायगा और ऐसा होने पर कोई मनुष्य अनेक जन्मों भी प्रमाण का प्रमाण होना सिद्ध न कर सकेगा! और जिसने सब पदार्थों को साक्षात् रूप से जान लिया हो उस सत्यवक्ता के वचन में भी आपको सन्देह हो गया जिससे कि यहां 'सत्यप्रमाणम्' यह पद और रक्खा। बस इस प्रकार बहुत कुछ लिखते हुए भी आप 'सत्य का ही इतिहास रूप से ग्रहण है' अपने इस सिद्धान्त की स्थापना न कर सके। 'तदैतिह्य०' सत्यप्रमाणयुक्त इतिहास ग्रहण करने योग्य है इससे विपरीत नहीं, यह पक्ष उठा कर—'अनृतस्य०'-प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण नहीं, यह जो हेतु रूप से कहा है वह स्वामीजीकी बुद्धिके नैर्मल्य को अच्छे प्रकार प्रकट करता हुआ न्याय शास्त्र की विद्वत्ता को अच्छे प्रकार दिखला रहा है।

पदे पदे इति०- पद२पर अपना गिरना प्रकट करता हुआ और शास्त्र विरुद्ध हेतुओं के साधन वाला यह स्वामी दयानन्द दूसरों की युक्ति वा कथन को प्रमादियों का कथन कहता हुआ लज्जा को प्राप्त नहीं होता यह बड़े शोक की बात है।

संस्कृत वाणी के सिद्धान्तों में अनभिज्ञ (नावाकिफ) और वर्णमालाअर्थात् अकारादि अक्षरों को जानकर ही सन्तुष्ट हो ग्रन्थ रचनाके कार्य में प्रयत्न

निबन्धबन्धे पततप्रयत्नो नोचेद्विमुग्धोऽपरएवकः स्यात् ॥
अधीतशास्त्रैरपि सूर्यवर्यैर्वेदोक्तसत्पद्धतिदत्तचित्तैः ।
युक्तिप्रमाणैरथ वादकामैर्विवादमिच्छन् किमुनैषवाच्यः ॥
कुतर्कमात्रेण जयंसभायामनेकशास्त्रार्थ विदांवराकः ।
प्राप्तुं महामोदविलासतन्त्रःकरोति किंयुक्तमसौविधानम् ॥ इति

एवमेव व्यासेन ऋषिभिश्च वेदारचिता इत्याद्यपि । मिथ्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थ्यापत्तेश्च"तीत्यत्रापि मनागदृष्टिपातः कार्यः परोक्तिसारावगमबद्धपरिकरेण बुधनिकरेण । अनेनैव प्रकारेण व्यासेनर्षिभिश्च वेदारचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति साहंकारं पक्षंस्थापयता यन्नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थ्यापत्तेश्चेति हेतुत्वेनोपन्यस्तं तत्किंविधसारजुष्टमिति तुमर्मज्ञैः स्वयमेवज्ञेयम् । नवीन-पुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानामित्यत्रपूर्ववाक्ये कः समासः? कर्मधारय इति चेन्न

करता हुआ यह (स्वा० दयानन्द) यदि मूढ नहीं तो फिर और ही कौन हो सकता है ?

अनेक शास्त्रों को पढ़े हुए और वेदविहित मार्ग वा धर्म में चित्तलगाने वाले बड़ेर विद्वानों के साथ विवाद भरी हुई केवल युक्ति प्रमाणों से विवाद की इच्छा करता हुआ यह (दयानन्द) क्या निन्दनीय नहीं ? ।

अनेक शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् लोगों की सभा में खोटी २ तर्कनाओं से विजय प्राप्त करने के लिए अज्ञानान्धकार में फंसा हुआ यह (दयानन्द) क्या उचित प्रकार से कार्य्य करता है ? ॥

'एवमेव व्यासेन ऋषिभिश्च वेदा०'– इत्यादि लेख पर भी तत्व ज्ञानी विद्वान् लोगों को तनिक दृष्टिपात करना चाहिए इसी प्रकार व्यास और ऋषियों से वेद रचेगये यह कथनभी मिथ्या ही है, बड़े अहङ्कार से इसपक्षको स्थापित करते हुए स्वामीजी ने ब्रह्मवैवर्त्त आदि पुराण और रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थभी व्यर्थ होनेसे यह जोहेतु प्रदान किया है इसमें क्यासार है? यह विद्वान् स्वयं जानलेंगे । 'नवीनपुराणग्रन्थानां' 'तन्त्रग्रन्थानाम्' यहां पर पहले – 'नवीनपुराणग्रन्थानाम्' इस वाक्य में कौन समास है ? यदि कर्मधारय कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि नवीन और पुराण इन दोनों शब्दों का आपस में समानाधिकरण ही नहीं है । और 'नवीन निर्मिताश्च ते

नवीनपुराणत्वयोः सामानाधिकरण्याभावात् । नवीननिर्मितपुराणग्रन्थानामितिमध्यपदलोपी इतिचेन्न अभिनवकर्तृकृतवस्तुनः पुराणत्वाभिधायित्वासम्भवात् । ननुवेदान्तशास्त्रकर्त्ता भगवान् व्यासदेवः किमनृषिर्यत्तद्भिन्नत्वेन समुदाजहारैदंयुगीनो महर्षिस्तम् । योहि नाम निजाभिप्रायमपि प्रकाशीकर्तुं नालं, तस्यग्रन्थरचनोत्कलिकोज्जृम्भणमुपहास्यायैव केवलम् । धन्योऽस्त्यार्यसमाजो यस्याद्भुतसाहसशाली सर्वतन्त्रस्वतन्त्रमतिः श्रीदयानन्दयतिराचार्यतामाप । यथानुरूपोबलिरिति लोकोक्तिरपिलब्धावकाशा समजनितत्र । "योमन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद् रचितमिति कुतो न स्यात् । नैवंवादि । ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात् । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं योवै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य विद्यमानत्वात् । एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत् तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्तमानत्वात् । अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥१। अ० १। अध्यायपया-

पुराणग्रन्थाश्च' अर्थात् नये रचे हुए पुराण ग्रन्थ इस प्रकार यदि मध्यपद लोपी कहो तो भी नहीं बन सकता क्योंकि नवीनकर्त्ता की रची वस्तु का नाम पुराण हो सकता ही नहीं। और हम आपसे यह पूछते हैं कि वेदान्त शास्त्र के कर्त्ता भगवान् व्यासदेव क्या ऋषि नहीं थे ? जो ऋषि शब्द से पृथक् उनका नाम रक्खा। जो अपने अभिप्राय को भी अच्छे प्रकार प्रकाशित न कर सके उसकी ग्रन्थरचना रूप कलिका खिलना अर्थात्-ग्रन्थ रचने की इच्छा का होना केवल हंसी कराना है। धन्य है आर्यसमाज को जिस में अद्भुत साहसी, और सब शास्त्रों के विचार में स्वाधीन बुद्धि श्री दयानन्द स्वामी ने आचार्य पद पा लिया। 'जैसा देव या मूल वैसी उसकी भेंट' इस लोक कहावत को भी वहां अवकाश मिल गया।

यो मन्त्रसूक्तानामिति— 'प्र०-जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं उन्हों ने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय ?। उ०- ऐसा मत कहो क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है सो श्वेताश्वर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि की आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों

मास पितॄन् शिशुरांगिरसः कविः । अ० २ । इति मनुवाद्यत्वात् । अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा ?" इत्यनेन सन्दर्भेण यत्प्रतिपादितवानिदानींतनऋषिस्तदपि दत्तावधानैः पाठकमहोदयैः समवलोकनीयम् । तदनन्तरं च सूक्तिरसनिपानप्रसक्तिभरभाग्भिर्जयजयशब्दालोकशब्दादिभिः सम्भावनीयः श्रीभिक्षुकोयं ललाटतटन्यस्ताञ्जलिपुटैर्भवद्भिः । 'यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमितिः कुतो न स्यात् इत्याशंक्य नैवंवादि, ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयो कृतत्वात्, इत्येवं यत्समाहितवान् तदलीकापेशलम्, अनेकदोषपरीतपदकदम्बप्रायत्वात्तत् प्रयोगस्य । तद्यथा-तद्रचितमिति नपुंसकप्रयुक्तिर्नोचिता, तच्छब्द परामृष्टस्य वेदस्य पुंल्लिङ्गत्वात् । मन्त्रसूक्तान्यभिप्रेत्य प्रयोगोऽयं निरवद्य इति चेन्न । वदयमाण ग्रन्थेन तथाप्रतीतेरसम्भवात् । ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्, इत्यत्राध्ययनश्रवणयोरेकतरेणापि यथाभिलषितसिद्धिसम्भवात्कृतं तच्छब्दद्वयविन्या-

को पढ़ा है क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वर्त्तमान था इस में मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदोंको पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है" । इत्यादि रचना से कलियुगीय ऋषि स्वा० दयानन्द जी ने जो कथन किया है वह भी दत्तचित्त होकर पाठक महोदयों को अवलोकन करना चाहिए और तत्पश्चात् मृदुल एवं विनीत प्रिय वचनों के रस रूप जलाशय की स्वच्छता से भरे हुए 'जयकार' आदि शब्दों के उच्चारण से मस्तक पर हाथ जोड़ आप लोग इस भिक्षुक का उचित सत्कार करें। 'जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं उन्हों ने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय ?' यह शङ्का करके—ऐसा मत कहो क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है' इस प्रकार जो समाधान किया है वह अत्यन्त ही अनभिज्ञता से भरा हुआ है क्योंकि उन प्रयोगों में जो पद हैं वे अनेक दोषों से परिपूर्ण हैं। जैसे कि-'तद्रचितम्' यह नपुंसकलिंग का प्रयोग यहां बिल्कुल ही अयुक्त है, क्योंकि 'तद्' शब्द से सम्बन्ध रखने वाला 'वेद' शब्द पुंल्लिंग है। मन्त्रसूक्तों के अभिप्राय से यह प्रयोग निर्दोष है यह कथन भी ठीक नहीं

सेन । एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीप वेदानां वर्त्तमानत्वादिति यदुक्तं निःसारपदन्यासहेवाकिना दण्डिना तन्नु साहित्यशास्त्ररहस्यवि । विपश्चितां मनांसि रोचयेयुः । न्यायशास्त्रपारंगमा अपि किं नोपहसिष्यन्ति अस्य वाचो युक्तिपटुतां, व्याकरणबोधशालिनो धृतशक्तिग्रहकलाकलापगुणमालिनोऽतिविशालप्रज्ञाः प्राज्ञाः किमु तद्ब्रह्मतामुररीकरिष्यन्ति । 'तदा ब्रह्मादिभिस्तेषामधीतत्वश्रवणात्, इति सुवचं, तत्समीपे तदीयविद्यमानताप्रतिपादनस्यासंगतत्वात् । 'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्, दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् । अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः' । इत्युद्धृत्य मनुसादयत्वादिति यत्तेन विन्यस्तम्, तदयुक्तं मनुसादयादित्यनेनैव कार्यसिद्धौ पुनस्त्वप्रत्ययविधानस्य निरर्थकत्वात् । अहो एतावत्यनवधानता वेदभाष्यकारस्य पदप्रयोगे! साधारणशेमुषीकोऽधीतव्याकरणलघुसिद्धान्तकौमुदीकोऽपिबालो नैवंविधां त्रुटिं कुर्यात्, यत्प्रकाराष्टाध्यायीमहाभाष्यमात्रस्य वेत्तोद्भावयति । भगवन् !

क्योंकि वक्ष्यमाण ग्रन्थ से वैसी प्रसिद्धि सम्भव नहीं । 'ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्' यहां पर अध्ययन और श्रवण इन दोनों शब्दों में जब एक से भी कार्य सिद्ध होजाना संभव है तब दोनों शब्दों का ग्रहण निरर्थक है । इसी प्रकार 'यदर्षीणामुत्पत्तिरपि०' इत्यादि निःसार पदों को जोड़ स्वामी जी ने जो कहा है क्या वह साहित्यशास्त्र के तत्व को जानने वाले विद्वानों के मनको रुचिकर हो सकेगा ? न्यायशास्त्र के विद्वान भी इनकी इस वचनयुक्ति के चातुर्य पर क्या बिना हंसे रह सकेंगे ? और व्याकरणशास्त्र के ज्ञाता एवं विशाल बुद्धि पण्डित लोग क्या इनके ब्रह्मत्वको स्वीकार कर लेंगे ? इस उपर्युक्त वाक्य के स्थान में— 'वेदा ब्रह्मादिभिस्तेषामधीतत्वश्रवणात्' यह वचन अच्छा प्रतीत होता है । 'अग्निवायुरविभ्यस्तु' इत्यादि मनुस्मृति के श्लोक उद्धृत करके—'मनुसादयत्वात्' यह वचन जो उन्हों ने कहा है अनुचित है क्योंकि 'मनुसादयात्' जब इतने ही वाक्य से कार्य सिद्ध हो जाता है तब उस के आगे 'त्व' प्रत्यय का जोड़ना निरर्थक है । हा ! बड़ा आश्चर्य और शोक है कि वेदभाष्यकार के पदप्रयोगों में इतनी असावधानी ? साधारणबुद्धि वाला व्याकरणमें केवल 'लघुकौमुदी' पढ़ा हुआ बालक भी इस प्रकार की त्रुटि नहीं कर सकता जैसी कि अष्टा–

विश्रम्भयोग्ये भवदीयवेषे श्रद्धालवोधर्मबुभुत्सवश्च ।
अस्मादृशोनेकजनाश्चिराय हा हन्त ते शिष्यतया निरुद्धाः ॥
यथार्थभूता मवलम्ब्य पद्धतिं प्रकाश्यते वैदिकधर्मतत्त्वकम् ।
मयाधुनायद्भवता प्रतिश्रुतं ततः पतीपो विधिरेष जागती ॥
हुं शब्दशास्त्रं परिभूय मस्करिन्, न्यायोक्तरीतिंविनिकृत्यसस्मयः ।
इच्छानुरूपं समयं प्रकल्पयन्, दुनोषिकिं हन्तमुधा सरस्वतीम् ॥
त्वच्छिष्यवारो ननुबाबुसंज्ञकः, प्रमाणयंस्ते वचनं यथायथम् ।
वर्णाश्रमांल्लोपयितुं तनोतियद्, रुचित्वमेवाऽसितत्तो पिकारणम् ॥
अतोधुना ब्रह्मकुलावतंसाः, वेदादिसच्छास्त्रनदीनहंसाः ।
असह्यमानाः सहितुं तदिहितं प्रसज्जितास्ते कुविचार वारणे ॥ इति

न्यायी और महाभाष्य के जानने वाले ये स्वामी जी महाराज दिखला रहे हैं । भगवन् !–

विश्रम्भेति- विश्वास के योग्य आप के इस (संन्यासीपने के) वेष में श्रद्धालु और धर्म का तत्व जानने की इच्छा वाले हम जैसे अनेक जन हा ! शोक है कि बहुत काल से आपके शिष्य होने की ख्याति से प्रसिद्ध होगए॥

"ठीक २ मार्गका आश्रय लेकर,मैंअब वेदोक्तधर्म के तत्व को प्रकाशित करता हूं,, भगवन् ! प्रतिज्ञा तो आप ने की थी यह,पर, प्रकार उसके प्रतिकूल कुछ और ही होगया ॥

संन्यासिन् ! (क्रोध अथवा अनादर की दृष्टिसे) हुम्, यह शब्द बोलकर व्याकरण शास्त्र का और साभिमान न्याय शास्त्र की रीति का तिरस्कार करके अपनी इच्छा के अनुसार सिद्धान्त रचते हुए बेचारी सरस्वती देवी को क्यों व्यर्थ पीड़ा देते हो ॥

आपके शिष्य बाबू लोग श्री महाराज के वचन को ठीक २ प्रामाणिक समझते हुए वर्ण और आश्रमों को मिटाने के लिए जो रुचि बढ़ा रहे हैं उसके कारण आप ही तो हैं ॥

इसलिए अब वेदादि उत्तमोत्तम शास्त्रों का तत्व विचारने में जो हंस समान और ब्रह्मकुल में शिरोमणि विद्वान् लोग हैं वे उसकी इस करतूत को न सह सकते हुए इस कुविचार के दूर करने में तत्पर हुए हैं ॥

"कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति ? अर्थ-वशात्- (विद) ज्ञाने, (विद) सत्तायाम्, (विद्लृ) लाभे, (विद) विचारणे, एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते । तथा (श्रु) श्रवणे इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्तिन् प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पाद्यते । विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः । तथादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा श्रुतिः" इति यदुक्तमेदं युगीनाचार्येण रुद्यस्कार्येण तत्सारासारविवेचनामतिहतधिषणैर्विचक्षणैः विशोर्यानवद्यविद्यस्य स्वतोधिगतनिखिलाविकलनिगमव्रजहृद्यस्य शब्दव्युत्पत्तिपाटवगञ्जस्य समुत्साहैकपुञ्जस्य कृतिपरीष्टिं विधाय यथायथमुपढौकनं चास्य कृत उपढौकस्य मदीयतां तावद्विततया वदान्यतायाः परिचयः । अहो स्मृतिरपि निबन्धबन्धदत्तक्षणस्य सौष्ठवौदार्यविशेषराजिवर्णराजिभङ्गभङ्गि-

" कथं वेदः श्रुतिश्चेति - प्र०- वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं ? । उ० अर्थभेद से क्यों कि एक (विद्) धातु ज्ञानार्थ है दूसरा (विद्) सत्तार्थ है तीसरे (विद्लृ) का लाभार्थ है चौथे (विद्) का अर्थ विचार है इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है इससे करण कारक में क्तिन् प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है जिस के पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है । जिन को पढ़के विद्वान् होते हैं जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक २ सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है इससे ऋक्संहितादि का वेद नाम है वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेकर हम लोग पर्यन्त जिस से सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं इससे वेदों का श्रुति नाम पड़ा है" इस प्रकार कलियुगीय आचार्य, और नवीन आर्य (स्वा० द० न०) ने जो कहा है उसे सारासार की पड़ताल करने में तीव्र बुद्धि विद्वान् लोग विचार कर निर्दोष विद्या से युक्त अपने आप पढ़े हुए सब वेदों को ज्यों का त्यों ठीक २ ज्ञान रखने वाले शब्द ज्ञान के चातुर्य में अनभिज्ञ और उत्साह के पुञ्ज इस (स्वा० द० न०) के काव्य की पड़ताल करके यथायोग्य इन्हें

चणस्य पाखण्डखण्डघनघनविधूननप्रभञ्जनस्य निरुक्तस्यास्य संन्यासिनः । यत्संस्तवे वेदपदव्युत्पत्तिगततिङन्तपदप्रयुक्तयः प्रमाणम् । कालमनेन चिररात्राय जङ्गलभुवमध्यासीनेन संन्यासिजनेन सहवासिनो दिवा-गिरिगह्वरावासिनः कौशिकस्य सकाशादशिक्षि यथाकामशब्दावलि-प्रसारकला । व्यज्ञायि खलु अट्टाट्टहासशालिना विषमनादाकुलीकृतमृगव्रजा-न्मृगाधिराजान् निरागः सुपथानुसारिवादिवारणवारणप्रकारः । महा-कायात्तुलायाश्चाध्यगायि सजातिस्पर्द्धासियोगः । दुराशयाद् विलेशया-च्चाचर्चि विषविषमप्रयोगः । अन्यथा कथंकारं स्यात्तदीयतत्प्रकारको-द्योगः अस्तु प्रकृतमेवानुसरामः । 'ज्ञानाद्यर्थकेभ्यो विदादिधातुभ्यः करणा-धिकरणकारकयोर्घञिकृते वेदशब्दः सिध्यति' इत्येवं वक्तुमुचितम् । तदा-श्रितरीतेः सविचारजनचेतोऽरुचिविधायित्वात् । विद विचारणे इत्येवं-

भेट (नजराना) देकर इनकी विख्यात उदारता का परिचय प्रदान करें । ग्रन्थों की रचना में दृष्टि देने वाले सुन्दरता और उदारता की विशेषता से परिपूर्ण अक्षरों की तोड़फोड़ एवं कुटिल रचना में चतुर और पाखण्ड के खंडन रूप मेघों को कंपाने में वायुके समान इन उपर्युक्त विशेषणों से युक्त इस संन्यासी की स्मरण शक्ति भी विचित्र ही है जिस के परिचय में वेद पदकी व्युत्पत्ति (सिद्धि) में प्रयुक्त किये हुए तिङन्त पदों के प्रयोग ही प्रमाण हैं । बहुत काल तक जंगल की भूमि में रहने वाले इस संन्यासी ने अपनी इच्छा के अनुसार यह शब्दों कि फैलावट का विज्ञान अपने साथी दिन में पर्वत की गुफा में छिपकर रहने वाले निश्चय किसी उल्लू से निरन्तर भ्रमण कर सन्मार्ग पर चलने वाले वादी रूप हस्तियों को उससे रोकने का प्रकार(ढंग) अपनी भयङ्कर गर्जना से मृगोंको व्याकुल करनेवाले सिंहसे अपनी जाति के लोगों के साथ ईर्ष्या करने की युक्ति बड़े शरीर वाले भैंसे से और विष रूपी कठोर प्रयोगों के रचने की शिक्षा दुष्टान्तःकरण सर्प से सीखी है यह मालूम होता है नहीं तो उस (स्वा०द०स०)का इस प्रकार उद्योग क्यों कर हो सकता था । अच्छा कुछ भी हो,अब हम अपने प्रकरण को चलाते हैं वेद शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में आपके रचे लम्बायमान वाक्य के स्थान में — ' ज्ञानाद्यर्थकेभ्यो विदादिधातुभ्यः करणाधिकरणयोर्घञि कृते वेदशब्दः सिद्धयति अर्थात् ज्ञान आदि अर्थ वाले 'विद्, आदि धातुओं से

भूतसद्धातुरूपत्वाभावो नातितिरोहितो विशिष्टदृशां विदुषाम्। किञ्च वेदे वेदेषु वा याः सर्वाः सत्यविद्याः सर्वेजना जानन्ति वा लभन्ते तथा विचारयन्ति ताः कास्तेभ्यो भिन्नास्तद्रूपा वा ? भिन्नाश्चेत्तत्स्वरूपप्रतिपादनं कार्यम्। तद्रूपाश्चेद्भवत्कथनस्यासम्प्रलपितत्वं संगच्छते किंच विद्याः कतिविधाः सन्ति भवन्मते यत्सत्यशब्देन ता विशिनष्टि भवान्। येषु विद्वांसो भवन्तीति च विचित्रैयमुक्तिः, यदभिसन्धौ कथंकथिकामुखरयति मस्तत्त्वंबुभुत्सून्, अद्यावधि तु नाश्रावि वेदेषु विद्वांसो भवन्ति सर्वे मनुष्या इति, विद्यालयेषु सद् गुरुतो विद्यामधीत्य विद्वांसो भवन्तीत्येवन्यशामि। तद्विषये भवन्तीति विषयसप्तमी-माश्रित्य यदि तत्प्रयुक्तिस्तर्हि अधिकरणकारके तत्सिद्धिस्वीकारो निष्प्रयोजनः किंच वेदविषये विद्वांसो भवन्तीत्यत्र कथंचिलिक्षीप्सायां तत्साधनप्रतिपादन-मप्यावश्यकम्,, तथा दिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्ते यया

करण और अधिकरण अर्थ में 'घञ् प्रत्यय कर लेने पर वेद शब्द सिद्ध होता है। बस इस प्रकार कहना ही उचित है विद् विचारणे, इस प्रकार के धातु के रूप का न होना विशेषदर्शी विद्वानों की दृष्टि में छिपा हुआ नहीं है अर्थात् 'विद् विचारणे, इस धातु से जब कि वेद शब्द सिद्ध ही नहीं होता तब उसका ग्रहण व्यर्थ है। और वेदों से अथवा वेदों में जिन सब सत्य विद्याओं को सब जन जानते, प्राप्त करते या विचारते हैं वे कौनसी हैं ? वेदों से भिन्न हैं अथवा वेद स्वरूप ही हैं ? यदि वे भिन्न हैं तो उनका स्वरूप बतलाना चाहिये यदि वेद स्वरूप हैं तो आपका कथन उन्मत्तों के कहने के समान व्यर्थ एवं निःसार हो जाता है। और यह भी कहिए कि आपके मत में विद्याएं कितने प्रकार की हैं? जो कि आपने उसे सत्य शब्द का विशेषण प्रदान किया है। 'येषु विद्वांसो भवन्ति, अर्थात्, जिनमें विद्वान् होते हैं यह कथन तो आपका बड़ा ही विचित्र है जिसके समाधान में यह क्यों कर है इत्यादि. जिज्ञासा हमें जो कि इसके तत्व के जिज्ञासु हैं बार २ वाचाल बनाती है। और अबतक तो यह बात सुनने में नहीं आई कि सब मनुष्य वेदों से विद्वान् होते हैं। किन्तु यही सुनने में आया कि विद्यालयों में श्रेष्ठ गुरु से विद्या पढ़ कर विद्वान् होते हैं। 'तद्विषये भवन्ति' यहां पर विषय अर्थ में सप्तमी विभक्ति का आश्रय कर यदि उसका प्रयोग किया है तो अधिकरण कारक में वेद शब्द की सिद्धि को स्वीकार व्यर्थ है

साश्रुतिः । नकस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कोऽपिवेदरचनं दृष्टवान् । कुतो-निरवयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात् अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तुनिमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृताइतिविज्ञेयम् । तेषांज्ञानेनवेदानामनुत्पत्तेः । मनुष्यदेहधारिजीवद्वारेणपरमेश्वरेणवेदः श्रुतिःप्रकाशीकृतः, इति, यच्छ्रवणार्था-च्छ्रुधातोः करणकारके श्रुतिशब्दंव्युत्पाद्य युक्तिप्रमाण-निकरसहितं प्रत्य-पादयत्तदपिविदितशास्त्रसारेण बुधवारेण दृष्टिगोचरतामानीय विवेचनीयम् वयंतुयथायथास्याभिमतेविषयेविचारणां कुर्मस्तथैव तदुच्छृंखलतां प्रतीत्य विषीदामः । तथासत्तर्कान्दोलनेन वालुकाकुड्यायमानामेवास्य वाचोयुक्ति-पटुतांसमुत्पश्यामः ।

श्रूयते केवलं सद्भ्यो त्वज्ञातरचना सती ।
निरधारि श्रुतिः सैव तद्व्युत्पत्तिविदांवरैः ॥

और वेद के विषय में विद्वान् होते हैं— यहां पर कैसे विद्वान् होते हैं इस जिज्ञासा में उसका साधन बतलाना भी तो आवश्यक है । 'तथादिसृष्टिमारिभ्य०—' सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिस से सब सत्य विद्याओं को सुनते आते हैं इससे वेदों का श्रुति नाम पड़ा है क्यों कि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा इस कारण से जानागया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा को परमेश्वर ने निमित्त मात्र किया था क्यों कि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई किन्तु इससे यह जानना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वेसब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं" इस प्रकार श्रवण (सुनना) अर्थ वाले 'श्रु' धातु से करण कारक में श्रुति शब्द की व्युत्पत्ति करके युक्ति प्रमाण सहित जो कुछ कथन किया है उसकी भी शास्त्रों के तत्वज्ञ विद्वानों को विवेचना करनी चाहिये । हमतो जैसे २ इनके मनमानेविषय में विचार करते हैं वैसे ही इनकी उदारता को जानकरदुखी होते हैंअधिक क्या बसयही समझ लीजिए की सत्तर्कनाओं द्वारा जांच करने से हमतो इन की वचन युक्ति के चातुर्य को बालूकी भींत के समान ही देखते हैं

श्रूयत इति – सज्जनों से (वेदों की)रचना केवल सुनी जाती है किन्तु

वाचस्पतिः सकलशास्त्रकलावगाहः, सांख्यागमे श्रुतिनिरुक्तिविचारतन्त्रः ।
पूर्वोक्तमेव पदभञ्जनमेतदीयं, स्वीकृत्य युक्तिभरशालिमतिर्बभाषे ॥
अन्ये स्तथा निगमनैगमपक्षपाते- र्युक्तिप्रमाणनिकरैः कृतवादिपातैः ।
इत्येव दोषलवशून्यवपुस्तदीया व्युत्पत्तिरार्यपुरुषैर्निपुणं व्यधायि ॥
तामेष भिक्षुकवरः सरलस्वभाव स्त्यक्त्वा मुधैव विविधस्फुरितोरुदोषम् ।
पक्षं समादधदहो विदुषां समाजे हीनंविभावयति किन्तु विगानगानम् ॥ इति ।

नकस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कोऽपिवेदानां रचनं दृष्टवान् कुतोनिर-वयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावादितियदुक्तं तन्न मनोज्ञम्' तस्यविचारासहत्वात् । नहिरचनंदेहकार्यं तस्यमानसव्यापारजन्यत्वात्तन्नोपपन्नः पूर्वपक्षगन्धोऽपितत्र । किंचदेहधारिणइत्येव वक्तुंसाम्प्रतम्, सकाशादित्यस्योपयोगाभावात् । हन्त-

---

उसके समय का ज्ञान नहीं अतएव वेदों को श्रुति कहते हैं । उस (श्रुतिशब्द) की व्युत्पत्ति जानने वाले विद्वान् लोगों ने – श्रूयत इति श्रुतिः" अर्थात् सुनी जातीहै इसीलिए श्रुति कहते हैं । यही श्रुति शब्दका निर्वचन कियाहै ।

सब शास्त्रों का विचार करने वाले श्रुति शब्द की व्याख्या के विचार में लगे हुए और युक्ति प्रमाण में अति निपुण वाचस्पति जी ने इस पूर्वोक्त पद विच्छेद को स्वीकार करके श्रुति शब्द की व्याख्या की है ।

इसी प्रकार और भी वादियों के पक्ष को गिराने वाले वेद तथा युक्ति प्रमाणों से विद्वान् लोगों ने बड़े चातुर्य से सब प्रकारके दोषों से रहित श्रुति शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई है ।

सरलस्वभाव यह स्वामी दयानन्द उस व्याख्या रीति को छोड़कर व्यर्थ ही अनेक दोषों से परिपूर्ण अपने पक्षका समाधान करता हुवा हा ! शोक है कि विद्वानों की सभा में क्या यह निस्सार और बेतुका राग नहीं गाता ।

नकस्यचिदिति०-'किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं' स्वामी जी का यह कथन मनोहर नहीं क्यों कि विचार में असह्य है रचना देह का कार्य नहीं, उसकी उत्पत्ति मानस व्यापार के अधीन है, इस लिए उसमें पूर्व पक्ष के उत्पन्न होने की गन्ध भी उचित नहीं है । और वहां 'देहधारिणः' यही कहना उचित है, उसके आगे 'सकाशात्' यह पद आवश्यक न होनेसे व्यर्थ है । हा! शोक है कि पुनरुक्ति आदि दोषों से पूर्ण,

पुनरुक्त्यादिदूषणशतसमाकुलविग्रहो विदितसद्विचारनिग्रहो जनितोच्छृंखलजनमोदः समुत्पादितधर्मनिष्ठविद्वल्लोकप्रतोदः प्रबन्धोऽयं विचारपुरस्सरं वाचयतां सहृदयवाचकानां सारग्रहाग्रहवन्ति मनांसि दुःखाकरोतितमाम्। समालोचकोऽप्ययं संन्यासिजनोमान्य इति विजानानोपि 'दोषा वाच्या गुरोरपीति' मुखरितमनाः 'सत्यग्रहणेसत्यपरित्यागेच सर्वदोद्यतेनार्यजनेन भाव्यमिति' तदुक्तं स्मरन्। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इति भगवद्वचनं च प्रमाणयन् 'परोपकाराय सतां विभूतयः' इतिच मनसि धारयन् गुरुजननिदेशपरिपालनदत्तचेता यथाकथमपि एतत्समालोचनायां प्रवृत्तिं वितनोति। यद्यं पूज्यचणो भारतोद्धारचिन्तापरोनेकान् सदुपायान् समदर्शयत्, यवनादिदुर्विदग्धवेदविरोधिमतप्रत्यादेशेच यत्प्रयतितवान् तत्कृतेऽस्मैसमुक्तकण्ठं कोटिशो धन्यवादान् वितरामः परन्तु धर्मविषये येनापि केनचित्कारणेन यदत्याहितमाचरितवांस्तत्रौ-

उत्तम २ विचारों से रहित, शास्त्र मर्यादा को उल्लंघन कर मनमाने मार्ग पर चलने वाले मनुष्यों के लिए आनन्ददायक और धर्मनिष्ठ विद्वानों के चित्त में चुभने वाली यह ग्रन्थरचना विचारपूर्वक पढ़ने वाले विद्वान् लोगों के तत्वग्रहणशील मनको अत्यन्त पीडित करती है। इस ग्रन्थ की समालोचना करने वाला यह जानता हुआ भी कि यह संन्यासी (स्वा०द०न०) माननीय है, परन्तु- 'दोष गुरु के भी कह देने चाहिए' इस वचन से कहने के लिए वारर प्रेरित हुआ- 'सत्यके ग्रहण और असत्य के परित्याग में आर्य लोगों को सदा उद्यत रहना चाहिए' स्वामी जी के इस कथन को स्मरण करता हुआ-'अपने धर्म पर मरजाना उत्तम पर दूसरों के धर्म को जो कि भय के देने वाला है स्वीकार कर लेना अच्छा नहीं, इस भगवद् गीता के वचन को प्रामाणिक मानता हुआ -'सज्जन पुरुषों की सम्पत्तियें परोपकार के लिए ही होती हैं, इसको बार २ मन में विचारता हुआ और गुरु जनों की आज्ञा के पालन में चित्त लगाता हुआ जैसे तैसे इस ग्रन्थ की समालोचना में प्रवृत्त हुआ है क्यों कि भारत वर्ष के उद्धार की चिन्ता में लगे हुए इन पूज्यवर स्वामी जी ने जिन अनेक सदुपायों को दिखलाया है और वेद विरोधी यवनादि मतों के दूरीकरण में जो कुछ कथन किया है उसके लिए इन्हें हम कोटिशः धन्यवाद ही देते हैं। परन्तु धर्म के विषय में जिस

दासीन्यं पुण्यभूमेर्हानिकरमिति समवगम्य नौचितीमतिक्रामति समा-
लोचकः। अस्थाने कृतो यत्नो न फलवान्भवतीति वृद्धजनोक्ति र्युक्तरूपै-
व। तथाच येऽनेन महाभागेन लोकहितकामनयार्यसमाजाः स्थापितास्तेषु
सम्प्रति जनिमुपैत्युपजापो न प्रतापः स्फारी भवति विद्वेषिभावो न सत्
स्वभावः स्फीततां प्रयाति स्वार्थपरता न परोपकारित्वनिरतता, समेधते-
नास्तिकवादप्रणयिता न वेदबोधितसुकृताभ्यसनिता समुज्जृम्भते पुरो-
भागित्वं न परोक्तिगुणानुरागित्वम्, वर्द्धतेतरां लोकैषणासमादरो न
निन्दिताचारनिरादरः, किं बहुना दिने दिनेऽत्र शास्त्रमर्मानभिज्ञाः
विगीताचारसन्दूषितज्ञाः, कृतविप्रजनापमाना महाभिमानाः पुरुषाः प्रविश्य
पुरातनीं वेदोक्तवर्णाश्रममर्यादामपि निहत्य धर्मरतं भारतं यथेच्छाचारि-
त्वपदं नेतुं प्रचेष्टन्ते, तन्नायमवसरो विदुषामनवधानतायाः।

किसी भी कारण से वेद और धर्मशास्त्र के प्रतिकूल एवं लोक के लिए
हानिकर जो कृत्य किया है उस में उदासीनता दिखलाना मानो इस आर्या-
वर्त्त देश को पूर्णरूप से हानि पहुंचाना है बस इस बात को अच्छे
प्रकार जानकर इस समालोचक ने जो कुछ कहा वा किया है उस में उचित
नीति का परित्याग नहीं किया गया है। अनुचित कार्य में किया हुआ प्रयत्न
सफल नहीं होता। यह वृद्धजनों का कथन ठीक ही है और इस महाशय ने
संसार के हित की इच्छा से जो आर्यसमाज स्थापित किये उन में अब आपस
में फूट, शत्रुता, स्वार्थसाधन की इच्छा, नास्तिकता का प्रचार, मुखिया बनने
की अभिलाषा, लोक में धन एवं प्रतिष्ठा पाने आदि की कामना जहां प्रति-
दिन बढ़ती जा रही है वहां तपश्चर्या आदि से उत्पन्न होने वाला प्रताप
श्रेष्ठ स्वभाव, परोपकार करने का उत्साह, वेद प्रतिपादित सत्कर्मों का
अभ्यास, उत्तम गुणों के उपार्जन का प्रेम और निन्दित आचारों का
परित्याग दिन दूना और रात चौगुना घटता जा रहा है। बहुत क्या कहें,
शास्त्रों के विचार में मूढ, खोटे आचरण से दूषित बुद्धि वाले, ब्राह्मणों के
द्वेषी और महाभिमानी पुरुष इस समाज में प्रविष्ट होकर प्राचीन वेदोक्त
वर्ण और आश्रमों की मर्यादा को छोड़ कर धर्म के मार्ग पर चलने वाले
भारत वर्ष को अपने मन माने कुमार्ग पर लेजाने का यत्न कर रहे हैं
इस लिए विद्वानों के असावधान रहने का यह समय नहीं है।

युष्मासु जीवत्स्वपि सुस्थितेषु, वेदोक्तधर्मेऽधिकृतेषु विज्ञाः ।
तद्धानिचर्चापिलयं प्रयायात्, प्रभाति भानौ क्रतमः प्रचारः ॥
अहो मया स्वं विषयं विहाय, क्वगम्यतेऽप्रस्तुतवाङ्मयेन ।
न मामकीनोऽप्यपराध एष, विस्मारयत्येव सनं हि चिन्ता ॥ इति
इति वेदोत्पत्तिविषयः ।

——:o:——

॥ अथ वेदनित्यत्वविचारः ॥

वेदस्य नित्यत्वविचारणायां, यद्युक्तियुक्तं कथनं महात्मा ।
व्यधादये तत्सुविचारवद्भिः, समीक्ष्यतां वै निपुणं भवद्भिः ॥
"ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतोनित्यत्वमेव भवति,

---

हे विद्वज्जनो ! सुख से ठहरे हुए और वेदोक्त धर्म के अधिकारी आप लोगों के जीते जागते वेदोक्त धर्म की हानि का होना तो दूर रहा किन्तु उसकी (हानि) की चर्चा भी नहोने पाये ऐसा तुम्हें उपाय करना चाहिए क्योंकि सूर्य के प्रकाशमान होते हुए भलाकभी अंधकारके पांव जमसकते हैं।

अहो ! मैं अपने विषय को छोड़ कर अप्रासङ्गिक विषय में कहां चला जारहा हूं । यह मेरा दोष नहीं है किन्तु एक साथ उत्पन्न हुई चिन्ता मुझे अपने गन्तव्य पथ को भुला देती है ।

वेदोत्पत्ति का विषय समाप्त हुआ ।

अब वेदों के नित्यत्व का विचार आरम्भ किया जाता है

वेदस्येति—वेदों के नित्य होने के विचार में इस महात्मा ने युक्ति युक्त जो कथन किया है वह भी आप विचारशील पुरुषों को अच्छे प्रकार अवलोकन करना चाहिए ।

तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात्" । इति मूलग्रन्थः । अत्रहि ईश्वराद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यामिति वक्तव्यम् । सकाशादित्यधिकमनन्वितार्थकं च । स्वत इत्यपि व्यर्थमनन्वितार्थकं च । यदि हि वेदाभिव्यञ्जकस्योत्पत्तिरीश्वरेण स्यात्तदा तद्द्वारा तेषामनित्यत्वेपि स्वरूपतो नित्यत्वं बोधयितुं स्वत इति सार्थकं भवेत् । नचैवं व्याहारि तत्रभवता । किंच वेदं पक्षीकृत्य यत्तस्य नित्यत्वमीश्वरीयसर्वसामर्थ्यगतनित्यत्वहेतुना साध्यते भवता तन्नोपपन्नम्, हेतोः पक्षेऽभावेन स्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात् । महात्मन् ! किमित्यस्थाने प्रयतमानो भवान् काष्ठान्तकान्तयशा भवितुं वष्टि, मदीयाकृतिं विलोक्य विज्ञपुरुषाः किं वदयन्तीति किमुनावाधारि विचित्रसाहसवता श्रीमता । "अत्र केचिदाहुः—न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति । शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवत्, यथा घटः कृतोस्ति तथा शब्दोपि, तस्माच्छब्दानामनित्यत्वे वेदा-

"ईश्वरस्यसकाशादिति— वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इस से वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है"। यह मूल ग्रन्थ है । यहां पर- " ईश्वराद् वेदानामुत्पत्तौ सत्याम् " इतना ही कहना पर्याप्त है । 'सकाशात्' यह पाठ अधिक और अन्वय-सम्बन्ध-से रहित है । 'स्वतः' यह भी पूर्वोक्त दोषयुक्त होने से व्यर्थ है । यदि वेदों के प्रकट व उत्पन्न करने वाले की उत्पत्ति ईश्वर से हो और तब उस के द्वारा यदि उन का अनित्य होना सिद्ध हो ऐसी दशा में तो स्वरूप से नित्य होना जतलाने के लिये 'स्वतः' शब्द सार्थक हो सकता है, पर आपने तो ऐसा कथन किया ही नहीं । और वेद को पक्ष में रखकर, ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य है इस हेतु से जो आप वेदों का नित्यहोना सिद्ध करते हैं, यह सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि हेतु का पक्ष में अभाव होने से स्वरूपासिद्धि हेत्वाभास दोष स्पष्ट ही है । महात्मन् ! अनुचित स्थान में प्रयत्न करते हुए आपको यह तो सोच लेना चाहिये था कि मेरे इस कार्यको देखकर विद्वान् लोग क्या कहेंगे? आप का कार्य तो यह और इच्छा करते हैं दिगन्तव्यापि यश की । किमाश्चर्यमतः परम् । "प्र०—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में शब्द छन्द पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा क्योंकि बनाने के पहिले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न

नामप्यनित्यत्वं स्वीकार्यम्" । इति पूर्वपक्षीकृत्य यदुक्तं तन्न युक्तम्, नाना दोषविशिष्टत्वात्तस्य । तथाहि-तत्र 'शब्दमात्रस्यानित्यत्वे तद्विशेषवेदाना-मपीति' वक्तव्यम् । किंच उत्पन्नो गकार इति प्रत्यक्षेण वर्णानामनित्यत्वे सिद्धे तद्घटितवेदानामप्यनित्यत्वं सिद्धमेवेति वक्तव्यम् । किंच 'शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात् । ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धास्ते नित्या भवितुमर्हन्ति, येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्याश्च, कुतः यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धेऽनादी स्तस्तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति । तद्विद्यामयत्वाद् वेदानामप्यनित्यत्वं नैव घटते" इति समाधानमपि नानव-धानताविलासशून्यम् । तथाहि नित्यकार्यभेदेन द्वैविध्यं व्युत्पाद्यते तेषाम्, ये परमात्मज्ञानस्था शब्दास्ते नित्या येचास्मदादिज्ञानस्थास्ते कार्या इत्येव वक्तव्यम्, ननु शब्दार्थसम्बन्धा इति । कार्या इत्यत्र चकारोऽप्यधिकः । किञ्च परमात्मज्ञानस्था इतिकथनमपि नसाम्प्रतं गौतमादिमते शब्दानामाकाशसमवे-

रहेंगे इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है" यह पूर्वपक्ष करके जो कहा है सो ठीक नहीं क्यों कि अनेक दोषों से युक्त है इस लिए । उस वाक्य के स्थान में—'शब्दमात्रस्यानित्यत्वे तद्विशेषवेदानामपि' अर्थात् जब कि शब्दमात्र अनित्य हैं तब उन से बने वेद भी अनित्य हैं । यही कहना ठीक है क्योंकि गकार उत्पन्न हुवा इस प्रकार वर्णों (अक्षरों) का अनित्य होना प्रत्यक्ष सिद्ध है तब उनसे बने वेदों का भी अनित्य होना सिद्ध ही है । बस इसी प्रकार कहना उचित है । कुछ और भी अव-लोकन कीजिए— "शब्द दो प्रकार का होता है एक नित्य और दूसरा कार्य इन में से जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे कार्य होते हैं क्यों कि जिस का ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है इस से वेद भी उसकी विद्या स्वरूप होने से नित्य ही है क्यों कि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती" स्वामी जी महाराज का यह समाधान भी असावधानता से शून्य नहीं है । जैसे कि नित्य और कार्य भेद से शब्द दो प्रकार के हैं । जो शब्द परमात्मामें स्थित हैं वे नित्य और जो अस्मदादि मनुष्यों में स्थित हैं वे कार्य हैं । उस सब के स्थान में यही कहना ठीक है न कि, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का कथन करना 'कार्याश्च' इसमें चकार भी अधिक ही है ।

त्वात् । भट्टनयेपि शब्दानामाकाशेन विष्टम्भकाख्यः संयोगो जतुकाष्ठवत् स्वीक्रियते, तन्मतेशब्दानां द्रव्यत्वात् । नच विषयतासम्बन्धेन परमात्मज्ञान-सम्बन्धित्वमेव तेषांतत्स्थत्वं, तदीयज्ञानस्य सर्वविषयकत्वात् । कार्यत्वेनाप्य-भिमतानां तथात्वानपायात् । किंचवैदिकालौकिकाश्च सर्वेशब्दानित्याः सन्ती-तिवदयमात्मभाष्यव्याख्यानभूतस्वपरग्रन्थविरुद्धश्चायंग्रन्थः । तत्रहि — लौकिकानामपिनित्यत्वं समीरितमत्रतुतेषां कार्यत्वेनानित्यत्वमुदीर्यते । किंच वेदानामेव नित्यत्वंविचारणीयत्वेनोपक्रम्य शब्दार्थसम्बन्धविचारो संगतः । तथाद्वयाञ्शब्दान् नित्यत्वेनकार्यत्वेन प्रतिज्ञाय उत्तरत्रैकत्रैव हेत्वा-भासःप्रदर्शितो लोकोत्तरप्रज्ञेन । अहोप्रयोगकुशलता तस्य । 'तस्यज्ञानक्रिये' इत्यादिना ग्रन्थेन पक्षे साध्य साधयितुं हेतुः प्रदर्श्यते । तत्र नित्यइत्यने-नैवगतार्थत्वे स्वभावसिद्धेइति अनादीइतिचव्यर्थमेव । किंचनतस्य कार्यमिति

और परमात्मा के ज्ञान में स्थित, स्वामी जी का यह कथन भी अनुचित है क्यों कि गोतमादि के मत में शब्दों का समवाय सम्बन्ध से आकाश में रहना माना है न कि परमात्मा के ज्ञान में । अतः स्वामी जी का यह कथन भ्रम-मूलक है । यदि यह कहो कि विषयतासम्बन्ध से परमात्मा के ज्ञान का सम्बन्ध होना ही उन (शब्दों) का उस में रहना है तो भी ठीक नहीं क्यों कि परमात्मा का ज्ञान सर्वविषयक है । कार्यरूप से माने हुए भी शब्दों का नित्यत्व दूर नहीं हो सकता । और वैदिक तथा लौकिक सब शब्द नित्य हैं यह आगे चलकर भाष्य का व्याख्यान करते हुए स्वामी जी ने स्वयं कहा है इस लिए यह ग्रन्थ अवश्य ही पूर्वापर विरुद्ध है । वहां पर तो लौकिक शब्दों का भी नित्य होना कथन किया है और यहां उन का कार्य रूप से अनित्यत्व सिद्ध करते हैं धन्य है इनकी स्मरणशक्ति को । एक और भी विलक्षणता देखिए कि वेदों ही के नित्यत्व विचार को आरम्भ करके उसे पूर्ण न कर बीच में ही दूसरा शब्दार्थ सम्बन्ध छेड़ दिया जो कि सर्वथा असङ्गत है । वैसे ही नित्य और कार्य भेद से शब्द दो प्रकार के हैं यह प्रतिज्ञा करके फिर आगे चलकर एकही जगह इन दिव्यमति जी ने हेत्वा-भास दिखला दिया । आश्चर्य है इनकी इस प्रयोगचातुरी पर । 'यस्यज्ञान-क्रिये' जिस की ज्ञान और क्रिया इत्यादि ग्रन्थ से पक्ष में साध्य की सिद्ध करने के लिए हेतु दिखलाया जाता है । वहां पर जब कि नित्ये इस पदके

श्रुत्याईश्वरीयज्ञानक्रिययोर्नित्यत्वं प्रतिपादयतिभवान्' नित्ययोश्चतयोः शक्तित्वंदर्शयति साक्षाद्भगवती श्रुतिरेव। तथाचशक्तित्वहेतुना सामर्थ्यपदाभिलप्यासु सर्वासुशक्तिष्विच्छादिषु नित्यत्वंसिध्यतु परंतत्रेश्वरीयशक्तित्वविरहेण कथंनित्यत्वंसिध्येत्। नचेश्वरीयविद्यामयत्वेन नित्यत्वं साध्यतइतिवाच्यम् तथासति यस्यज्ञानक्रियेइत्यादिग्रन्थस्य प्रलपितत्वापत्तेः किंचवेदान् पक्षीकृत्यतन्नित्यत्वसाधकत्वेनोपन्यासोपि न यथार्थरूपः। तद्विद्यामयत्वहेतुः कुत्रव्याप्यत्वेन गृहीतस्तत्समुदाह्रियताम्। ईश्वरीयविद्यामयत्वेन यदि वेदा उच्यन्ते तर्हिवेदानित्या ईश्वरीयवेदत्वादितिप्रयोगोभवेत् तथाच शब्दो नित्यः श्रावणत्वादितिवदसाधारणोहेतुः स्यादित्यलमतिप्रसङ्गेन भुत्सुसम्प्रति प्रष्टव्यास्ते आर्यसामाजिकपदाभिधेया निजाचार्यपादारविन्दैकविधेया यैः सम्यक्प्रतीतश्रीस्वामिदयानन्दसरस्वतीयोग्यताकः सदसद्विचारसमर्थधारणाकः शास्त्रविषयसमवलोकन-

---

कहने ही से कार्य पूरा होजाता है तब 'स्वभावसिद्ध' और अनादि यह दोनों ही विशेषण व्यर्थ हैं और "नतस्य कार्यम्" इत्यादि श्रुति से आप ईश्वर के ज्ञान और क्रिया का नित्य होना सिद्ध करते हैं और साक्षात् श्रुति उन (ज्ञान और क्रिया) का शक्ति भाव दिखलाती है। शक्तित्व हेतु से सामर्थ्य पदवाच्य उन सब इच्छा आदि शक्तियों में नित्यत्व रहे परन्तु वहां —— ईश्वरीय शक्ति का अभाव होने से नित्यत्व किस प्रकार सिद्ध होसकता है यदि यह कहो ईश्वरीय विद्या होने से नित्यत्व सिद्ध किया जाता है तो भी ठीक नहीं क्यों कि वैसा मानने या होने पर यस्य ज्ञान क्रिये इत्यादि ग्रन्थ को अनर्थकत्व दोष आता है और वेदों को पक्ष में रखकर उनका नित्यत्व साधक रूप से ग्रहण करना भी ठीक नहीं है। उस ईश्वर कीविद्या रूप होने का हेतु कहां पर व्याप्य भाव से ग्रहण किया गया है? उसका उदाहरण दीजिए। ईश्वरीय विद्या रूप होने से यदि वेद कहे जाते हैं तो वेद नित्य हैं ईश्वरीय विद्या होने से ऐसा प्रयोग होना चाहिये था जैसा कि-शब्द नित्य है कर्णेन्द्रिय का विषय होने से अथवा सुनने में आता है इस लिए यदि इस कथन के समान कहीं पर वेद विषयक ऐसा प्रयोग होता तब तो यह कहना मुख्य हेतु हो सकता या अन्यथा यह सब असङ्गत ही है विद्वानों के लिए इतना ही पर्याप्त है अधिक क्या लिखें।

जनितादरोऽनवगणितवाग्विभ्रजनाकलितदरः श्रीशुद्धबोधतीर्थान्तेवासी दक्षिणप्रदेशनिवासी सामाजिकजने समुपलब्धोदन्तमानस्तदीयसिद्धान्त-प्रचारे बहुलावधानः सामश्रमिश्रीसत्यव्रतसूरितोधीतवेदविद्य आर्य-समाजे निवृत्तनिर्मोखे गौतमद्य एकदाकोऽपिमुनिदेवः श्रीपण्डितशास्त्रि-नरदेवः श्रीदयानन्दस्वामीमुनिरेवाभवन्नर्षिरिति क्वचित्समाचारपत्रे प्रसङ्गवशात् प्रत्यपादयत्, तदा यैर्निजाचार्यस्य लोकोत्तरप्रतिष्ठाकामैः संस्कृतबोधशून्यैरपि शास्त्रीयविषयव्यवस्थितौ मौखरीकृतविरामैः स तत्समयानुरागोऽपि महाभागो नानाविधैरुपालम्भवचनैस्तिरस्कृतः । त एव महानुभावाः सहृदयतामङ्गीकृत्य मुधा पक्षपातितां विहाय सत्य-ग्रहणाभ्यासपरिचयं ददतः सत्यार्थप्रकाशशपथपूर्वकं वदन्तु, किं श्री-दयानन्दस्वामिनो लेखास्तदर्षितायां प्रमाणम् ? अस्माकं सम्मतौ तु तदीयमुनितायामपि सन्देह एवास्ति, यतस्तत्त्वार्थावगन्तृत्वयोगादेव मुनि-

---

आर्यसमाजिक कहाने वाले और अपने आचार्य स्वा० दयानन्द जी के चरण कमलों में परम श्रद्धा रखने वाले उन लोगों से अब यह पूछना चाहिए कि जिन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की योग्यता का जिन्हें अच्छे प्रकार पता है अच्छे बुरे के विचार में निपुणमति अनेक शास्त्रों के विचारमें परिश्रमी, मूर्ख एवं विचारशून्य जनोंके भयको कुछ न समझने वाले श्री शुद्ध-बोधतीर्थ जी के शिष्य दक्षिण प्रदेश के रहने वाले सामाजिक जनों में अत्यन्त लब्ध प्रतिष्ठ, उन (सामाजिकों) के सिद्धान्तों का प्रचार करने में चतुर और सामश्रमि श्री सत्यव्रत जी विद्वान् से जिन्हों ने वेद विद्या पठन की है उन विप्रवंशोद्भव श्री पं०नरदेव जी शास्त्री ने श्री स्वामी दयानन्द जी मुनि थे किन्तु ऋषि नहीं यह लेख प्रसङ्गवश कभी किसी समाचार पत्रमें प्रकाशित करा दिया था तब अपने आचार्य की सब से बढ़कर प्रतिष्ठा चाहने वाले और संस्कृत के बोध से शून्य होते हुए भी शास्त्रीय विषय की व्यवस्था देने में चुप न रहते हुए जिन्होंने अनेक प्रकारके उपालम्भ (उलाहने) भरे वचनोंसे श्री पं० नरदेव जी शास्त्री का तिरस्कार किया था वेही महाशय सज्जनता का आश्रय लेकर और व्यर्थ के पक्षपात को छोड़कर सत्य ग्रहण के अभ्यासका परिचय देतेहुए सत्यार्थ प्रकाश की सौगन्द खाकर ठीक २ कहें कि श्रीस्वामी दयानन्द जी के लेख क्या उनके ऋषि होने में प्रमाण हैं ? हमारी सम्मति में

संवेत्नाय तल्लक्षणोपेतः । पण्डितनरदेवशास्त्री अपि सामाजिकजनभयाद्वा-भ्रमादिकारणवशाद्वा मुनित्वेन तं व्यहार्षीद् इति प्रतीयते अन्यथा तथा-विधो बुधोनुचितव्यापारे प्रवर्त्तमानः कथंकारं न संकोचमाप्नुयात् । अथवा लोकैषणावशंवदः किमिव समुचिताचारो भवेज्जनः। "कि किं न हन्त । तनुते परवान् मनुष्यः" इति मुनिचरितामृतवचनमेव समाधायकम् आश्चर्य-श्चैतद्यद् सामाजिकर्षिः सच्छास्त्रमर्मानभिज्ञोपि वेदभाष्ये बद्धपरिकरः समजनि । किंबहुना-!

अनेके विद्यन्ते सकलनिगमज्ञानपटवः ।
क्षमायां विख्याताः सुकृतपथलुण्ठाकदलनाः ॥
तथोत्पत्स्यन्तेन्ये विमलमतयः शास्त्ररसिकाः ।
इति ज्ञानेम्लानः किमयमकरोद्व्यंसनमिदम् ॥
चिरं योगाभ्यासं विजनवनभूमौ रचितवान् ।

ऋषि होना तो दूर रहा हमें तो उन के मुनि होने में भी सन्देह ही है क्यों कि तत्वार्थ अर्थात् शास्त्र के ठीक २ सिद्धान्तों के जानने से ही मुनि हो सकता है परन्तु इनमें तो मुनि होने के भी लक्षण नहीं । मालूम होता है कि पं० नरदेव जी शास्त्री ने सामाजिक लोगों के भयसे अथवा भ्रमादि कारण-वश उनका मुनि होना कथन किया । नहीं तो उस प्रकार का विद्वान् ऐसे अनुचित कार्य में प्रवृत्त होता हुवा संकोच न करे यह हो नहीं सकता। अथवा लोक में धन या प्रतिष्ठा प्राप्ति की इच्छाके वशीभूत हुवा जन उचित पथपर भला कभी ठहर सकता है ? "हा शोक है कि पराधीन पुरुष को क्या २ नहीं करना पड़ता- अर्थात् सबही की 'हां' में 'हां' मिलानी होती है । यह मुनि-चरितामृत का वचनही इसका समाधान करताहै आश्चर्य है कि यह समाजियों का ऋषि दयानन्द शास्त्रों के उत्तमोत्तम मर्म को न जानता हुवा भी वेद भाष्य करने में तत्पर होगया । बहुत क्या कहें:-

अनेकइति- सब शास्त्रों के जानने में चतुर धर्म मार्ग के लुटेरों के दल को दलने वाले और विख्यात इस भूमण्डल पर अनेक विद्वान् विद्यमान हैं और आगे भी शास्त्रों के ज्ञाता तथा निर्मल बुद्धि जन उत्पन्न होंगे इस बात को न विचार कर अर्थात् जोकुछ हैं सो हमही हैं और कोई जानताही क्या है बस यह सोचकर ही इसने यह ठगी या धूर्त्तता का काम किया है

अनेकाविद्यावा गुरुजनसकाशादधिजगे ।
विचित्रप्रज्ञोसौ यदिति विषये यस्य यतिनः ।
कृतिंतस्यालोक्य प्रबलविशयः कोनमतिमान् ॥
अजानानाविद्याविषयतनुतामस्य पुरुषाः ।
किमार्याख्या हृष्टा अभिदधति केचित् क्षितितले
महर्षिर्वेदानां परमगहनाकूतकुशलं,
तमेकं मन्यन्ते हठशठविलासोय जयति ॥
विमुग्धायेलोका अनधिगतविद्यामृतरसा,
यथ च्छं तेब्रूयुः सविनयमुदारा यतिकृते ।
परन्तुप्रज्ञा यद्द विदितसुरभाषा अपिमुधा
हठावेशात्तेषामनुकृतिपरास्तन्न सुखदम्
समाजे विद्यन्ते विविधनिगमोपाधिसहिता
जनाश्चयत्वेतु प्रबलमदभाजोपि किंमिव ।

बहुत काल तक निर्जन भूमिमें एकान्त रह कर इसने योगाभ्यास किया है और गुरुजनों से अनेक विद्यायें पढी हैं अतएव यह विचित्र बुद्धि वाला है जिस स्वामी दयानन्द के विषयमें मनुष्यों का यह विचार अथवा निश्चय था अबउसकी इस करतूत को देख कर ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है कि जो सन्देह में न फंसजाता हो।

इस पृथ्वी पर स्वा० दयानन्द जी की विद्या विषयक अल्पता (कमी) को न जानते हुए ही कोई आर्यसामाजिक इन्हें महर्षि कहते हैं और कोई शास्त्र के बड़े गहरे विचारमें निपुण मानते हैं। हठ बश शठों की अज्ञानता का ही यह सब प्रपञ्च जानना चाहिये।

जिन्हें विद्या रूपी अमृत के रसका स्वाद प्राप्त न हो सका वे भोले भाले अथवा यूं कहिये अज्ञानी पुरुष तो इस संन्यासी के विषय में अपनी इच्छा के अनुसार जो चाहें कहें वा मानें परन्तु उन विद्वान् लोगों को जिन्हें कि संस्कृत भाषा का ज्ञान है व्यर्थ के हठवश उनकी हां में हां मिलाना कदापि हितकर नहीं है॥

आज कल समाज में अनेक शास्त्रों की उपाधि का बोझा धारण किये हुए अत एव अभिमान के पुञ्ज अनेक जन विद्यमान हैं जो कि अत्यन्त

निजाचार्य्यस्थेमां कृतिमतिलघूद्धामसतयः
समाधातुं यत्नं विदधति मते हन्त ! विभयाः ॥ इति ।

किंच "किंचभोः सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानांनित्यत्वं स्वीक्रियते? अत्रोच्यते-इदंतु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते तथास्मत्क्रियापक्षे नेतरस्मिन्, अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन नित्यत्वं वयं मन्यामहे । किंच न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते तेषामीश्वरज्ञानेनसह सदैवविद्यमानत्वात् यथास्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति तथैवपर्वस्मिन्नग्रे भविष्यन्तिच । कुत ईश्वरविद्यायानित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च । अतएवोक्तमृगवेदे 'सूर्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति । अस्यायमर्थः सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थं यथापूर्व कल्पेसूर्यचन्द्रादिरचनं

निकृष्टबुद्धि होनेके कारण शोकहै कि अपने आचार्यके इस कृत्य का समाधान करने के लिए निश्शङ्क हो यत्न करते हैं ।।

किञ्च भो इत्यादि—"प्र०— जब सब जगत् के परमाणु अलग २ होके कारण रूप होजाते हैं तब जो कार्य रूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव हो जाता है उस समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव हो जाता है फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो ? । उ०-यह बात पुस्तक पत्र मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है तथा हम लोगों के क्रिया पक्ष में भी बन सकती है वेद पक्ष में नहीं घटती क्यों कि वेद तो शब्द अर्थ और सम्बन्ध स्वरूप ही हैं मसी कागज पत्र पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं हैं यह जो मसी लेखनादि क्रिया है सो मनुष्यों की बनाई है इससे यह अनित्य है और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदोंको हमलोग नित्य मानते हैं इससे क्या सिद्ध हुआकि पढ़ने पढ़ाने और पुस्तकके अनित्य होनेसे वेदअनित्य नहीं हो सकते क्योंकि वे बीजांकुर न्याय से ईश्वरके ज्ञानमें नित्य वर्त्तमान रहते हैं सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलयमें जगत्के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है इसकारणसे वेद नित्य स्वरूप ही बने रहते हैं जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्व कल्प में थे और आगे भी होंगे क्यों कि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है उनके

तस्य ज्ञानमव्ययेह्यासीत् तथैव तेनास्मिन् कल्पेपि कृतमस्तीति विज्ञायते, कुतः--ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यम्; वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात्"। इत्यादिना पूर्वपक्षपुरःसरसमाधानरूपग्रन्थेन यदुक्तं विशेषमतिना भिक्षुपतिना, तन्नातिमनोज्ञम् । अस्थाने युक्तिबाहुल्यात् । पूर्वपक्षे तावत् 'सर्वस्य जगतः' इति द्वयोरेकतरस्यैवभाव्यम्, एकार्थप्रतिपादकत्वात्तयोः । किंचेति नातं प्रश्नद्योतने तत्स्थाने ननु चेति भवेत् । विभागं प्राप्तस्येति दुरूहा रचना जगतः "कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात् कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते" इति पूर्वपक्ष उन्मत्तप्रलपितत्वमनुहरति, नहि अन्यस्याभावोऽन्यस्यानित्यत्वं प्रतिपादयितुं क्षमः । किंच यथा प्रलयवेलायां स्थूलरूपेण विद्यमाना अपि वेदाः सूक्ष्मरूपेण भवन्ति तथा सर्वेपि पदार्थाः सत्कार्यवादे तदानीमपि स्वीकृता एव । तैः सह भवतः को विरोधस्तेषामपि नित्यत्वं स्वीक-

---

एक अक्षर का भी विपरीत भाव कभी नहीं होता सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इनमें शब्द अर्थ सम्बन्ध पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्त्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है क्यों कि ईश्वर का ज्ञान नित्य है उसकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती इस कारण से वेदों का नित्य स्वरूप ही मानना चाहिये इत्यादि पूर्व पक्ष की स्थापना पूर्वक समाधान रूप ग्रन्थ से इन दिव्य मति संन्यासी शिरोमणि जी ने जो कुछ कथन किया है वह अयुक्त युक्तियों की भरमार होने से समीचीन नहीं है । प्रथम तो पूर्व पक्ष में ही 'सर्वस्य जगतः' इन सर्व और जगत् दोनों शब्दों में से एक ही होना उचित है क्यों कि ये दोनों एक ही अर्थ को कथन करते हैं और प्रश्न के द्योतने में 'किंच, यह कहना पर्याप्त नहीं है अतः इसके स्थान में 'ननुच' यह प्रयोग होना चाहिये । 'विभागं प्राप्तस्य' यह रचना प्रत्येक साधारण जनको अभिप्राय जानने में कठिन होने के कारण अयुक्त है । "जब जगत् के परमाणु अलग२ होके कारण रूप हो जाते हैं तब कार्य रूप सब स्थूल जगत् का अभाव होजाता है उस समय वेदों के पठन पाठन पुस्तकों का भी अभाव हो जाने के कारण वेदों को नित्य क्यों मानते हो ? " । यह पूर्व पक्ष प्रमादियों के कथन के समान जान पड़ता है क्योंकि किसी एक वस्तु का न होना दूसरे की अनित्यता को सिद्ध नहीं

रणीयं पक्षपातशून्यदृशा विदुषा । 'यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनः खरः' इति लोकोक्ति समर्थयनान उत्तरपक्षोपि भाष्यकारस्य विद्याप्रकर्षं प्रकटयति । तद्यथा- "इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते तथाऽस्मत्-क्रियापक्षे नेतरस्मिन् अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन नित्यत्वं वयं मन्यामहे" अयि ! अनुमानरसिकाः सूरयः श्रीमद्भिर्ज्ञायि प्रयोगविज्ञानं महर्षेरार्यपदवाच्यानाम्, इदं पदबोध्यं किंतद्यत्पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते (चेष्टते) । किं पुस्तकपत्रमसीशब्दाः पदार्थपदाभिधेया न सन्ति ? सन्ति चेत् पुस्तकपत्रमस्यादिपदार्थेषु युज्यते इति कुतोनोक्तम् ? अनवधानतावशादिति चेत्, महर्षिपदाभिलप्यत्वं तस्य सापदं स्यात् । ननुनिरंकुशाः कवयः इति वचनानुगुणं तथा प्रयुक्तमपि तन्नविगुणमिति चेन्न । तादृशवचनस्याप्तप्रयुक्तत्वाभावात् । 'अस्मत्क्रियापक्षे नेतरस्मिन्' इत्यत्र क्रियाशब्देन किमुच्यते? उत्क्षेपणादिकं ? कृत्यपरपर्यायःप्रयत्नो वा ?

कर सकता । और प्रलयके समय स्थूल रूपसे न होते हुए भी वेद जैसेसूक्ष्म रूप से होते हैं वैसे ही सब पदार्थों का सत्कार्यवाद में उस समय भी होना स्वीकार किया है उनके साथ आप का क्या विरोध है उनका भी नित्यत्व पक्षपात शून्य होकर आपको अवश्य करना चाहिए । जैसी शीतला देवी वैसी ही उसकी खर (गदहा) सवारी इस लोक कहावतको चरितार्थ करताहुवा उत्तरपक्ष भी भाष्यकार की विद्वत्ता को अच्छे प्रकार प्रकट कर रहा है । "जैसे कि—यह बात पुस्तक पत्र मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्षमें घटती है तथा हम लोगों के क्रिया पक्ष में भी बन सकती है वेद पक्ष में नहीं घटती इस लिए ईश्वरके ज्ञानमें सदा बनेरहने से हमलोग वेदों को नित्यमानतेहैं" अयि ! अनुमान प्रमाणके रसके रसीले विद्वान् लोगो! आपने आर्यसमाजियों के महर्षि का प्रयोग विज्ञान जाना ? आप 'इदम्' शब्द के प्रयोग से जिस वस्तुको बतलाते हैं वह क्या है ? जोकि पुस्तक पत्र और मसी पदार्थादि में घटती है । क्या पुस्तक पत्र मसी शब्द पदार्थ पदके वाचक नहीं हैं? यदि हैं तो 'पुस्तकपत्रमस्यादिपदार्थेषु युज्यते' अर्थात् यह पुस्तक, पत्र और मसी आदि पदार्थोंमें घटती है । इस प्रकार क्यों न कहा ? यदि कहोकिअसावधानीसे ऐसा हो गया तो उस के महर्षि नाम को जो कि आर्य समाजियों ने मनमाना रख लिया है बट्टा लगेगा यदि यह मानों कि कवि लोग निरंकुश

नेतरस्मिन्' इत्यस्य चास्मत्क्रियाभिन्नपरमेश्वरीयक्रियापक्षे इत्येवार्थः सम्भवति। एवं मुत्क्षेपणादिरूपायास्तु न तत्राधिगमः। 'स्वाभाविकी ज्ञान' इतिश्रुतिबोधिता स्वाभाविकी काचित् क्रियातुतत्रविद्यतएव। तथा सत्यपि ईश्वरक्रियाजन्यत्वाद् वेदानां नित्यत्वं सिषाधयिषुराशामोदकैरेवसौहित्यकामः प्रतीयते। क्रियामात्रजन्यस्यानित्यत्वं दुर्वारंजन्मशतजुषापि तत्रभवता। यदिपरमेश्वरीयक्रियाजन्यं वस्तु नित्यं स्यात् तर्हिसर्वस्यापि भूतसृष्टे स्तथात्वमुपपद्येत तत्क्रियाजन्यत्वात्तस्याः तस्मात्तत्साध्याभावस्य प्रमाणान्तरेण निश्चितत्वाद् बाधितः स हेतुः। अतःकारणादीश्वरीयविद्यामयत्वेन नित्यत्वं मन्यामहे। इति प्रमाणशून्यमसद्युक्तिकं वचनं तथाविध एव निरङ्कुशोवक्तुं समर्थयेत, यथा कश्चिन्महानसादिष्वगृहीतव्याप्तिकं कञ्चन पुरुषं प्रतिवदेत् पर्वतोवह्निमान्धूमादिति। तथैवेश्वरीयविद्यामयत्वेन हेतुना स्वपक्षं सन्तिष्ठापयिषुरयमपि। उभयत्रसिद्धेन च हेतुना भाव्यं सर्वत्रापि

होते हैं इस वचन के अनुसार वैसा प्रयोग किया गया है अतः विरुद्ध नहीं है। यह मानना इस लिए ठीक नहीं कि वैसे वचन भाप्तों अर्थात् यथार्थ ठीकर वक्ताओं के प्रयोग ही नहीं हुआ करते अथवा यों कहिये कि ऐसे विरुद्ध वाक्यों का प्रयोग करने वाले यथार्थ वक्ता ही नहीं कहलाते वा माने जाते। 'अस्मत्क्रियापक्षे नेतरस्मिन्' इस वाक्यमें आप क्रिया पदसे क्या कथन करते हैं? ऊपर को फेंकना आदि अथवा कृति का पर्यायवाची दूसरा प्रयत्न? और 'नेतरस्मिन्' इसपदका तो यहीअर्थ होसकता हैकि 'हमारीक्रिया से भिन्न परमेश्वर के क्रियापक्ष में इसी प्रकार ऊपर को फेंकना या उछालना आदि क्रिया कातो वहां सन्निवेश होही नहीं सकता। क्यों कि स्वाभाविकी ज्ञान' इत्यादि श्रुतिसे जतलाई हुई वहां कोई स्वाभाविकी क्रिया उनक्रियाओं में विद्यमान है ही। वैसा होने पर भी ईश्वर की क्रिया से उत्पन्न होने के कारण वेदों का नित्य होना सिद्ध करते हुए स्वामीजी आशाके लड्डुओं से ही कोई अपना अच्छा हित चाहते हैं ऐसा मालूम होता है। क्रियामात्र से उत्पन्न हुई वस्तुओं के अनित्यत्व को आप सौ जन्म धारण करके भी दूर नहीं कर सकते यदि परमात्मा की क्रिया से उत्पन्न वस्तु सत्य होती है तो यह सब प्राणियों की सृष्टि और घट पटादि पदार्थ सत्य होने चाहिए क्योंकि यह सब सृष्टि परमात्मा की क्रिया से ही उत्पन्न हुई है

ईश्वरीयविद्यामयत्वं नोभयत्रसिद्धं, तस्मात्स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासः स। किंचे-श्वरीय विद्यामयत्वेन नित्यत्वं मन्यामहे, इतियदुक्तं तत्तु सुखमस्तीति वक्त-व्यंद्शहस्ताहरीतकी' तिवन्मन्यतां कोपि किमपिभवांस्तु अन्यान्प्रतिबोधयितुं तच्चेष्टते। "वेदाईश्वरीयविद्यामयाः" इतिभवत्को राद्धान्तोऽस्मिन प्रकरणे कतिचिद् वारान् विज्ञातो यद्बलाच्च भीमान्वेदानां नित्यत्वं प्रतिपिपाद-यिषुर्युयुक्षे, तत्रपृच्छते- ईश्वरीयविद्यामया, इत्यत्र मयट्प्रत्ययः कस्मिन्नर्थे कृतः? प्राचुर्ये?स्वार्थे?विकारेवा?अथचतामयट् प्रकृतिर्विद्या किंरूपा?विद्याशब्द-रूपा? ज्ञानरूपावा? आद्यायाः शब्दरूपायाःप्राचुर्ये मयटिकृते, ईश्वरीयशब्द-बाहुल्यविशिष्टो वेदइति सिद्धं ईश्वरातिरिक्तशब्दवैशिष्ट्यमपि वेदेसिद्धम् तथासत्यपसिद्धान्तस्तव। किंचशब्दजातेऽत्रापिपृच्छयते ईश्वरसम्बन्धः केन

इसलिए साध्य का अभाव दूसरे प्रमाणोंसे निश्चय हो जानेके कारण आपका दिया हेतु बाधित है। 'इस लिए ईश्वरकी विद्या होने से हम लोग वेदों को नित्य मानते हैं, इस प्रमाण रहित और कुयुक्तियों से पूर्ण वचन को कोई वैसा ही निरङ्कुश बोलसकता वा समर्थन करसकता है, जैसे कि कोई रसोईघर आदि में किसी पुरुष से जिसने कि व्याप्ति ग्रहण नहीं की है से कहे- पर्वत अग्निवाला है, धुएं से।इसी प्रकार ईश्वरकी विद्या होने रूपहेतुमें अपनेपक्षस्थापन की इच्छा करते हुए ये स्वामी जी भी उनमें से ही हैं। सर्वत्र हेतु वह होना चाहिये कि जो पक्ष और साध्य दोनो में विद्यमान रहे।ईश्वर की विद्या होना रूप दोनो जगह सिद्ध नहीं इस लिए वह आपका हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होने से अमान्य है। और— 'ईश्वरीय विद्या होने से हम वेदों को नित्य मानते हैं, यह जो आप ने कहा है उसे दश हाथ लम्बी हरड़ मेरे मुख में है इस वचन के समानयदि कोई कुछ मानना चाहे तो भले ही मानले पर आपतो औरों को जतलाने की चेष्टा करते हैं। "वेद ईश्वरीय विद्या है आपका यह सिद्धान्त जो कि इस प्रकरण में कई बार जतलाया गया है और जिसके बल से आप वेदों का नित्यत्व सिद्ध करने के लिए तत्पर हुए हैं इस विषय में हम आपसे पूछते हैं कि ईश्वरीयविद्यामया,, इस वाक्य में आपने 'मयट्, प्रत्यय किस अर्थ में किया? प्राचुर्य अतिशय अथवा में स्वार्थ अर्थ विकार अर्थ में? और मयट् प्रकृति वाली विद्या का स्वरूप क्या है विद्या स्वरूप है अथवा ज्ञान

रूपेणावस्थित ? इति उच्चारयितृत्वेनेतिचेन्न, निरवयवे तत्रोच्चारणसाधनायोगात् । प्रौढिवादेन सर्वशक्तिमत्त्वहेतुतन्त्रतया तथाभ्युपगमेऽपि उच्चारण–क्रिया- जन्यत्वादनित्यत्वप्रसङ्गपिशाचः समुज्जृम्भेत, तथा सति किंमण्डलमधिष्ठाय केन तन्त्रप्रयोगेण तन्निवृत्तियत्नं सफलयेत्तत्रभवान् । किंच तत्र स्वार्थे यदि प्रत्ययः क्रियेत तदापि पूर्वोक्तप्रकारेण स दोष स्तदवस्थ एव । तत्र विकारार्थे प्रत्यय इति चेन्न, प्रमाणाभावात् । स्वयमपि महाभाष्यमतं मन्वानेन वेदभाष्यकारेण भवता शब्दे विकारित्वास्वीकारात् । किंचेश्वरीयज्ञानरूपाया विद्यायाः प्राचुर्ये यदिप्रत्ययः स्यात् तदपिन साधु, भगवतः परमेश्वरस्य ज्ञाने नानात्वकल्पनाया निर्मूलत्वात् । तथा ईश्वरज्ञानस्य तत्र समवेतत्वेनान्यत्र संक्रमासम्भवात् । ततः स्वार्थेऽपि प्रत्यये कृते न सफल -

---

स्वरूप ? शब्दरूपा विद्याके प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय करने पर–' ईश्वरके अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी शब्दोंके बाहुल्य से जो युक्त हो वह वेदहै ऐसा होने परईश्वर के अतिरिक्त अन्यकिसी के भी शब्दों का होना वेद में सिद्ध होगा तबतो फिर आपका सिद्धान्त ही रफूचक्कर हो जाता है । और इसशब्दसमूह मेंभी हम आपसे पूछतेहैं ईश्वरका सम्बन्ध किस रूपसे स्थित है? यदि उच्चारण करना रूप सम्बन्ध मानो तो इसलिए ठीक नहींकि निरवयव अर्थात् मुखादि अङ्गों से रहित (जैसाकि आप मानते हैं) परमात्मा में उच्चारण का साधन नहोने से । प्रौढिवाद से ईश्वर को सर्व शक्ति वाला होने रूपहेतु के वश अर्थात् ईश्वर सर्वशक्ति सम्पन्न है अतः मुखादिके विना भी इसमें उच्चारण करना रूप हेतु असम्भव नहीं है वैसा मानलेने परभी उच्चारण क्रिया से उत्पन्न होने के कारण फिर वेदोंके अनित्य होने का प्रसङ्गरूपी पिशाचआपके सामने प्रकट हो जायगा ऐसा होने परक्या आप मण्डल अर्थात् देव पूजनार्थ वेदी बनाकर किसी तन्त्र मन्त्रादि के प्रयोग से उसे दूरकर सकने के प्रयत्न में सफलता प्राप्त कर सकेंगे ? यदि वहां स्वार्थ में मयट् प्रत्यय किया जावेतो भी पूर्वोक्त प्रकारसे वही दोष ज्योंका त्यों स्थित है । और विकार अर्थ में कहो तोभी ठीक नहीं क्यों कि प्रमाण नहोने से । महाभाष्य के मतको मानते और वेद भाष्य करते हुए स्वयं आपने भीतो शब्द में विकार का नहोना स्वीकार कियाहै । और ईश्वर की ज्ञानरूपा विद्याके प्राचुर्य अर्थमें यदि प्रत्ययमाना जावे तोभी समीचीन नहीं क्योंकि भगवान् परमेश्वर के ज्ञान में अनेकत्व

प्रयत्नो भवान्। तदीयज्ञाने विकारसम्पर्कविरहाच्च। अलमत्र बहुतर्कणया

सामाजिका यस्य कृतिं महात्मनो, लोकोत्तरां हन्त विमुग्धबुद्धयः।
मत्वा यथार्थां कृतकृत्यताजुषाः, सन्त्यत्रतस्यैव गिरां भरोऽधरः॥
मीमांसकैर्यद्यपि वेदनित्यता, संसाधिता युक्तिनिमानपूर्वकम्।
तथाप्ययं भिक्षुकराट्स्वकौशलम्, ख्यातिं निनीषुर्बत चेष्टते मुधा॥
ये सत्यगृह्या विविधाभुवस्तले, तेचापि हा हन्त कथं मनस्विनः।
उदासते वैदिकधर्मविप्लवे, जातेऽधुना दुःखमदः करोति नः॥
नास्तिक्यभाजोमुखरादुराशयाः, श्रुत्वाऽस्यमिथ्योरयथार्थवाङ्मयम्।
किंनोपहास्यं विषयेऽथवैदिके, कुर्वन्ति दुष्टा इति बुध्यतां बुधैः॥ इति॥

भेदकी कल्पना भी सर्वथा निर्मूल है। और ईश्वर का ज्ञान जबकि समवाय सम्बन्ध से ईश्वर हीमें रहता है तब उसका अन्यत्र जाना अत्यन्त असम्भव है। इसलिए स्वार्थ मेंभी प्रत्यय करने पर आप सफल प्रयत्न नहीं हो सकते क्यों कि ईश्वर के ज्ञान में सर्वथा विकार का अभाव है इस विषय में अब बहुत तर्कना क्या करें:—

सामाजिका इति — विचार शून्य बुद्धि वाले सामाजिक लोग जिस महात्मा की कृति (रचना) को दिव्य गुणयुक्त और यथार्थ मानकरअपने आप को कृतार्थ मानते हैं उसी (स्वा०द०न०) की वाणियों की यह कैसी निकृष्टता तुच्छता है॥

यद्यपि विवेचना करने में अतिनिपुण विद्वान् लोगोंने अनेक युक्ति और प्रमाणों द्वारा वेदोंकी नित्यता अच्छे प्रकार सिद्धकी हुई है तोभी यह भिक्षुक-प्रवर (स्वा०द०न०) अपने चातुर्य की प्रसिद्धि केलिए आश्चर्य है कि व्यर्थ ही प्रयत्न करता है॥

इस भूमण्डल पर सत्य पक्ष के ग्रहण करने वाले जोअनेक विद्वान् हैं वे भी शोक है कि वैदिक धर्मका नाश होने रूप उपद्रवको देखते हुए न मालूम क्यों उदासीन बने बैठे हैं, बस अब यही हमको अत्यन्त दुःखित करता है॥

नास्तिकता को लिए हुए, अत्यन्त बकवादी और दुष्ट अन्तःकरण वाले कतिपय आर्यमान्य लोग इस स्वामी दयानन्द के असत्यतापूर्ण वचनों को सुन कर इस नये वैदिक विषय में प्रसन्न हुए २ क्या उपहास नहीं करते? यह विद्वानों को जान लेना चाहिए॥

किंच "न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानामनित्यत्वं जायते" इत्यत्र पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वेन वेदानित्यत्वप्रतिपादनं न बुद्धिपूर्वकं पूर्वमेव तस्य गिरा कृतत्वात्। ईश्वरज्ञानेन च सहतेषां विद्यमानता कया रीत्या सम्भाव्या? विषयता- सम्बन्धेनेतिचेन्न, त्रिकालवेदिनस्तस्य निखिलमपि वस्तु ज्ञानविषयीभूतं, तथासतितस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। "यथास्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति तथैव पूर्वस्मिन्नग्रे भविष्यन्तिच, कुतः-ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च"। पूर्वं तु शब्दार्थसम्बन्धाएव नित्यत्वेन प्रतिज्ञाताः, सम्प्रति अक्षरमपि तथात्वेनाऽनुगृहीतम्, उचितमेव समदर्शस्तस्य तथाचरणम्। परन्तु शब्दात्प्रागक्षरसंनिवेशस्तस्य पूर्ववर्त्तित्वेऽपि कुतोन कृत इति जिज्ञासास्पदम्। अस्तु, पुरातनोचार्यकृतितः किमपि वैशिष्ट्यं त्वावश्यकमेव नूतनाचार्यस्यकृतौ। ईश्वरविद्याया नित्य-

किंच०--" पढ़ने पढ़ाने और पुस्तक के अनित्यत्व होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते" यहां पर पढ़ने, पढ़ाने और पुस्तक के अनित्यत्व से वेदों का अनित्यत्व कथन करना विचार पूर्वक नहीं है, क्योंकि इसका पहले ही निराकरण किया जा चुका है। ईश्वर के ज्ञान के साथ उनके होने की किस प्रकार संभावना की जा सकती है? विषयता सम्बन्ध से कहो तो भी ठीक नहीं क्योंकि सबही वस्तु उस त्रिकालज्ञ परमात्मा के ज्ञान के विषयीभूत हैं। ऐसा होने पर उस (वेद) का भी उसके ज्ञान में होना निर्विवाद सिद्ध है। "जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्व कल्पमें थे और आगे भी होंगे क्योंकि जो ईश्वरकी विद्या है नित्य एक ही रस बनी रहती है" पहले तो इस महात्मा ने शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ही नित्य होने की प्रतिज्ञा की थी और अब अक्षरों का भी नित्य होने रूप से ग्रहण किया है वैसा करना वा मानना उस (स्वा० द० न०) के लिए उचित ही है क्योंकि समदर्शी ठहरे न? परन्तु स्वामी जी से यह हम पूछना चाहते हैं कि 'शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः' इस वाक्य में आपने शब्द से पहले अक्षर का सन्निवेश क्यों न किया? जो कि उस (शब्द) के पहले से ही विद्यमान होता है। अच्छा यही सही, क्योंकि पुराने आचार्यों के कार्य से नवीन आचार्य के काम में कुछ न कुछ विशेषता तो अवश्य ही होनी चाहिए। ईश्वर विद्या के नित्य होने रूप हेतुसे वेदोंका नित्यत्व सिद्ध

त्वेन हेतुना वेदस्य नित्यत्वं साधयन् प्रष्टव्योऽयं महाभागः-वेदा ईश्वरविद्यारूपास्तद्भिन्ना वा ? तद्विद्यारूपाश्चेन्न, प्रमाणाभावात् । तस्माच्छब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वादितिवत्स्वरूपासिद्धोहेतुः । तद्भिन्नाश्चेन्न, प्रतिज्ञाभङ्गप्रसङ्गाद्भवतः ॥ किंच तथास्वीकारेऽपिनेष्टसिद्धि रीश्वरविद्याया स्तत्रोपयोगाभावात् । ईश्वरविद्याया अव्यभिचारित्वहेतुना वेदनित्यत्वं साधयन् नूं धन्यवादाँल्लभेत। कोऽन्या विद्वानेवं विधां प्रयुक्तिं कर्त्तुं पारयेत। गुणज्ञाः खलु सामाजिका ये एवंविधानेवाचार्यस्य लोकोत्तरान् प्रयोगान् विलोक्य सहृदयहृदयतां, दधतोऽनेकशः साधुवादांश्च तत्र प्रयच्छन्तः कृतज्ञतां च प्रदर्शयन्तोऽनुदिनं समाहूतनिवहेषु महामहेषु यथाप्रदेशं सविशेषं तदीययशोकश्लोकै र्वाचालयन्तिदिक्पालिम् । 'सूर्याचन्द्रमसौधाता' इतिमन्त्रार्थं करिष्यन् यदाह-- 'सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थमिति' अस्यकोऽर्थः ? उपल-

---

करते हुए इस महाभाग से पूछना चाहिए कि-- वेद ईश्वरकी विद्या रूप हैं अथवा उससे भिन्न? यदि उसकी विद्या रूप कहोतो ठीकनहीं क्योंकि प्रमाण न होने से। इस लिए शब्द अनित्य है, नेत्रोंका विषय होने से, इसके समान ही वह आप का हेतु भी स्वरूपासिद्ध है। यदि वेदों को ईश्वर की विद्या से कहो तो आप की प्रतिज्ञा भङ्ग होने का प्रसङ्ग होगा और वैसा स्वीकार कर लेने पर भी ईश्वर की विद्या का उसमें कुछ उपयोग न होने से आप की इष्टसिद्धि नहीं। ईश्वर की विद्या के अव्यभिचारी अर्थात् एक रस होने रूप हेतु से वेदों का नित्यत्व सिद्ध करते हुए आप अवश्य धन्यवादों को प्राप्तकर सकेंगे। आप के सिवा और कौन विद्वान् इस प्रकार की युक्तियों के प्रदानमें समर्थ हो सकता है और आर्यसामाजिक भी इसमें सन्देह नहीं कि बड़े ही गुणज्ञ हैं जो इस प्रकार के कार्य में अपने आचार्य (स्वा० द० ज०) की दिव्य गुण गुम्फित प्रयोगावलियोंको देख कर सौजन्य को धारण करते हुए, इस काम के लिए उन्हें अनेक धन्यवाद देते हुए और प्रतिदिन अपनी कृतज्ञता को दिखलाते हुए यथा प्रदेश बड़े २ उत्सवों में समागत जनसमूह में बड़े आदर के साथ उनके यशोगान से दिशाओं को शब्दायमान करते हैं। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता' इस मन्त्र का अर्थ करते हुए स्वामी महोदय ने जो कहा है- आसूर्य चन्द्र ग्रहणमुपलक्षणार्थम्' इसका क्या अर्थहै 'उपलक्षणहै अर्थ जिसका उसे उपलक्षणार्थ कहते हैं, यह अर्थ है अथवा-'उपलक्षण के लिए

तथा अर्थो यस्य तदुपलक्षणार्थम्, यद्वा उपलक्षणाय इदम्-उपलक्षणार्थमिति उभयत्रापि तदुपलक्षणमपेक्ष्यते, यत्कृते तदुपयोगिता भवेत्, सापिच विवर्णनीया एव। "यथापूर्वकल्पे चन्द्रादिरचनं तस्यज्ञानमध्ये ह्यासीत्तथैवतेनास्मिन् कल्पेऽपिरचनं कृतमस्तीति विज्ञायते, कुतः--ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात्। एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यम्। वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात्"। इति यदुक्तं मुण्डिना तस्याऽपितत्वं विदाङ्कुर्वन्तु भावज्ञाः। चन्द्रादिरचनं ज्ञानमध्ये ह्यासीदिति तु विलक्षणैवोक्तिः। रचनं हि क्रिया तदाश्रयः कर्म नतु कर्ता, तदीयजनकव्यापारस्तु कर्तृनिष्ठो भवत्येव। निरवयवे ज्ञानवस्तुनि च मध्यकल्पनाप्यश्रुतपूर्वा एव। वृद्धिक्षयविपर्ययाभावसन्निवेशोऽपि सविशेष इवाभाति। यदि तदीयज्ञानं न जन्यभावरूपं तर्हि

जो यह हो वह उपलक्षणार्थ कहलाता है, यह अर्थ है। इन दोनों पक्षों में उस उपलक्षण की अपेक्षा है जिस के लिए उसको उपयोगिता होगी। वह आप को खोलकर लिखनी चाहिए थी, पर आपने लिखी नहीं। अस्तु, आगे चलिये-"जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्वकल्प में थे और आगे भी होंगे क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता, सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं इन में शब्द अर्थ सम्बन्ध पद और अक्षरों का जिस क्रमसे वर्त्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है उसकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये"॥ स्वामी जी ने जो यह कहा है उसके भी तत्त्व को विद्वान् लोग जान लेवें। "चन्द्रादिरचनं ज्ञानमध्ये ह्यासीत्" अर्थात् चन्द्र आदि की रचना उस (परमात्मा) के ज्ञान के मध्य में थी। यह कथन बड़ा ही विलक्षण है। रचना नाम क्रिया का है, उसका आश्रय कर्म होता है न कि कर्त्ता। उसका जनकव्यापार कर्त्तामें स्थित होता ही है। और ज्ञानस्वरूप परमात्मा में जिसको आप निरवयव (निराकार) ही मानते हैं मध्य भाग की कल्पना भी आप से ही नवीन सुनने में आई है। क्योंकि आदि और अन्त की अपेक्षा से मध्य की कल्पना की जा सकती है। और यह आद्यन्तादि होता है सावयव वस्तु में। जब कि

यद्भावविकारषट्कं, कृत्स्नमेव तन्निषेधनीयम् । किं तदितिचेच्छृणु—भगवान् यास्काचार्यः स्वनिरुक्तनिबन्धे वार्ष्यायणिमतमवलम्ब्य सन्निरूपयामास, तथाहि षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिर्जायते ऽस्ति विपरिणमते वर्द्धते-ऽपक्षीयते विनश्यतीति' ॥ यथा—ईश्वरज्ञानं वृद्धिक्षयादिरहितत्वान्नित्यं तथैव तज्ज्ञानरूपाया विद्यायाः सृष्टत्वाद्वेदानामपि नित्यत्वमिति कथन-मपि किंविधमित्यपि सदसद्व्यक्तिहेतवः प्राज्ञाएव ज्ञातुमर्हन्ति । नित्यो-पादानं वस्तु नित्यमेव भवतीति कुतस्त्यो व्याप्तिग्रहः । नित्यप्रकृतिका स्थूल-भूतसृष्टिः केन नित्यास्वीक्रियते ? ॥ आश्चर्यं यदसौ मुण्डी हेत्वाभासकुण्ठि-तास्त्रैरेव प्रतिवादिभटान् सत्तर्कहेतिकान् विजेतमुत्तिष्ठते । इति ॥

"अत्रवेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यं प्रमाणानिलिख्यन्ते

आपके मतमें परमात्मा सावयव ही नहीं तब आपका यह सब कथन निर्मूल है। वैसे ही परमात्मा के ज्ञान में वृद्धि, क्षय और विपरीतता के न होने का सन्निवेश भी अद्भुत ही प्रतीत होता है। यदि परमात्मा का ज्ञान जन्यभाव रूप नहीं है तो क्रिया के जो छःविकार हैं उन सब का ही निषेध करना चाहिये।-- क्रिया के वे छःविकार कौन से हैं, यदि यह कहो तो सुनिए—भगवान् यास्काचार्य जी ने स्वरचित निरुक्त में वार्ष्यायणीके मत का आश्रय करके वे निरूपण किये हैं, जैसे कि-- क्रिया के छःविकार होते हैं यह वार्ष्या-यणी मुनि मानते हैं। यथा--१--उत्पन्न होता है, २-है,-३-बदलता है,४-बढ़ता है, ५-घटता है, ६-नष्ट होता है, ये छः भाव विकार हैं। जैसे कि ईश्वर का ज्ञान बढ़ने घटने आदि धर्म से रहित होने के कारण नित्य है वैसे ही उस (परमात्मा) की ज्ञानरूप विद्या से रचे हुए होने से वेद भी नित्य हैं। स्वामी जी का यह कथन किस प्रकार का है, इसमें सार क्या है, यह तो विद्वान् ही जान सकते हैं। भगवन्! यह तो बतलाइये कि जिस वस्तु का उपादान कारण नित्य होता है वह वस्तु भी नित्य होती है यह व्याप्तिग्रहण आपने कहां से किया ? पृथिवी आदि पञ्च महाभूत प्रकृति से उत्पन्न होते हैं जो कि नित्य है पर उनकी सृष्टि को नित्य कौन स्वीकार करता है ? आश्चर्य है कि यह दयानन्द हेत्वाभास रूपी कुण्ठित (खूंटे) अस्त्रों से ही प्रतिवादी रूप वीर पुरुषों को जो कि उत्तमोत्तम तर्कना रूपी शास्त्र धारण किये हुए हैं—जीतने के लिए खड़ा हुए है॥

तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिर्मुनिः । नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु कूटस्थै रविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभि रिति, इदं वचनं प्रथमान्हिकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येऽस्ति । तथा श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यःप्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः, इदम् अइउण् सूत्रभाष्येचोक्तमिति । अस्यायमर्थः-वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याःसन्ति कुतः शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः । अपायो लोपो निवृत्तिर ग्रहणम् उपजन आगमः विकार आदेशः –एते न विद्यन्ते येषुशब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः” इति यदुक्तं महाभाष्यरहस्यविदा तदपि विजानन्तु तद्विदः । साद्यर्थमित्यनेन वेदभाष्यकृतौ वैयाकरणत्वं प्रत्येतव्यम् । यच्चिकख्यापयिषया वाचालितो

“ अत्र वेदानामिति· यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इस में व्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं इनमें से जो व्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्द विद्या का मुख्य मूल प्रमाण है उसके बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं उनका ऐसा मत है कि सब शब्द नित्य हैं क्योंकि इन शब्दों में जितने अकारादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाश रहित हैं और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं उनका अभाव वा आगम कभी नहीं होता तथा कान से सुन के जिनका ग्रहण होता है बुद्धि से जो जाने जाते हैं जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं और जिनका निवास का स्थान आकाश है उनको शब्द कहते हैं इससे वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं वे भी सब नित्य ही होते हैं क्योंकि उन शब्दों के मध्यमें सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं तथा इन में लोप आगम और विकार नहीं बन सकते इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं” ॥ महाभाष्य के रहस्य को जानने वाले दयानन्द जी ने जो यह कहा है उसेभी विद्वान् लोग विचारें । वेदभाष्य बनाने में इनके व्याकरणका बोध तो–'साद्यर्थम्' इस पद से ही मालूम कर लेना चाहिए । जिसे प्रसिद्ध कराने की इच्छा से यह महाभाष्य का भाष्य करने के लिए तत्पर हुआ है । 'वेदानां नित्यत्वे व्याकरणादिशास्त्राणां साक्षितया प्रमाणानि दीयन्ते' अर्थात् वेदों के नित्य होने में व्याकरण आदि शास्त्रों के साक्षीभूत प्रमाण देते हैं, यह

धीमानृषिवर्यो महाभाष्यभाष्यं कर्तुं प्रवृत्तः। वेदानां नित्यत्वे व्याकरणादि-शास्त्राणां साक्षितया प्रमाणानि दीयन्ते इति वक्तुमुचितम्। साक्षि शब्दात् ष्यञि प्रत्ययेऽपिकृते साक्ष्य रूपं निष्पद्यते; ततः साक्ष्यमर्थो यस्यतत् साक्ष्यार्थं यद्वा साक्ष्याय इदं साक्ष्यार्थमिति रूपं स्यात्। तथा सतिवेदानां नित्यत्वे साक्ष्यार्थं व्याकरणादिशास्त्राणि प्रमाणमित्येववक्तव्यं स्यादिति। महाभाष्येच वर्णानामनेकत्वमधिकृत्य प्रोक्तं "नैवंशक्यं, अनित्यत्वमेवं स्यात्, नित्याशब्दाः। नित्येषु च शब्देषु कूटस्थै रविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमन पायोपजनविकारिभिः यदिचायं द इत्यत्र दृष्टोदण्ड इत्यत्र दृश्येत नायं कूटस्थः स्यादिति"। तत्र च "जातिस्फोटवादी व्यक्तिस्फोटवादिनं पर्य्यनुयुङ्क्ते– अनित्यत्वमिति। भवता जातिस्तावन्नाभ्युपगम्यते, व्यक्तेरेवैकत्वनित्यत्वप्रतिज्ञानात्। तच्चै-कत्वं नित्यत्वं च नोपपद्यते, दण्ड इत्युदात्तानुदात्तस्वरितादिभेदेन भिन्नत्वात्

कहना उचित है। साक्षी शब्द से ष्यञ् प्रत्यय भी करने पर साक्ष्य रूप सिद्ध होता है। इस लिए साक्ष्य है अर्थ अर्थात् प्रयोजन जिसका वह साक्ष्यार्थ कहलाता है अथवा साक्षी के लिए जो हो उसे साक्ष्यार्थ कहते हैं इस उक्त प्रकार से 'साक्ष्यार्थम्' यह रूप होगा न कि 'साक्ष्यर्थम्'। ऐसा होने पर– 'वेदानां नित्यत्वे साक्ष्यार्थं व्याकरणादिशास्त्राणि प्रमाणम्' अर्थात् वेदों के नित्यत्व में व्याकरण आदि शास्त्र प्रमाण है यही कथन बन सकेगा। और महाभाष्य में अक्षरों के अनेकत्व प्रकार केअधिकार मेंकहा है-" यह नहीं हो सकता क्योंकि ऐसामानने सेअनित्य होने का दोष आयेगा और शब्द नित्य हैं। नित्य शब्दों में नाश रहित विचलित न होने वाले, लोप- आगम- और आदेश से रहित अक्षर होते हैं। यदि यह (द) यहां पर दीखा हुवा'दण्ड, यहां पर दीख जावेगा तो यह कूटस्थ न होगा,, उसपर "जातिस्फोटवादी व्यक्तिस्फोटवादी से पूछता है 'अनित्यत्वम्, इस ग्रन्थ से; आप जाति को नहीं स्वीकार करते क्यों कि आपने व्यक्तिको ही एक तथा नित्य माना है। और वो व्यक्ति नित्य तथा एक नहीं होसकती क्योंकि 'दण्ड, इसमें पहिले और पिछले अकारको उदात्त अनुदात्त और स्वरित भेदसे भिन्न होने के कारण। एक ही को उदात्तता छोड़ कर अनुदात्तता स्वीकार करना ठीक नहीं क्योंकि रूपान्तर ग्रहण करने के कारण अनित्यता आजावेगी। इसलिये वर्णों के आकार जुदे २ और अनित्य ही हैं, केवल पहिचान मात्र

नह्येकस्यैवोदात्तत्वपरित्यागेनानुदात्तत्वं युक्तं रूपान्तरपरिग्रहादनित्यत्वप्रसङ्गात्, तस्माद्भिन्नाएवानित्याएवाकाराः । प्रत्यभिज्ञात्वा जातिनिबन्धना, जातिस्फोटपक्षोऽत्र व्यवस्थित" इति प्रदीपः । तमेवचार्थं "जातिरेवैका शब्दव्यक्तयस्त्वनन्ता इति वादीत्यर्थः । अनित्यत्वमेवं स्यादिति व्यक्त्येकत्ववादी तस्यानित्यत्वं मन्यत इति भावः । ननु विभोरेकस्यापि व्यञ्जकवशादनेकत्रोपलब्धौ कथमनित्यतेत्यत आह—भवतेति । भाष्येऽपि नित्याःशब्दा इत्यस्य तवेत्यादिः । भाष्योक्तकूटस्थत्वाभावमुपपादयति- रूपान्तरेणेति । तस्माद्भिन्नाएवानित्या एवाकारा इति पाठः । नित्याएवेति पाठस्त्वयुक्तः । अनन्तवर्णवादे तदनित्यत्वस्यैवेष्टत्वादिति बोध्यम् । यद्यप्यनुदात्तत्वादीनां ध्वनिनिष्ठत्वान्न दोषस्तथापि स्फटिकस्येवास्यापि इतरसन्निधानेन तद्रूपपरिग्रहे संसर्गानित्यताविरोधिकूटस्थत्वाभाव इति भावः" । इत्येवं स्पष्टयांबभूव भगवानुद्योतकारोऽपि । तदिदि पूर्वापरविचारपुरःसरं विलोक्य

आकार से सम्बन्ध रखती है, अतः यह सिद्ध होता है कि जातिस्फोट ही ठीक है" यह प्रदीपकार ने कहा है और उसी अर्थ को "जाति ही एक है शब्द व्यक्ति तो अनन्त हैं यह कहने वाला, इसका यह अर्थ हुवा । 'अनित्यत्वमेवं स्यात्' इस ग्रन्थ से व्यक्ति को एक कहने वाला उसको नित्य मानता है यह अभिप्राय है । इस पर शङ्का करता है कि व्यापक एक वस्तु भी अनेक स्थानों में मिल जाती है तो फिर अनित्यता कैसी इस पर कहता है 'भवतेति' भाष्य में भी ' नित्याः शब्दाः ' इसके 'तव' यह आदि में और जोड़ना चाहिये । भाष्य में कहे हुवे कूटस्थत्व के अभाव को सिद्ध करता है 'रूपान्तरेण' इस ग्रन्थ से । 'तस्माद्भिन्ना एवानित्या एवाकाराः' यह पाठ है । 'नित्याएव' यह पाठ ठीक नहीं है । क्योंकि अनन्तवर्णवादपक्ष में उसको अनित्यता ही इष्ट है यह जानना चाहिये । यद्यपि अनुदात्तत्व आदि के ध्वनि निष्ठ होने के कारण दोष नहीं है । तो भी स्फटिक की भांति इस को भी दूसरे के सन्निधान से उसके रूप को ग्रहण करने में 'संसर्गानित्यता के विरोधिकूटस्थत्व का अभाव हो जायगा यह भाव है" इस प्रकार भगवान् उद्योतकार ने भी स्पष्टरूप से कथन किया है ! उसे पूर्वापर विचार पूर्वक देख कर वेद भाष्यकार स्वा० दयानन्द के महाभाष्य के ज्ञान की प्रशंसा ही करनी चाहिए । धन्य है अज्ञान की महिमा को, जिसके वश में हुआ मनुष्य

वेदभाष्यकारस्य महाभाष्यज्ञातृत्वं प्रशंसनीयम्। अहो अज्ञानविलसितं यद्-वशो नाकलयति स्वरूपमपि जन्तुः। "ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येषु अपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं संगच्छते, इत्येवंप्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥

दाधाघ्वदाबित्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम्। अस्यायमर्थः।— सर्वसं-घाताः सर्वेषां पदानामादेशा भवन्ति। अर्थात् शब्दसंघातान्तराणां स्थाने-ष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते, तद्यथा वेद-पार-गम्-ङ-सु-भू-शप्-तिप्, इत्यस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने अम्-ड्, उँ, श्-प्-इ-प् इत्येतेऽपयन्तीति केषांचिद् बुद्धिर्भवति, साभ्रममूलैवास्ति। कुतः-शब्दानामेकदेशविकारे इत्युपलक्षणात्" इति यदुक्तं मुण्डिना तदपि विवेचयन्तु सदसद्-विवेचकाः। सर्वे सर्वेति कारिकाऽवतरणिकामवतारयन्नयं वेदभाष्यकारो महाभाष्यकारस्य हृद्यमेव

अपने स्वरूप को भी नहीं पहचानता अर्थात् भूल जाता है। "प्र०-गणपाठ, अष्टाध्यायी और महाभाष्यमें अक्षरोंके लोप, आगम और विकार आदि कहे हैं फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है इस प्रश्नका उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है जैसे वेदपारगम् ङ सु भू शप् तिप् इस पद-समुदाय वाक्य के स्थान में वेदपारगोऽभवत् इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है इसमें किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि अम् ड् उँ श् प् इप् इनकी निवृत्ति हो जाती है सो उसकी बुद्धिमें भ्रममात्र है क्यों कि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनि मुनि जी का है जिन ने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ किये हैं" स्वामी दयानन्द ने जो यह कहा है उस के तत्व को भी विद्वान्लोग विचार लें। 'सर्वे सर्वपदा०' इत्यादि कारिकाको उद्धृत करके यह वेदभाष्यकार दयानन्द महाभाष्यकार के अभिप्राय को विद्वानों के सामने स्थापित करता है। आश्चर्य है इसकी धृष्टता पर। देखिये तो सही यह योगी नये २ प्रवाह में ही रमण करता है। विदित होता है कि इसने इस प्रकरण को देखा ही नहीं और न वहां के ग्रन्थ का पूर्वापर का विचार ही किया। वहां पर आगम और आदेश पक्षको आरम्भ करके

विदुषां समक्षमुपस्थापयति । अहो धाष्टर्यमस्य, सर्वत्र नूतनत्वप्रवाह एव रमतेऽयं योगी । नालोचितमनेन प्रकरणम्, न मनसि कृतः पूर्वापरविचार-पुरःसरं तत्रत्योऽन्वयः । तत्र हि आगमादेशपक्षमुपक्रम्य सिद्धान्तभूतमादेशपक्ष-मुपसंहरन्नाह भाष्यकारः – "आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति अनागमकानां साग-मकाः" इति तत्कथमिति प्रश्ने तुल्यन्यायत्वादाह – सर्वे सर्वपदेति । दया-नन्दस्तत्र भाष्येऽपायादीन् विधत्ते । अपायो विनाशः । आगमस्तु अवस्थित-स्यापूर्वः क्रियमाणः कश्चिद्धर्मः । कारिकास्थं सर्वे ति पदं च "सर्वशब्दश्चा-त्रावयवकात्स्न्र्यवाची" इति निरूपयामासोद्योतकारः, छायापि 'नतुपदबहुत्वे इतिभावः इत्येवंनिरूपयन्तीतमेवार्थमाश्रयति। परमयंमुग्धोतुवाक्यसमुदायस्थस्या-ने तथाविधमपरं समुदायंप्रयुक्तंमन्यते।'दाधाध्वदाबित्यस्य सूत्रस्योपरि महाभा-ष्यवचनम्'इत्यय' प्रशस्यएवाधुनिकमहर्षेर्लेखनप्रकारः'सूत्रस्योपरि' इत्यस्याशयं विद्वांस एवविदांकुर्वन्तु । वस्तुतस्तु 'इति दाधाघ्वदाबिति सूत्रव्याख्यावसरे

सिद्धान्तभूत आदेश पक्ष का उपसंहार करते हुए महाभाष्यकार ने कहा है- "आगम रहित शब्दों को आगम सहित ये आदेश होंगे,, सो किस प्रकार इस प्रश्न में तुल्यन्याय होने के कारण "सर्वे सर्वपदा०,, इस कारिका से समाधान किया है । पर दयानन्द यहां पर भाष्य में लोपादि का विधान करता है । अपाय नाम है विनाश का और विद्यमान के किये जाते हुए किसी अपूर्व धर्म को आगम कहते हैं । कारिका में 'सर्वे' इस पद का—'सर्व' यह शब्द यहांपर अवयवों की सम्पूर्णता का वाचक है" भगवान् उद्योतकारने निरूपण किया है । छाया नाम की व्याख्या ने भी "पद के अनेक होने में नहीं, इसका यह तात्पर्य है" इस प्रकार निरूपण करती हुई ने उसी अर्थका आश्रय लिया है । पर यह स्वा० दयानन्द तो वाक्यसमूह के स्थान में उसी प्रकार के दूसरे समुदाय का प्रयोग मानता है । 'दाधाघ्वदाबित्यस्य सूत्र-स्योपरि महाभाष्यवचनम् ' इस नवीन महर्षि का यह लिखने का प्रकार प्रशंसनीय है । और 'सूत्रस्योपरि' इस वाक्यके अभिप्राय को विद्वान् ही जानें वास्तव में तो यदि स्वामी जी 'दाधाघ्वदा' इत्यादि वाक्य के स्थान में- " दाधाघ्वदाबिति सूत्रव्याख्यावसरे महाभाष्यकारः " ऐसा पाठ रखते तो उचित था । और "केषांचिद् बुद्धिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति" यह भी विचा-रणीय है । हम स्वामी जी अथवा उनके शिष्यवर्ग से पूछना चाहते हैं कि

महाभाष्यकारः, इति सुवचम्। "केषांचिद्बुद्धिर्भवति साभ्रमभूलैवास्ती,, त्यपि विचारणीयम्, 'भ्रममूला, इत्यस्य कोऽर्थः भ्रमोमूलंयस्याःसाभ्रममूला, इति बहुव्रीहिरभिमतः भ्रमस्य मूलमिति षष्ठीतत्पुरुषोवा ? । आद्ये-मूलपदस्य कारणपरतया कारणस्यच कार्यनियतपूर्ववृत्तितया अपायबुद्धेः पूर्वं तत्कारणीभूतं किञ्चिद्भ्रमात्मकंज्ञानमङ्गीकार्यम् । तदङ्गीकारे तस्यभ्रमरूपत्वात् कार्य सिद्धावपरबुद्ध्युत्पत्तेः किंप्रयोजनम्? द्वितीयपक्षेऽपि तदुत्तरवर्ति किञ्चिद् भ्रमात्मकंज्ञानं स्वीकार्यं यन्निरूपितकारणताबुद्धेःस्यात् । वस्तुतः'सा भ्रमात्मिकैवास्ति, इतिवक्तव्यम् । भ्रममूलत्वेचतस्याः कारणत्वमाहकुत इत्यादिना । 'शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणात्, इति । निरुक्तस्यास्य हेतोः भ्रममूलत्वस्यच साध्यस्य क्व व्याप्तिग्रहस्ते मुण्डिन्! किमस्माभिरत्रवक्तव्यम्, तर्कसंग्रहमधीयानोऽपि बालोनैवंविधमनुमानं प्रयोक्तुं शक्नुयात् । अहोसामाजिकानामास्था । एवंभूतस्यापि विद्वद्बन्धोर्महर्षित्वमङ्गीकुर्वन्ति । किमधि-

'भ्रममूला' इसका क्या अर्थ है ? 'भ्रम है मूल जिसका' यह बहुव्रीहि समास आपको अभिमत है, अथवा-'भ्रमस्यमूलम् अर्थात् 'भ्रमका मूल' यह षष्ठीतत्पुरुष ? पहले बहुव्रीहि समास के पक्ष में- मूल पदको कारणपरत्व होने से और कारण कार्य के पहले से ही विद्यमान होता है इस लिए अपाय=नाश बुद्धि से पूर्व उसका कोई कारणभूत भ्रमात्मकज्ञान अङ्गीकार करना चाहिये । वास्तव में तो स्वामी जी को 'सा भ्रममूलैवास्ति, इस वाक्य के स्थान में 'साभ्रमात्मिकैवास्ति, अर्थात् वह भ्रमरूपा ही है । यह कहना चाहिये । उस बुद्धिके भ्रम मूलक होने में कारणत्व बतलाया है 'कुतः, इत्यादि से-"शब्दों के एकदेश विकार में' इस कथन को उपलक्षणमात्र जानना चाहिये-इति । स्वामी जी ! यह तो कहिए कि आप के कथन किये हुए इस हेतु और भ्रममूलक साध्य का व्याप्ति ग्रह कहां है । हम इस विषय में अधिक क्या कहें केवल 'तर्कसंग्रह, ग्रन्थ के पढ़ने वाला भी बालक इस प्रकार के विरुद्ध अनुमान को प्रयोग में नहीं लावेगा आश्चर्य और शोक है सामाजिकों के इस विश्वासपरजो कि इस प्रकार का पाण्डित्य रखने वालेका भी महर्षि होना स्वीकार करते हैं । अधिक कहने से क्या, दयानन्द के इस लिङ्ग और लिङ्गी के ज्ञान में बस, विद्वान् ही प्रमाण हैं । अस्तु, अब आगे कुछ और भी अवलोकन कीजिए-"नैव शब्दस्यैकदेशापाय एकशोपजन एकदेशविकारेणि

केन, एतादृशलिङ्गलिङ्गिज्ञाने दयानन्दस्य विद्वांस एव प्रमाणम्, किञ्च "नैव शब्दस्यैकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि सती" इत्यत्र एकदेशस्यापाय एकदेशापायस्तस्मिन्निति शब्दस्यैकदेशापायेसति एकदेशोपजनेचसतीत्यर्थे एकदेशविकारिणि, इत्यत्रशब्दस्यकथमीन्वयःस्यात्? एकदेशविकारित्वस्यशब्दे संभवात् 'शब्द इत्यत्र सप्तम्येवोचिता । वस्तुतःशब्दस्यैकदेशापाये, इतिवत् शब्दस्यैकदेशविकारे सति, इतियुक्तं प्रतिभाति । किञ्च "नित्यस्तुस्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्' इतिमीमांसासूत्रमुद्धृत्य तद् व्याख्यानावसरे यदुक्तं--"विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति कस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वाद्,, इति तन्न युक्तम् । 'विनाशरहितत्वादित्यस्य व्यर्थत्वादुत्सूत्रार्थत्वाच्च । दर्शनस्येति वाक्ये सर्वत्र षष्ठ्यनुपपत्तेश्च । अत्रच दर्शनस्योच्चारणस्य परं प्रत्यर्थबोधकत्वाद्' इति युक्तम् । अतएव मीमांसाभाष्यकारःशबरमुनिरपि "दर्शन मुच्चारणं तत्परार्थंपरमर्थं

सति,, यहां पर 'एकदेशका नाश एकदेशापाय कहलाता है उसमें अर्थात् शब्द के एक देश का नाश अथवा एक देशका उपजन-वृद्धि वा आगम होने पर' ऐसा अर्थ करने में 'एक देशविकारिणि, इस वाक्य में शब्द का समन्वय किस प्रकार होगा? क्योंकि एक देशके विकारका होना शब्दमें ही सम्भव है इस लिए 'शब्द, यहां पर सप्तमी विभक्तिका होना ही उचित है । वास्तव में 'शब्दस्यैकदेशापाये, इस के समान ही 'शब्दस्यैकदेशविकारे सति, यह वाक्यविन्यास ही उचित प्रतीत होता है । और स्वामी जी ने 'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्, इस मीमांसासूत्रको उद्धृत करके उसकीव्याख्या करते हुए जो कहा है-"शब्द नित्य ही हैं अर्थात् नाशरहित हैं क्योंकि उच्चारण क्रिया से जो शब्द का श्रावण होता है सो अर्थ के जनाने ही के लिये है" यह कथन समीचीन नहीं है क्योंकि आपकी व्याख्या में 'विनाशरहित, इस पदके व्यर्थ होने और 'दर्शनस्य, इत्यादि वाक्य में सब जगह षष्ठी विभक्ति की उपपत्ति (प्राप्ति) न होने से । इस लिए यहां--'दर्शनस्योच्चारणस्य परं प्रत्यर्थबोधकत्वात्, अर्थात् 'दर्शन नाम है उच्चारण का वह दूसरे को अर्थ का बोध कराने वाला होताहै, । यह कथन युक्तहै । इसलिये मीमांसा शास्त्र के भाष्यकार शबर मुनि ने भी--" दर्शन कहते हैं उच्चारण को वह दूसरे के लिए अर्थ को जतलाने वाला होता है ।

प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रेहि विनष्टे शब्दे नचान्योऽन्यानर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात् । अतोनपरार्थमुच्चार्येत "अथ न विनष्टः ततो बहुश उपलब्धत्वा-दर्थावगम इति युक्तम्" इति स्पष्टयांबभूव । निरुक्तस्तु क्रमो न तदर्थबोधने क्षमइति । यच्चोक्तं- "नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् " तदपि न युक्तम् शब्दनित्यत्वस्य ज्ञाप्य ज्ञापकयोरुभयो विद्यमा-नतायामतन्त्रत्वात् । ज्ञापकस्य शब्दस्यविद्यमानतायां तन्नित्यत्वं कारण-मस्तु; परमर्थस्य ज्ञाप्यस्यसत्त्वे तन्नकारणम् । वस्तुतस्तु 'नित्यत्वे सति ज्ञाप्य-ज्ञापकभावो ऽप्युपपद्यते इति वक्तव्यम् । अतः परमुत्तरग्रन्थेन कणभक्षाऽ-क्षचरणमतमवलम्ब्यशब्दनित्यतां साधयितुं प्रवृत्तोऽयं मुण्डी विदुषां हास्या-स्पदएव । तथाहि-"अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह- तद्व-चनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' अस्यायमर्थः तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनात् धर्मस्यैव कर्त्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य

यदि उच्चारण करने के पश्चात् ही शब्दका नष्ट होना मान लिया जावे तो वह दूसरों के लिए अर्थ बतलाने वाला न होसकेगा पर यह बात नहीं है किन्तु वहनष्टनहीं होता,अतःवह बहुतसेअर्थों कानिश्चय कराने वालाअनुभव किया जाता है; यहसर्वथा युक्तहै यह स्पष्ट रूपसे कथनकिया है । और आप का प्रदर्शितक्रम उस अर्थ के बोध कराने में समर्थ नहीं है और आपने जो यह कहा है-" शब्द नित्य होने हीसे ज्ञाप्य और ज्ञापक मेंविद्यमान होता है" ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दका नित्यत्व ज्ञाप्य और ज्ञापक दोनों हीकी विद्य-मानता में स्वाधीन नहीं ; ज्ञापक शब्द की विद्यमानता में शब्द का नित्यत्व कारण रहेपर ज्ञाप्य अर्थ की विद्यमानता में वह कारण नहीं । वास्तव में "नित्यत्वेसति ज्ञाप्यज्ञापकभावोऽप्युपपद्यते" अर्थात् शब्द के नित्यहोने परही ज्ञाप्य और ज्ञापक भाव भी बनता है, यह कहना चाहिए । इससे आगे भी कणाद और अक्षपाद मुनि के मतका आश्रय लेकर शब्दका नित्यत्व साधने मेंतत्पर हुआयह दयानन्द विद्वानों मेंहंसी कराता है । और भी देखिए - "इसी प्रकार वैशेषिक शास्त्रमें कणादमुनिनेभी कहाहै(तद्वचना०) वेद ईश्वरोक्त हैंइनमें सत्य विद्या और पक्षपात रहित धर्मका हीप्रतिपादन है इससे चारों वेद नित्य हैं ऐसा ही सब मनुष्योंको मानना उचित है क्योंकि ईश्वर नित्य हैइससे उसकी विद्या भी नित्यहै"॥ अहो! आश्चर्य हैकि इन्होंने धृष्टता को

प्रामाण्यं सर्वं नित्यत्वेन स्वीकार्यम्" इति। अहोऽजितं धार्ष्ट्येन। नातिरोहितं नेदं विदुषाम्, यन्न शब्दस्य नित्यत्वमङ्गीकुर्वते काणादाः। परमयं भिक्षुकवेषधारीजगदहितकारी कणादसूत्रबलेनैव तन्नित्यतां साधयति तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति। विवेचयन्तु सुधिय एव कथमिदं सूत्रमुक्तार्थसाधकम्। शङ्करमिश्रास्तूपस्कारे-"तद्वचनादिति। तदित्यनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धिसिद्धतयेश्वरं परामृशति, यथा 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इतिगौतमीयसूत्रे तच्छब्देनानुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते तथाच तद्वचनात्तेनेश्वरेण प्रणयनादाम्नायस्यवेदस्य प्रामाण्यम्। यद्वातदितिसन्निहितं धर्ममेवपरामृशति। तथाच धर्मस्यवचनात् प्रतिपादनादाम्नायस्य वेदस्यप्रामाण्यम्। यद्धिवाक्यं प्रामाणिकमर्थं प्रतिपादयति तत्प्रमाणमेव यत इत्यर्थः। ईश्वरस्तदाप्तत्वं च साधयिष्यते"। इत्याहुः। अत्र वेदनित्यत्वलेशोऽपि नोपलभ्यते। प्रामाण्यंत्ववश्यमीश्वरोक्तत्वाद्वेदस्य साधितमेव। ननु प्रामाण्येनैव शब्दे नित्यत्वं स्यात्-शब्दो नित्यः प्रामाण्यात् तथाच

तो जीतही लिया। विद्वानों कीदृष्टिमें यह बात छिपी हुई नहीं है कि कणाद मतानुयायी शब्दके नित्यत्वको स्वीकार नहीं करते पर संन्यासी रूपधारीयह दयानन्द कणाद मुनिके सूत्रबल सेही शब्द के नित्यत्व को सिद्ध करता है। "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्,, विद्वान् लोग इसपर विचार करें कि भला यह सूत्र किस प्रकार शब्दके नित्यत्व को सिद्ध करने वाला है? शङ्कर मिश्रने उपस्कार नामक ग्रन्थ में-"तद्वचनादिति-'तत्' यह शब्द स्पष्टरूपेण कथन नकिया हुए भी प्रसिद्धसे सिद्ध होने के कारण ईश्वरसे सम्बन्ध रखताहै अर्थात् तत् शब्दसे ईश्वर हीका बोधहोता है जैसेकि—"असत्य व्याघात और पुनरुक्त दोषोंसे वहप्रामाणिक नहीं" इस गौतमीयसूत्रमें 'तत्, शब्दसे खोलकर न कहा हुवाभी जैसे वेदका ग्रहण किया जाता है। वैसेही यहांपर 'तत्' शब्दसे ईश्वर जानना चाहिए। तब इसका स्पष्ट अर्थ यह होता हैकि-ईश्वरोक्त होनेसेवेद प्रामाणिक है। अथवा प्रसंगवश वहां 'तत्' शब्द धर्मको बतलाता है। अर्थात् धर्मका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे वेद प्रामाणिक है क्योंकि जोवाक्य प्रामाणिक अर्थ को प्रतिपादन करता है वही प्रमाण होता है। ईश्वर और उसका आप्तत्व अर्थात् यथार्थ वक्ता होना सिद्ध किया जायगा" इस प्रकार कथन किया है। इसमें वेदके नित्य होने का कुछभी अंश प्रतीत नहीं होता।

शब्दात्मकस्य वेदस्यापि भगवदुक्तत्वात्प्रामाण्येन नित्यत्वं सिध्येदितिचेन्न। त्वन्नयेन विप्रलम्भकवाक्ये हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्। पक्षे हेत्वभाव एव स्वरूपासिद्धिः। वञ्चकवाक्यस्याप्रमाणत्वेन तद्विरोधिप्रमाणत्वं तत्र न सम्भवति। कणभुगभिप्रायानुसारिणस्तु शब्दस्य नित्यत्वं नाङ्गीकुर्वन्त एव। तथाहि– जयनारायणभट्टाचार्यः स्वीये शास्त्रार्थसंग्रह'नामके प्रबन्धे 'कः उत्पन्नः को विनष्टः इत्युत्पादविनाशप्रतीतिः शब्दस्यानित्यत्वात्' इति स्पष्टमेव शब्दनिरूपणावसरे वैशेषिकनयमनुसृत्यानित्यतां शब्दस्य साधयति। किंच भगवता कणादेनापि साक्षात्कण्ठतः शब्दस्यानित्यत्वेऽनेके हेतवस्तत्र तत्र प्रदर्शिताः। द्वितीयाध्यायान्तर्गतद्वितीयाह्निकस्य कानिचित्सूत्राणीहापि समुल्लिख्यन्ते। व्याख्यानं तु तेषां विस्तरभिया न विधास्यते। तदधिकजिज्ञासुभिः शङ्करोपस्कारादयो ग्रन्था अवलोकनीयाः। कणादसूत्राणि पुनः–

हां ईश्वरोक्त होनेसे वेदका प्रामाण्य अवश्य सिद्ध कियाहै यदि यह कहोकि प्रामाण्य होने से ही शब्द में नित्यत्व सिद्ध हो जायगा क्योंकि 'शब्द नित्य है प्रामाण्य होने से' वैसे ही शब्दात्मक वेद ईश्वरोक्त है अतएव प्रामाण्य होने से उसका नित्यत्व सिद्ध हो जायगा। यह कथन समीचीन इस लिए नहीं कि आपकी नीति से प्रतिज्ञात अर्थ को सम्पादन न करने वाले वाक्य में हेतुस्वरूपासिद्धि दोष है। पक्ष में हेतुका अभाव ही सिद्धि कहलाती है वञ्चक (ठग) का वाक्य प्रमाण नहीं हुआ करता अतएव उस में प्रमाणत्व नहीं होता। कणाद मुनि के मतको मानने वाले शब्द को नित्यत्व स्वीकार ही नहीं करते। और जयनारायण भट्टाचार्य भी अपने 'शास्त्रार्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ में- 'क' उत्पन्न हुआ, 'क' नष्ट हुआ इस प्रकार अक्षरों के उत्पन्न और नष्ट होने की प्रतीति होने से सिद्ध होता है कि शब्द अनित्य है, शब्दनिरूपण के प्रकरण में वैशेषिक मत को मान कर वह स्पष्ट रूप से शब्द को अनित्यत्व को सिद्ध करते हैं। और भगवान् कणाद मुनि ने भी शब्द के अनित्य होने में वहां अनेक हेतु दिखलाये हैं। द्वितीयाध्याय, द्वितीय आन्हिक के कुछेक सूत्र यहां पर भी लिखते हैं; पर उनकी व्याख्या हमने यहां विस्तार भयसे नहीं की है, जो अधिक जानना चाहैं वे 'शङ्करोपस्करादि' ग्रन्थों में देखलें। वे कणाद सूत्र ये हैं:– 'सतो लिङ्गाभावात्। नित्य वैधर्म्यात्' इत्यादि ऊपर मूल में देखिए। इत्यादि सूत्रों से जबकि शब्द का

अतोलिङ्गाभावात्। नित्यवैधर्म्यात्। अनित्यश्चायं कारणतः। नचासिद्धं विकारात्। अभिव्यक्तौ दोषात्। संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्चशब्दनिष्पत्तिः लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः' [अ० २, आ०२, सू०२६-३२। इमानि, इति। तथापि दयानन्दो वैशेषिकमतेन शब्दात्मकस्यवेदस्य नित्यत्वं साधयन् निरुक्तौ तत्सा-हसकृतेऽनेकसाधुवादै स्तोषणीयएव, यतस्तेनाऽपूर्वमिदमाचरितम्। अथवा प्रष्टव्यास्तदनुयायिनः सामाजिकाः किमिदं विजयां निपीय प्रललाप सर्वथा-ऽसंबद्धमिदमयतामृषिवर इति। सुधियएवाग्रे विभावयन्तु। न्यायनयेनाप्यधुना वेदनित्यतां प्रतिपादयति- "तथाऽस्वकीये न्यायशास्त्रे गौतममुनिरप्यत्राह मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्चतत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' । अ०२, आ० १ सू० ६७। अस्यायमर्थः-तेषांवेदानांनित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यंसर्वैःस्वीकार्यम् वेदनित्यत्वसाधनाय प्रयतमानोऽप्ययमत्र निरुक्तवाक्ये तन्नित्यतां सिद्ध-तयैव निर्दिशतीति नियतमुपहासीकृता मतिर्दयानन्देन क्वचिदितिमन्ये।

अनित्य होना स्पष्ट सिद्धहै तोभी दयानन्द वैशेषिक मुनिकेमतसे शब्दात्मकवेद कानित्यत्व सिद्धकरता है, अतःइस साहस केलिएइसे अनेक धन्यवाद प्रदान करने चाहियें क्योंकि इसनेयह अपूर्व कामकियाहै। इनके मतपर चलनेवाले सामाजिक लोगोंसे पूछना चाहिए कि आप के इस ऋषिवर्य्य जीने क्या भांग पीकर यहअण्डबण्ड बकाहै ? अस्तु, अबविद्वान् लोगकुछ आगेभी विचारकरें क्योंकि अबये न्यायके मतसे भीवेदके नित्यत्व कोसिद्ध करतेहैं-वैसेही न्याय शास्त्रमें गोतम मुनिभी शब्द कोनित्य कहते हैं (मन्त्रायु०) वेदों कोनित्य ही मानना चाहिए क्योंकि सृष्टिके आरम्भ सेलेकर आज पर्य्यन्त ब्रह्मादिजितने आप्त होते आयेहैं वेसब वेदोंको नित्यहीमानते आये हैं उनआप्तों काअवश्य हीप्रमाण मानना चाहिये,, इस प्रकार वेदका नित्यत्व सिद्ध करनेमें प्रयत्न करता हुआयह (स्वा०द०स०) इस पूर्वोक्त वाक्यमें उस (वेद) केनित्यत्व का सिद्धता से ही निर्देश करता है। इससे मालूम होताहै कि स्वा० दयानन्दने अपनी बुद्धि तो निश्चय कहीं किसी कोभेटमें हीदेदी। अच्छा आगे चलिये —"कुतश्चित्-क्योंकि आप्तलोग वे होते हैं जो धर्मात्मा कपट छलादि दोषोंसे रहित सबविद्याओं से युक्त महायोगी और सब मनुष्यों केसुख होनेके लिये सत्यका उपदेश करने वाले हैं जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता उन्होंने वेदोंका यथावत् नित्य गुणोंसे प्रमाण किया है' स्वामी

"अतः आप्तप्रामाण्यात्, यस्मात्तैः कपटछलादिदोषरहितैर्दयालुभिःसत्यो-
पदेष्टृभि विद्यापारगै र्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं
स्वीकृतमतः"। इतियदुक्तं तन्न युक्तम्, आप्तप्रामाण्यादित्यस्य आप्तोक्त-
प्रामाण्यादित्यर्थभावात्। नचवेदानां प्रामाण्यं पुरातनैरङ्गीकृतमतएव अपितु
आप्तोपदेशत्वादेव प्रामाण्यं सर्वत्र सम्भवति। आप्तोपदेशमूलाश्च वेदा-
स्तस्माद् वेदाः प्रमाणम्, आप्तोक्तत्वात् मन्त्रायुर्वेदवत् इत्यनुमानमेव तत्र
मानम्। एवंच सूत्रेआप्तपदेन आप्तोपदेशएव गृह्यतेतदेव दर्शयतिभगवान्
भाष्यकारो वात्स्यायनमुनिरपिः-" आप्ताः खलुसाक्षात्कृतधर्माणः "।
" हन्त वयमेभ्यो यथादर्शनंयथाभूतमुपदिशामस्त इमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमाना हेयं
हास्यन्त्यधिगन्तव्यमेवाधिगमिष्यन्तीति। एवमाप्तोपदेशः; एतेनत्रिविधेनाप्त-
प्रामाण्येन परिगृहीतोऽनुष्ठीयमानोऽर्थस्य साधकोभवति। एवमाप्तोपदेशः
प्रमाणम्, एवमाप्ताः प्रमाणम्"। इतिसूत्रगतोदाहरणपदव्याख्यानंतुसर्वथा-

---

जीका यहकथन ठीक नही, क्यों कि 'आप्तप्रामाण्यात्, इसका भावार्थ यहहै
किवेद प्रमाण इसलिये हैं किवेद आप्त (यथार्थवक्ता अर्थात् परमात्मा)के
कथन किये हुएहैं। कुछइस लिये नहीं कि वे सत्यवक्ताओं के प्रमाण किये
वा माने हुएहैं और नवेदोंका प्रामाण्य इसहेतुसे हैकिवे बहुत पुराने अथवा
पुराणों सेउनका प्रामाण्य प्रमाणित होना स्वीकारकिया गयाहै,क्योंकिआप्तो-
क्त होनेसे ही सबजगह प्रामाण्य होता है। क्योंकि वेद ईश्वरोपदिष्ट हैं और
ईश्वर आप्त (यथार्थवक्ता) है अतः वे प्रमाण हैं जैसेकिआप्तोक्त होनेसे
मन्त्र और वैद्यकशास्त्र। बसयही अनुमान उसमें प्रमाण है। इसी प्रकार इस
पूर्वोक्त सूत्र में 'आप्त, पदसे आप्तोपदेश ग्रहण किया जाताहै। वही
भाष्यकार भगवान् वात्स्यायन मुनि भी प्रतिपादन करते हैं यथा–
" आप्त पुरुष वे होते हैं कि जिन्होंने अपनी ज्ञान दृष्टि से सब पदार्थों को
साक्षात् ज्यों का त्यों ठीक २ जान लिया हो "-"हम इन साधारण बुद्धि
मनुष्यों के लिये ठीक २ शास्त्र के कथनानुसार वही उपदेश करें कि जिसे सुन
और धारण करके ये त्याज्य कर्म को त्यागदें और ग्राह्य को ग्रहण करलेंगे।
ऐसे शुद्ध विचार से किया हुआ सत्यवक्ताओं का उपदेश आप्तोपदेश कहलाता
है जोकि इसतीन प्रकारके आप्तप्रामाण्यसे ग्रहण किया हुआ और तदनुसार
वर्त्ताव करने से कार्यसाधक होता है, अतएव आप्त पुरुष और उनका उपदेश

ऽत्तं मुखिडनो वैदुषीख्यापनाय । तथाहि–" किवन्मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति" इत्यस्य 'तथैववेदानामपिप्रामाण्यं स्वीकार्य' मित्येवोपसंहारः सम्भवति, तथा च सत्यत्वेन हेतुना वेदानां प्रामाण्यमित्यापतितम् ; सत्यत्वसिद्धिश्चतत्प्रामाण्यसिद्धौ सत्यामित्यन्योन्याश्रयापत्तिः । किञ्च वेदनित्यत्वसाधनाय प्रवृत्तस्तत्प्रामाण्यसाधन एव निमग्न इतिप्रकरणविरोधोऽपि । किञ्चसत्यत्वेन वेदप्रामाण्यसिद्धौ ब्रह्मादिभिः स्वीकृतत्वादेव वेदानां प्रामाण्यमित्युपक्रमोपसंहारयोर्मिथो विरोधस्तथैव । मन्त्रपदस्यविचारार्थता तुचिन्त्यैव, भाष्यादिविरोधादिति,, अथच "एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् " इत्यत्रवाक्ये 'एतत्सूत्रस्योपरि' इत्यस्याशयस्तुयोगजधर्मविशेषसहायेन महामुनिना महर्षिणा महाविदुषा महाशयेन दयानन्देन समाधिस्थेन यथाकथमप्यवगतः स्यादितिसम्भावयामि ।

प्रमाण होता है । ,, अच्छा अब आगे चलिए-पाठक गण ! स्वामी जी ने अपने आशय की पुष्टि के लिए जो सूत्र उद्धृत कर उसके पदों की व्याख्या की है बस इन का पाण्डित्य प्रकट करने के लिए वही काफ़ीहै । यथाच-"किवत्-मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यत्वपदार्थविद्या-प्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति,, इस वाक्य का-'तथैव वेदानामपि प्रामाण्यं स्वीकार्यम्, यही उपसंहार होना संभव है । अब आप के इस प्रकरण में यह बात आई कि--सत्यत्व हेतु से वेदों का प्रमाण होना आया और सत्यत्व की सिद्धि उन (वेदों)के प्रमाण की सिद्धि होजाने पर सिद्ध है, सो इस प्रकार इन दोनों में यहां अन्योन्याश्रय दोष आताहै । एक दोष तो यह और दूसरी बात यह देखिएकि स्वामी जी महाराज तैयार तो हुए वेद का नित्यत्व साधने के लिए और "चुबकी खाने लगे उनके प्रमाण होने रूप साधन की खोज में । यह दूसरा प्रकरण विरोध दोष भी आन विराजा । यही नहीं और भी देखिए-जब कि सत्य होने रूप हेतु से ही वेदों का प्रमाण होना सिद्ध था तब 'ब्रह्मादिकों ने वेदों का प्रमाण होना स्वीकार किया है अतः वेद प्रमाणहैं, यह दूसरा हेतु क्या तात्पर्य रखता है ? आप के उपक्रम और उपसंहार इन दोनों का आपस में विरोध है । और 'मन्त्र,पद का 'विचार, अर्थ भी चिन्तनीय है जो कि

अहो पदविन्यासचातुरीपरम्परा विडम्बयति मृदुबोधानां बालानां 'कपाटं ताडये'त्यादि नैजव्यावहारिकवार्त्तालापान् । किञ्च वात्स्यायनमुनेरुक्तिं सर्वथाप्यजानानोऽयं ज्ञानलवदुर्विदग्धो दग्धहृदयो 'नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्ययुक्तम्' इतिवाक्यजातं पूर्वेणैव संबध्नाति। 'अयुक्तम्' इत्यस्यस्थाने च 'उक्तम्' इति पठति । अहो प्रतारकत्वं मुण्डिनः । किञ्च नित्यत्वाद्वेदवाक्यानामित्यादिपूर्वपक्षवाक्यमुत्तरपक्षत्वेनाभिमन्यमानः सावष्टम्भमस्यायमभिप्राय इत्युद्घोषयन् वेदानां नित्यत्वमेवोपपादयति वात्स्यायनमतेनापीति महच्चित्रम् । निरुक्तवाक्यस्य पूर्वपक्षतातु पूर्वापर-ग्रन्थावलोकनेन स्पष्टैव । तथाहि-मीमांसकमतेन वेदवाक्यानां नित्यत्वादेव प्रामाण्यं नत्वाप्तप्रामाण्यादित्याशंक्य तस्य चायुक्तत्वं प्रतिपाद्य तत्रैवोत्तर-ग्रन्थेनोपपत्तिं प्रदर्शयति भाष्यकारः "शब्दस्य वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमा-णत्वं न नित्यत्वात् नित्यत्वे हि सर्वस्य सर्वेण वचनाच्छब्दार्थव्यवस्थानुपप-

भाष्यादि से विरुद्ध है। और "एतत्सूत्रस्योपरि०, इस (मन्त्रायु०) सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनिने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन कियाहै,, यहां पर "एतत्सूत्रस्योपरि०,, इस वाक्यका आशयतो योगशक्ति कीसहायता सेसमाधिमें बैठेहुए ही महर्षि दयानन्दजीने ही जैसे तैसे, जाना होगा ; धन्य है इनके पदविन्यास चातुर्य को जो कि कोमलमति बालकों में 'कपाटं ताडय' अर्थात् किवाड़ खटखटाओ । इत्यादि अपने व्यावहारिक वार्त्तला-पों से विडम्बना कराता है । और देखिये कि वात्स्यायन मुनि के कथनाभि-प्राय को न जानते तथा लवमात्र ज्ञान के अभिमान से फुंके हुए ये स्वामी जी 'नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्ययुक्तम्' इस वाक्य को पहले वाक्य के साथ ही जोडते और 'अयुक्तम्' इसके स्थान में 'उक्तम्'यह पढ़ते वा लिखते हैं । आश्चर्य है इनकी इस कपट चातुरी पर । कुछ औरभी अवलोकन कीजिये-'वेद वाक्योंको नित्य होनेसे' इत्यादि पूर्व पक्ष वाक्य को उत्तरपक्ष मान कर " इसका यह अभिप्राय है " बड़े बल के साथ यह घोषणा करते हुए वात्स्यायन मुनि के मत से भी वेदों का नित्य-त्व प्रतिपादन करते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है । इस उपर्युक्त वाक्य की पूर्वपक्षता तो पूर्वापर ग्रन्थ के अवलोकन से स्पष्ट ही है। और मीमां-साशास्त्र के मत से 'वेद वाक्यों का प्रमाण नित्य होने से है आप्तोक्त होने

त्तिः । नानित्यत्वे वाचकत्वमिति चेन्न लौकिकेष्वदर्शनात् । तेऽपि नित्या इति चेन्न अनाप्तोपदेशादर्थविसंवादोऽनुपपन्नः नित्यत्वाद्धि शब्दः प्रमाणमिति । अनित्यः स इति चेद् अविशेषवचनम् । अनाप्तोपदेशो लौकिको न नित्य इति कारणं वाच्यमिति । यथा नियोगञ्चार्थस्य प्रत्यायनान्नामधेयशब्दानां लोके प्रामाण्यं नित्यत्वात्प्रामाण्यानुपपत्तिः । यत्रार्थे नामधेयशब्दो नियुज्यते लोके तस्य नियोगसामर्थ्यात् प्रत्यायको भवति न नित्यत्वादिति" एवमाप्तोक्तत्वाच्छब्दस्य प्रामाण्यम्; तत्त्वादेव वेदानामपि प्रमाणता । वेदानां नित्यत्वं तु सम्प्रदायप्रयोगाभ्यासाविच्छेदादेव, न शब्दस्य नित्यत्वादिति । अत्रोद्योतकारोऽपि भगवान्न्यायवार्त्तिके- "पौरुषेयत्वमसिद्धं नित्यत्वादिति चेद् ?-अथमन्यसे नित्यानि वेदवाक्यानि नित्यत्वाच्चैषां प्रामाण्यं तस्मात् पौरुषेयत्वमसिद्धम् ? न असिद्धत्वात्सिद्धे नित्यत्वे एतद्युक्तम्, तत्तु न सिद्धमतो न युक्तमेतत् । यदि न नित्यानि कथं प्रमाणं ? प्रमेयप्रतिपाद-

---

के कारण से नहीं' यह आशङ्का करके और उसका अयुक्तत्व प्रतिपादन कर वहीं पर अग्रिम वाक्य से भाष्यकार उसकी सिद्धि दिखलाते हैं :– इस प्रकार आप्तोक्त होने से शब्द प्रमाण है वैसे ही आप्तोक्त होने के कारण वेद भी जैसे प्रमाण हैं । वेदों का नित्यत्व तो सम्प्रदायप्रयोगाभ्यासके न टूटने से है कुछ शब्द के नित्य होने से नहीं । इस विषय में भगवान् उद्योतकार ने भी न्यायवार्त्तिक में– "वेदों का पुरुषों (मनुष्यों) से रचित होना असिद्ध है नित्य होने से । यदि यह बात है तो क्या आप यह मानते हैं कि-वेदवाक्य नित्य हैं, और नित्य होने से ही इन का प्रमाण है; इस लिए इनका पुरुषों से रचा जाना असिद्ध है ? यह बात नहीं है, क्योंकि सिद्ध न होने से । यदि इनका नित्य होना सिद्ध होता तब तो यह ठीक था परन्तु वह (नित्यत्व) सिद्ध नहीं, अतः यह कथन भी युक्त नहीं । यदि वेद वाक्य नित्य नहीं तो इनका प्रमाण क्यों माना जाता है ? यथार्थ (ठीक २) ज्ञान के प्रतिपादक होने से वेदवचन प्रमाण हैं नित्य होने से नहीं" यह कह कर फिर उपसंहार में- "गुरुपरंपरागत सदा से इसके सदुपदेश का कभी विच्छेद (नाश) न होने से इस में नित्यत्व धर्म का उपचार किया जाता है" यह अच्छे प्रकार निरूपण किया है । अब स्वा० दयानन्द के अयुक्त मण्डप में पतञ्जलि मुनि का प्रवेश देखिए-" अत्र विषय इति०-इस विषय में योगशास्त्र

करत्वात्प्रमाणं न नित्यत्वाद्" इत्युक्त्वा पुनरुपसंहारे "सम्प्रदायाविच्छेदान् नित्यत्वोपचारः" इति निरूपयामासेति दिक् ॥ इदानीं दयानन्दस्याख्यानखण्डपे पतञ्जलिमुनेः प्रवेशः। तथा हि—"अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिराह—'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' अ० १ पा० २ सू०२६ । इति सूत्रमुल्लिख्य 'यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामित्यादिना, तदुक्तत्वाद्वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्ये इतीत्यन्तेन ग्रन्थेनास्यैव योगसूत्रस्य योगी व्याख्यानं विततान, परं तन्नास्मभ्यं रोचते। वेदनित्यत्वसाधनप्रक्रमे ईश्वरनित्यत्वप्रतिपादनस्य प्रकरणविरुद्धत्वात्। पातञ्जलेहि 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इति सूत्रे ईश्वरस्वरूपमुपस्थाप्य तत्र निरतिशयां सर्वज्ञतां च प्रसाध्य 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदाद्' इति सूत्रेण परमेश्वरस्य सार्वकालिकत्वात् ब्रह्मादिभ्यो गरीयस्त्वं तस्य साधयति। तेऽपि गुरवः, ते कालेनावच्छेद्यन्ते, अयं तु नावच्छेद्यते; अतस्तेषा-

---

के कर्त्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं-'स एषः इत्यादि अ० १, पा० १ सूत्र २६ को लिख कर 'जो कि प्राचीन, सृष्टि की आदि में उत्पन्न अग्नि आदि हैं उनका भी गुरु है" यहां से लेकर " उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये" यहां तक के ग्रन्थ के इसी (स एष० इत्यादि) योगसूत्र की व्याख्या इस योगी (द० न०) ने की है जो कि हमें बिल्कुल रुचिकर नहीं है क्योंकि वेदों के नित्यत्व साधन प्रकरण में ईश्वर के नित्यत्व का प्रतिपादन करना सर्वथा प्रकरण विरुद्ध है। पतञ्जलि मुनि प्रोक्त योगशास्त्र में "अविद्या आदि क्लेश, कर्मफल और उनकी वासनाजन्य भोगों से रहित जो पुरुष है वह 'ईश्वर' है" इस सूत्र से ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन कर और वहां उसकी सर्वज्ञता को सिद्ध करके 'पूर्वेषामपि गुरुः' इत्यादि सूत्र से परमेश्वर का सब काल में विद्यमान होना और ब्रह्मादि से अधिक उसका महत्त्व सिद्ध किया है, यथा वे ब्रह्मा आदि भी गुरु हैं, परन्तु वे काल (अपने नियमित समय) से तिरोहित होजाते हैं पर यह (परमेश्वर) कभी दूर नहीं होता अर्थात् सर्वदा एक रस बना रहता है इस लिए यह उन ब्रह्मादिकों का भी गुरु है। जैसे इस वर्त्तमान सृष्टि के आदि में यह विद्यमान था वैसे ही इससे पूर्व की सृष्टियों में भी और इसी प्रकार आगे भी सर्वदा विद्यमान रहेगा। यहां पर सूत्रभाष्यकारों ने कहीं भी वेदों का नित्यत्व नहीं दिख-

भ्यर्यं गुरुः । यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथाऽतिक्रान्तसर्गादिष्वपि भवत्येवेति भावः । अत्र वेदनित्यत्वं क्वापि नोपदर्शितं सूत्रभाष्यकारैः । तथाच सर्वं मुधाप्रलपितं लुठिङनः । यदि पातञ्जले काचिदुक्तिर्वेदनित्यत्वप्रतिपादिका उपादीयेत, तदा तत्र प्रस्तूयेताऽपि विचारः । 'स एषः' इति पदजातमपि न सूत्राङ्गं, अपि तु तत्पातनिका एवेति ॥ अत्रैवार्थे "निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्" इति कापिलमपि सूत्रमुद्धरन् साहसिकएवायं सर्वथापियतो वेदानांस्वतः प्रामाण्यप्रतिपादकेन सूत्रेण नित्यत्वं साधयितुं प्रयतते । विज्ञानभिक्षुणाप्येतत्सूत्रपातनिकायां तथैवोपन्यस्तम्:—'नन्वेवं यथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वकत्वाल्लुकवाक्यस्येव वेदानामपिप्रामाण्यं नस्यात्, तत्राह'-'निजशक्त्यभिव्यक्तेःस्वतः प्रामाण्यम्' प्रामाण्याशङ्कायां सूत्रस्योत्थानम्, अतस्तत्प्रतिपादन एवसूत्रस्य सार्थक्यं न नित्यत्वप्रतिपादने वेदानामित्यत्वप्रतिपादकं किञ्चित्पदमपिनात्रोपलभ्यते

साया । इस लिए स्वामी जी का यह सब कथन व्यर्थ का प्रलापमात्र ही समझना चाहिए। क्योंकि पातञ्जल योगसूत्र में वेदों के नित्यत्व को प्रतिपादन करने वाला कोई वचन यदि होता तब तो वहां एतद्विषयक इनका विचार सङ्गत होना सम्भव था अन्यथा व्यर्थ ही है। और 'स एष' यह पदसमूह भी सूत्रका अङ्ग नहीं, किन्तु उस (सूत्र) की पातनिका ही है। इसी विषय में "निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्,, इस कपिल सूत्र का उद्धृत करना केवल इन का साहस मात्र ही है; क्योंकि जो सूत्र वेदों का स्वतः प्रमाण होना सिद्ध करता है उस से ये वेदोंके नित्यत्व साधन का यत्न करते हैं। विज्ञान भिक्षु ने भी इस सूत्रकी पातनिका.............. में यही प्रतिपादन किया है-वहां पर कहा है-"निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्, वेदके प्रामाण्य होनेकी आशङ्का में यह सूत्रउठाया गयाहै इसलिए उनके प्रमाणत्व प्रतिपादन में हीसूत्रकी सार्थकता है नकि उनके नित्यत्वकी सिद्धि में। वेदों का नित्यत्व प्रतिपादन करनेवाला कोईपद भी इसमें नहीं दीख पड़ता। वहां स्पष्ट रूपेण जोइसकी व्याख्या की है वह यहहै-"वेदों कीअपनी स्वाभाविकी यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने वाली जो शक्ति है उस का मन्त्र और वैद्यक शास्त्रादि में प्रकट होना दीखने से सब वेदों का स्वतः ही प्रमाण होना सिद्ध होता है नकि वक्ता केयथार्थ ज्ञानादि हेतुसे। जैसा

"वेदानां निजास्वाभाविकी या यथार्थज्ञानजननशक्तिस्तस्या मन्त्रायुर्वेदादावभिव्यक्तेरुपलम्भादखिलवेदानामेवं स्वत एव प्रामाण्यं सिध्यति न वक्तृयथार्थज्ञानमूलत्वादित्यर्थः । तथाच न्यायसूत्रम्—मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमिति" इत्यादि सांख्यप्रवचनभाष्येऽपि प्रामाण्यमेव वेदस्य संस्थापितम्, न नित्यत्वम् । किञ्च "नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत्" इति कापिलसूत्रेण स्पष्टमेवानित्यत्वं वेदानामुक्तम् । तथाप्ययं भाष्यभूमिकाकारो न त्रपते प्रतारयन्प्राकृतजनानन्यथार्थविवर्णनेनेति । भगवतोव्यासस्यापि वेदनित्यत्वप्रतिपादकं सूत्रमुदाहरति- 'शास्त्रयोनित्वात्' इति । विचारयन्तु विद्वांसः, कथमनेन सूत्रेण वेदानां नित्यत्वं सिध्यति ? प्रत्युततस्यानित्यत्वमेवानेन सूच्यते । शास्त्रस्य ऋग्वेदादेः प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म' इत्ययमेव निरुक्तसूत्रस्य स्पष्टोऽर्थः । तथाच कारणाद् ब्रह्मणः ऋक्शाद्धेदस्योत्पत्तौ स्वीकृतायां कथं तस्य नित्यत्वं सम्भवति

कि न्यायसूत्र में वर्णित है— "मन्त्र और वैद्यकशास्त्र के प्रमाण होने के समान वेद प्रमाण हैं"। इत्यादि सांख्यप्रवचन भाष्य में भी वेदों का प्रमाणत्व ही प्रतिपादन किया है, नित्यत्व नहीं। और भी देखिये कि- "नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत्" इस कपिल मुनि के सूत्र से स्पष्ट ही वेदों का अनित्यत्व प्रतिपादन किया है तो भी यह भाष्यभूमिकाकार स्वा० दयानन्द अपने असत्यतापूर्ण वचनों से साधारण बुद्धिजनों को ठगते हुए लज्जित नहीं होते यह बड़े शोक की बात है। भगवान् व्यासजी के भी सूत्रको वेदों के नित्यत्व प्रतिपादनार्थ स्वामी जी उदाहरण में देते हैं- "शास्त्रयोनित्वात्" विद्वान्लोग विचारें कि इस सूत्रसे वेदों का नित्यत्व क्योंकर सिद्ध होता है? बल्कि इससे तो उस (वेद) का अनित्य होना सूचित होता है । 'दीपक वा सूर्य के समान सब अर्थों को प्रकाशित करने वाले ऋग्वेदादि वेदों के रचने का कारण ब्रह्म है' इस पूर्वोक्त सूत्रका यह अर्थ स्पष्ट ही है। और यह तो बतलाइये कि कारण ब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति स्वीकार कर लेने पर उनका नित्यत्व कैसे सम्भव है ? क्योंकि उत्पन्न होने वाले पदार्थ का नित्यत्व किसी को भी अभिमत नहीं है। इस लिए यह सब कथन निस्सार ही है। और इसके अतिरिक्त स्वामी जी ने जो यह कहा है- "जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध

नह्युत्पत्तिमतो भावस्य नित्यत्वं कस्याप्यभिमतम् । तस्माद्यत्किञ्चिदेत-
त्सर्वमिति । यच्चोक्तं“ यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदानित्याः सन्तीति निश्चयो-
ऽस्ति । तथा युक्त्यापि । तद्यथा नासत आत्मलाभो नसतआत्महानम्, योऽ-
स्ति स भविष्यति, इति न्यायेनवेदानां नित्यत्वं स्वीकार्यम्” इति तन्नयुक्तं
भाति । निरुक्तसत्कार्यवादमादाय घटपटादेरपि नित्यत्वप्रसंगात् तथाच
तवैव वृद्धिमभिलषतो मूलोत्पाटनमिति महदनिष्टमापद्येत । किञ्च घटादेरि-
ववेदस्यापि नित्यत्वं स्वीक्रियते चेत् किमिति तार्किकप्रमाणाद्युत्थापनम्
उक्तन्यायस्य कार्यमात्रे समत्वात् । यच्चप्रलपितं-“ यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते तस्य
नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति” तत्तुसर्वथाप्यस्य बालिशत्वख्यापने-
ऽलम् । नित्यस्याप्यात्मनो ज्ञानादयो गुणा अनित्या एव । नित्येष्वपि पा-
र्थिवपरमाणुषु अनित्याएव गन्धादयो गुणाः एवं बहुषु नित्यद्रव्येष्वनित्या
गुणाः स्वीक्रियन्ते दार्शनिकैः । किञ्च कर्मणां नित्यत्वमस्माभि र्दयानन्दसुखे-

होता है क्योंकि असत्से सत् का होना अर्थात् अभाव से भावका होना कभी
नहीं हो सकता तथासत् का अभाव भी नहीं हो सकता । जोसत्य हैउसीसे
आगे प्रवृत्ति भीहो सकती है और जोवस्तु हीनहीं हैउससे दूसरी वस्तु किसी
प्रकारसे नहीं होसकती । इस न्यायसे भी वेदोंका नित्य ही मानना ठीक है”
यह कथनयुक्त नहीं मालूमहोता । इसकथनकिये हुएसत्कार्यवाद कोलेकर घट
(घड़ा) और पटवस्त्र आदि पदार्थों केभी नित्य होनेका प्रसंग होगा । धन्य
हैस्वामी जी ऐसा मानने परतो वृद्धि चाहता हुवा मूलधन की भी हानि
करबैठ सकने वालेके समान आपको हीबड़ा अनिष्ट आन पड़ेगा । औरघट
पटादि केसमान ही यदिआप वेद कानित्यत्व स्वीकार करतेहैंतो फिरतर्क ना
पूर्ण प्रमाणादि के उठाने का परिश्रम व्यर्थ क्यों किया? और स्वामी जीनेजो
यह कहा है—“ जो नित्य वस्तु है उसके नामगुण औरकर्मभी नित्य हीहोते
हैं” इनके अनभिज्ञत्व केप्रकट करने में सबप्रकार सेवस यहकथन ही पर्याप्त
है । भगवन् ! आत्मा नित्य है परउसके ज्ञानादि गुणअनित्यही हैं । पृथवी
केपरमाणु नित्य होनेपर भीउसके गन्धादि गुणअनित्य हैं । इसी प्रकारदर्शन
शास्त्र केविद्वान् बहुतसे द्रव्यों केनित्य होते हुएभीउनके गुणोंको अनित्य ही
मानते हैं । पर हमने कर्मों का नित्यत्व स्वा० दयानन्द जीके हीश्रीमुखसे
सुना है । क्रिया कानित्यपनकिसी विद्वान् नेभी स्वीकार नहीं किया और

नैवाकर्णितम् । नक्रियाया नित्यत्वं केनापि विदुषाऽङ्गीकृतम्नाप्युपपद्यते किं बहुना– यथा यथाऽयमर्थोऽन्तः प्रविश्य विचार्यते, तथातथा सिकताकूपवत्सर्वथापि विदीर्यतएव । तदेवमसारतरतर्कसंदृब्धत्वात् श्रुतिविरोध्यर्थप्रतिपादकत्वात् शिष्टैर्विद्वद्भिरपरिगृहीतत्वाच्चात्यन्तमेवानपेक्षाऽस्मिन् दयानन्दप्रलापे कार्या श्रेयोर्थिभिरित्यलं पल्लवितेनेति ।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः ।

वेदविषयविचारविषयः ।

अथ तावदिदमपि विचारमर्हति, यदिदमुच्यते "वेदविषयविचारविषय इति" तदपि कीदृश्यर्थे पर्यवस्यति । वेदानां विषयो वेदविषयः, वेदप्रतिपाद्योऽर्थ इत्यर्थः । वेदविषयस्य विचारो विषयो यस्य स इति वा, वेदविषयविचारस्य विषय इति षष्ठीतत्पुरुषो वा । आद्येऽपि सोऽन्यपदार्थः कः स्यात् ?

न यह घटता है । बहुत क्या कहें –जैसे२ इसअर्थ परविचार किया जाता है वैसे२ बालू केकूप (कुए) के समान सबप्रकार सेटूटता ही जाता है । इसलिए अत्यन्त निस्सार (थोथी) तर्कोंसे रचित वेदविरोधी अर्थके प्रतिपादन करने वाले अतएव विद्वानों से अग्राह्य स्वा० दयानन्द जी केइन अनर्थक वचनोंमें कल्याणार्थी विद्वान्लोगोंको अत्यन्त हीउपेक्षा करनीचाहिए । किंबहुनेतिदिक्

इति वेदानां नित्यत्वविचारः ।

वेदविषयविचारविषयः ।

अब प्रथम यह भी विचारणीय है स्वामी जी ने जो यह कहा है कि– "वेदविषयविचारविषयः" इस वाक्य की कौन से वा किस प्रकार के अर्थ में स्थिति वा समाप्ति होती है यह सामाजिकों से प्रष्टव्य है । "वेदों का विषय वेद विषय, वेद विषयक विचार जिसका विषय है" यहांपर यह 'बहुव्रीहि' समास अभिमत है अथवा 'वेद विषय के विचार का विषय' यह 'षष्ठीतत्पुरुष' ? । यदि पहला 'बहुव्रीहि' समास पक्ष मानो जिस में कि अन्य पदार्थ प्रधान होता है तो यह बतलाइये कि वह अन्य पदार्थ कौन होगा ? समग्र ग्रन्थ, ग्रन्थ का भाग अथवा उपक्रम ? । इनमें से पहला व्याहतार्थ ( ) होने से ठीक नहीं, सम्पूर्ण ग्रन्थ वेद विषयक विचार का ही विषय नहीं है

ग्रन्थो वा ग्रन्थभागो वा, उपक्रमो वा इति । नाद्यः, व्याहतार्थत्वात्, नहि समग्रोऽपि ग्रन्थो वेदविषयविचारमेव विषयीकरोति, तत्र तत्र तदतिरिक्त-विषयप्रतिपादनस्यापि दर्शनात् । किञ्च आद्यविकल्पाङ्गीकारे "ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकायां वेदविषयविचारविषय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाग्रन्थः" इत्ये-षोऽर्थः सम्पद्यते; तत्रार्थं सुधियएव विभावयन्तु कीदृगर्थो बुद्धिमारोहतीति । कश्चात्र सप्तम्यर्थः ? सर्वस्यापि सप्तम्यर्थस्य भेदघटितत्वान्नात्मनि स्वस्या-वस्थितिर्भवितुं शक्या, नहि निपुणतरोऽपि नटवरः स्वस्कन्धमारोहति इति॥ न द्वितीयः, ग्रन्थभागस्य विचारविषयत्वाभावात् । ग्रन्थोहि नाम सार्थको वाक्यसन्दर्भः । तदेकदेशोऽपि तदात्मक एव । तथाच प्रतिपाद्यार्थातिरिक्तो न कश्चन विषयो वाक्यसन्दर्भस्य सम्भवी । विचारो हि नाम मानसी क्रिया, तत्र सा एतावती ग्रन्थैकदेशस्य विषयः । तथाच सर्वथा व्याहतमुच्यते विचा-रश्च ग्रन्थैकदेशविषयश्चेति । न तृतीयः, उपक्रमस्यैव तद्विषयत्वे उपसंहारे-

---

क्योंकि उस में जहां तहां उसके अतिरिक्त और विषय का प्रतिपादन भी देखा जा रहा है । और पहले विकल्प के अङ्गीकार में "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेद विषयक विचार का विषय अर्थात् ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका ग्रन्थ" यही अर्थ होता है । उसे विद्वान् लोग ही विचारें कि इनमें से कौनसा अर्थ समीचीन रूप से बुद्धि में आरूढ होता है । यहां पर सप्तम्यर्थ कौन है ? क्योंकि सबको ही सप्तम्यर्थ के भेदघटित होने से अपने में अपनी अवस्थि-ति नहीं होसकती जैसे कि चतुर से चतुर भी नट अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता । दूसरा (ग्रन्थभाग) पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि ग्रन्थका भाग विचार विषयक नहीं होता । सार्थक वाक्य रचनाका नाम ग्रन्थ है । उस (ग्रन्थ) का एकदेश भी तद्रूप अर्थात् ग्रन्थात्मक ही होता है । और प्रतिपादनीय अर्थ को छोड़ कर कोई दूसरा विषय वाक्यरचना का संभव नहीं । मनकी क्रिया का नाम विचार है वह इतने ग्रन्थके एकदेशका विषय नहीं होसकती ।...... तीसरा (उपक्रम) पक्ष भी ठीक नहीं उपक्रम ही को उसका विषय मानलेने पर उपसंहारमें अनैकान्तिक दोष आता है और प्रकरणादि के ग्रहण में दूसरे विकल्पमें कहा दोष ज्योंका त्यों विद्यमान है । और दूसरा अर्थात् षष्ठीतत्पु-रुष समास पक्षभी समीचीन नहीं क्योंकि तत्पुरुष समास स्वीकार कर लेने पर दूसरे 'विषय' पदका ग्रहण सर्वथा व्यर्थ इस लिये है कि पहले 'विषय'

ऽनैकान्तिकत्वापत्तिः, प्रकरणाद्युपन्यासे तु द्वितीयविकल्पोक्तदोषस्तदवस्थ एवेति। नापि द्वितीयः, तत्पुरुषाङ्गीकर्त्तृमते व्यर्थएव द्वितीयविषयपदविन्यासश्रमः स्यात्, शिष्टेनैव गतार्थत्वात्। तथाहि वेदविषयो विचार्यते, वेदविषयविचारो वा प्रस्तूयते, उपदर्श्यते वेति सुवचस्त्र एवार्थः प्रतिपादितो भवतीति।

किं बहुनाऽप्रासङ्गिकेन, प्रकृतमेवानुसरामः। "चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्"। वेदविषयाः- वेदप्रतिपाद्याविषया इत्यर्थः। काण्डपदञ्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तथाच विज्ञानकाण्डं कर्मकाण्डमुपासनाकाण्डं ज्ञानकाण्डमित्यर्थो लभ्यते, अत्र वदामः न विज्ञानकाण्डं वेदप्रतिपाद्योविषयः, प्रकरणात्मकत्वात्काण्डस्य, नहि विज्ञानप्रकरणं वेदेन प्रतिपाद्यते, अपितु विज्ञानविषयकमेव तत्प्रकरणम्। इत्यमत्र काण्डपदस्य व्यर्थत्वात् "विज्ञानकर्मोपासना ज्ञानभेदात्" इत्येव उचितम् सुवचम्।

पद से ही उसके अर्थ की पूर्त्ति होजाती है। इस लिये "वेदविषयविचारविषयः" इस वाक्य के स्थान में- 'वेदविषयो विचार्यते' यह पाठ अथवा 'वेदविषयविचारः प्रस्तूयते,-उपदर्श्यते' यह कथन उत्तम प्रतीत होता है। इत्यादि अप्रासङ्गिक कथन को छोड़ कर अब हम प्रकरण ही को आरम्भ करते हैं:-

"चत्वारो वेदविषया०— वेदों में अवयव रूप विषय तो अनेक हैं परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं (१) विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना (२) दूसरा कर्म (३) तीसरा उपासना और चौथा ज्ञान है"। स्वामी जी के उपर्युक्त कथन में जो 'वेदविषयाः' यह वाक्य है उसका यह अर्थ है कि वेद में प्रतिपादनीय विषय। और 'विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्' इस में जो 'काण्ड' पद है उसका प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है इस लिए इस का अर्थ हुआ- विज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड! इस विषय में हमें यह वक्तव्य है कि विज्ञानकाण्ड वेदका प्रतिपादनीय विषय नहीं क्योंकि काण्ड नाम प्रकरण का है सो विज्ञान प्रकरण वेद से प्रतिपादन नहीं किया जाता किन्तु वह प्रकरण ही विज्ञान विषयक है, इसप्रकार यहां पर काण्ड पद व्यर्थ होने से उपर्युक्त वाक्यके स्थान में "विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानभेदात्" यह वाक्य उचित है। स्वामी जी के इस कथन पर

अत्र विचार्यते– योऽयं " दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम् ऋग्यजुःसामलक्षणम्" अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः "यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धो वेदानां क्रमस्तमनुरुध्य यथासंख्यमेव विज्ञानादिविषयप्रतिपादकत्वमृगादीनाम्, उतान्यविधया तत्र विनिगमनाविरहमादाय आथर्वणमन्त्वारो विषयाउत्तरोत्तरमपोह्यान्येषां पूर्वेषामुतर्चा चत्वारो विषयाः पूर्वं पूर्वं मपोह्यान्येषा मुत्तरेषामित्यादिप्रकारान्तरासम्भवात् यथासंख्यविषयनियोगःस्यादथ सर्वे सर्वत्रेति सन्देहे चतुष्ट्वाऽन्यथानुपपत्तेर्यथासंख्यमेव विषयविभागो भाति। अन्यथा सर्वत्र सर्वविषयप्रतिपाद्याङ्गीकारे, सति सकृदेकत्रार्थप्रतिपादने पुनस्तदर्थप्रतिपादनं पुनरुक्तिरवश्यात्, तद्भियावाचतुष्ट्वं नोपपद्येतेति। तथाच विज्ञानमृचां विषयः कर्म यजुषामुपासना साम्नामथर्वणश्च ज्ञानमित्येकैकविषयप्रतिपादनेन चतुष्ट्वमप्युपपन्नम्, क्रमश्चाभिरक्षित इति। इदन्त्वत्र विचार्यते कोऽस्ति ज्ञानविज्ञानयो-

विचार किया जाता है कि– " दुदोह यज्ञसिद्ध्यम्, ऋग्यजुः सामलक्षणम् " इत्यादि स्मृतियों और– " अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्ववेदः " इत्यादि श्रुतियों में वेदों का जो क्रम प्रसिद्ध है तदनुसार ही यथाक्रम से ऋगादि वेदों का विज्ञानादि विषय के प्रतिपादन का प्रकार आप को अभिमत है अथवा किसी अन्य रीति से ?..............

किसी अन्य प्रकारसे चार वेदों के चार विषय की सिद्धि न होने से यथाक्रम ही विषय विभाग प्रतीत होता है। इसके प्रतिकूल ऋगादि चारों वेदों में पूर्वोक्त चारों विषयों को प्रतिपादन स्वीकार कर लेने पर एक वेद में एक, स्थान पर एक अर्थ का प्रतिपादन हो जाने से फिर उसी विषय का दूसरे तीसरे और चौथे वेद में प्रतिपादन मानना पड़ेगा और ऐसा होने वा मानने से 'पुनरुक्त' दोष होगा। इस भय से चार का क्रम ठीक २ नहीं घट सकेगा, इस लिए ऋग्वेद का विज्ञान, यजुर्वेद का कर्म सामवेद की उपासना और अथर्व वेद का विषय ज्ञान है इस प्रकार एक वेद का एक विषय प्रतिपादन करने वा मानने से चार विषय का कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है और क्रम संगति भी ठीक बैठ जाती है। अब इस विषयमें यह विचार किया जाता और स्वामी जी वा उनके अनुयायियों से यह पूछा जाता है कि ज्ञान और विज्ञान में भेद क्या है? " मोक्षे धीर्ज्ञानमित्याहु विज्ञानं शिल्प-

भेद इति ? यदि "मोक्षे धीर्ज्ञानमित्याहुर्विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" इत्यभिधानबलात् कोशस्य शक्तिग्रहं प्रतिकारणत्वात् मोक्षविषया धीर्विज्ञानं शिल्पविषया शास्त्रान्तरविषया धीश्च विज्ञानमुच्यते; तदा "तत्रादिमो विज्ञानविषयोहि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः ? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्" इत्यादि सकलग्रन्थस्य स्वोक्तेनैव विरोधः स्यात्। तथाहि निरुक्तवाक्यसन्दर्भः परमेश्वरस्यैव सर्ववेदतात्पर्यविषयतया प्राधान्यं प्रतिपादयन् तद्धियोऽपि प्राधान्यं बोधयति। युक्तिसिद्धञ्च धियः प्राधान्यं तद्विषयस्य प्रधानत्वात्। साच धी मोक्षविषयत्वान्न विज्ञानरूपा। मोक्षता त्वीश्वरस्य निर्विवादैव। तथाच कथमिदमुच्यते, "तत्रादिमो विज्ञानविषयोहि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्तीति। ज्ञानविज्ञानभेदप्रतिपादकोऽन्यः कल्पस्तु न सम्भवत्येव प्रमा-

---

शास्त्रयोः" अर्थात् 'मोक्षविषयक बुद्धि को ज्ञान और शिल्प (कारीगरी) तथा अन्यान्य शास्त्र विषयिणी बुद्धि को विज्ञान कहतेहैं, कोश के इस प्रमाणानुसार यदि आप ज्ञान और विज्ञानमें यह भेद मानतेहैं तो-"(तत्रादिम इति) विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों के साक्षाद् बोध का होना उनसे यथावत् उपयोग का करना, इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है सो भी दो प्रकार का है एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचारके उनसे कार्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन २ पदार्थ किस २ प्रयोजन के लिये रचे हैं और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है"; इत्यादि सब कथन का आपके ही कथन से विरोध होगा। यह कथित वाक्य समूह सब वेदों के तात्पर्य की विशेषता होने के कारण परमेश्वर ही की प्रधानता को प्रतिपादन करता हुआ उस (परमात्मा) की बुद्धि के प्राधान्य को भी जतलाता है। बुद्धिकी प्रधानता तो उसके विषय की प्रधानता होने से युक्ति सिद्ध ही है। पर वह बुद्धि मोक्ष विषयक होने से विज्ञानरूपा नहीं

णाभावात्। किञ्च "तत्रादिम इत्यादिः प्रधानत्वादित्यन्तः पदवाक्यतदन्वयबोधार्थविन्यासोऽपि नशिष्टजनमनस्तोषीभाति। तथाहि विज्ञानविषयस्यमुख्यत्वे" विज्ञानस्य परमेश्वरादारभ्यतृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात्" इति प्रतिपादितो हेतुः कथन्तरां साध्यस्य साधने क्षम इति भगवान् दयानन्द एव जानाति। सूक्ष्मेक्षिकयाच पश्यन्तु सुधियोऽपि-कुतो विज्ञानस्येश्वरविषयता सम्भवति, ननुमर्यादैव पञ्चम्यर्थ इति चेत्, तथा सति तत्रापीश्वरानुभवः-ईश्वरविषयकानुभवो मुख्योऽस्तीत्युक्ति र्वदतोमेजिह्वा नास्तीतिवत्स्वव्याधिस्वोक्तविरोधिनी एवस्यात्। पूर्वोक्तदोषस्तु तदवस्थ एव। "साक्षाद्बोधान्वयत्वात्" इत्यत्रापि दीयतां दृष्टिः। साक्षाद्बोधोहि नाम प्रत्यक्षं, तदन्वयत्वात्, तद्धेतुत्वाद्वा स्यात्तत्सम्बन्धित्वाद्वा, सर्वथापि न सम्भवति, नहि तदेव विज्ञानं सम्बन्धिता च विषयतयैव स्यात्। स्वस्यैव हेतुर्भवितुं शक्यः, नच सर्वान् पदार्थान् साक्षाद्बोधो विषयीकरोति, इन्द्रिय-

---

और जब कि ईश्वर की मोक्षता निर्विवाद सिद्ध ही है तब आप यह किस प्रकार करतेहैंकि-"उनमें पहला विज्ञान विषय सबसे मुख्य है"। ज्ञान और विज्ञानमेंभेदबतलाने वाला पूर्वोक्तप्रकारके अतिरिक्त कोई औरप्रकारप्रमाण नहोनेसेहोसकताही नहीं।और स्वामी जीकी वाक्य रचनामें"तत्रादिमः,,यहां सेलेकर "प्रधानत्वात्, यहांतक केपद, वाक्य औरउनके अन्वय एवं अर्थादि का क्रमविद्वानोंके लिए मनोरञ्जक नहीं। इसके अतिरिक्त यहतो कहिएकि विज्ञानविषयके मुख्य होनेमें "विज्ञानस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयात्,, यहदिया हुआ आपका हेतु साध्य केसाधन में क्यों कर समर्थ हो सकता है यह तो स्वामी दयानन्दजी ही जानें। विद्वान् लोग भी सूक्ष्मदृष्टि से देखें कि विज्ञान को ईश्वरकी विषयता क्योंकर संभव है। यदि यहकहो कि मर्यादा ही पञ्चमी विभक्ति काअर्थ है तोफिर- तत्रापीश्वरानुभवः,, अर्थात् ईश्वर विषयक अनुभवही मुख्य है,, स्वामीजी का यह कथन 'मेरे मुख में जिह्वा नहीं है, इस प्रकार कहने वाले के समान अपने हीकथनका विरोधीहोगा औरपहले कहादोषउसमेंविद्यमानहीहैइसकेअतिरिक्त ,'साक्षाद्बोधान्वयात्" इस वाक्यपरभी विद्वानों को तनिक दृष्टि देनीचाहिए साक्षाद् 'बोध, का अर्थ है 'प्रत्यक्ष, 'तदन्वयात्, उस (प्रत्यक्ष ज्ञान) का हेतु अथवा सम्बन्धी होने से। इस पूर्वोक्त वाक्य का यह अर्थ होता है जो

मृत्तमतिक्रान्तानामपि पदार्थानां सत्वात् । एकत्वादेव न विषयतापि, तथा-ऽयं वाक्यसमूहः "दशदाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनं" मित्यादिवत्स-र्वथाऽप्यपार्थक एवेत्यलं सिकतानिष्पीडनेन तैलप्रत्याशयेति । ईश्वरविषय-कानुभवस्य मुख्यत्वं श्रुतिरपि साक्षादाह—"यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति । अमुमेवार्थं दृढयितुं प्रधानभूतपरमेश्वरप्रतिपादन एव सकलवेदतात्पर्यमिति प्रमाणा-न्तरनिरूपणद्वारा दर्शयति- अत्रेत्यादिना । अत्रैवार्थे प्रमाणभूतां काठकश्रु-तिमाह—"सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदि-च्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" इति । ओमि-ति पदं दृष्ट्वा तस्येश्वरवाचकत्वे प्रमाणमाह-"तस्य वाचकः प्रणवः, ओ३म् खं ब्रह्म, ओमिति ब्रह्म " इति । एषामर्थः- (सर्वेवेदा०) यत्परमं पदं मो-क्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति तदेवोंकारवाच्य-

कि किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सम्बन्धिता विषयता से होती है । वही विज्ञान अपना ही हेतु नहीं होसकता और न साक्षाद्बोध सब पदार्थों को विषयभूत कर सकता है क्यों कि ऐसे भी अनेक पदार्थ हैं जो इन्द्रियों की पहुंच से दूर हैं । और एक होने से भी विषयता नहीं हुआ करती । इसलिए यह वाक्यसमूह "दश अनार, छः पूआ, कुण्ड और मृगचर्म' इत्यादि वाक्यों के समान ही निस्सार एवं सर्वथा व्यर्थ है यह जान कर ही हम इस विषय में कुछ अधिक कहना नहीं चाहते क्यों कि वह तैल प्राप्ति की आशा से बालू रेत के निष्पीडन के समान व्यर्थ ही प्रतीत होता है । ईश्वर विषयक अनुभव के मुख्यत्व को साक्षात् भगवती श्रुति ही कहती है— "यस्मिन् विज्ञात०" जिस के जान लेने पर संसार की सब वस्तुमात्र जान ली जाती है । मृत्तिका से बने घटादि पदार्थों का नाम केवल उच्चारणमात्र ही है सत्य तो मृत्तिका ही है" इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए प्रधानभूत परमेश्वर के ही प्रतिपादन में सब वेदों का तात्पर्य है यह और प्रमाणों के द्वारा निरूपण करते हुए स्वामी दयानन्द जी अपने 'अत्रेत्यादि' लेख से दिखलाते हैं और इसी विषय में उन्हों ने प्रमाणभूत 'कठोपनिषद्' की श्रुति उद्धृत की है, यथा- "(सर्वे वेदा०)" इस मन्त्र में 'ओम्' इस पद को देखकर उस (ओम्) को ईश्वरवाचक होने में प्रमाण कहा है- "तस्य

स्ति (तस्य०)तस्येश्वरस्य प्रणवओंकारो वाचकोऽस्ति वाच्यश्चेश्वरः (ओम्०) ओमितिपरमेश्वरस्य नामास्तितदेवपरं ब्रह्मसर्ववेदा आमनन्ति । आसमन्ता-दभ्यस्यन्ति मुख्यतया प्रतिपादयन्ति (तपांसि) सत्यधर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति(यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थं ब्रह्मचर्य-गृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्तिब्रह्मप्राप्त्यभ्यास-पराणिसन्ति । यद्ब्रह्मेच्छन्तोविद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपविशन्ति च । हेनचिकेतः ! अहं यमो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि । इति ॥ श्रीमत्स्वामिप्रतिपादितोऽर्थः । अत्र वदामः- व्याख्ययानया मोक्षाख्यं यत्पदं तदेवोंकारवाच्यमस्ति ओंकारश्चेश्वरवाचकस्तथा मोक्षेश्व-रयोरभेदएव, तदेवचब्रह्मपदं सर्वेवेदा आमनन्ति आभीक्ष्ण्येन प्रतिपादयन्ति सर्वाणिच धर्मानुष्ठानानि । इत्येवार्थोलभ्यते यद्यपिसाधुरेवायमर्थः । तथापि "यदब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमानावदन्ति उपविशन्तिच इत्यादि

वाचकः प्रणवः, ओम् खं ब्रह्म, ओमिति ब्रह्म " । अच्छा, स्वामीजीने इनका जो अर्थ किया है, वह अवलोकन कीजिए—" (सर्वेवेदाः०) परमपद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है जिसमें परब्रह्म को प्राप्त होके सदा सुखमें हीरहनाजो सब आनन्दों से युक्त सब दुःखों से : रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है जिसके नाम (ओम्) आदिहैं उसी मेंसब वेदोंका मुख्यतात्पर्य हैइसमें योगसूत्र का भी प्रमाण है (तस्य०) परमेश्वर काही ओंकार नाम है— (ओम्खं०)तथा (ओमिति) ओम् और खम्ये दोनोंब्रह्मकेनाम हैं और उसीकी प्राप्ति कराने में सबवेद प्रवृत्त होरहेहैं उसकीप्राप्ति केआगे किसी पदार्थ कीप्राप्ति उत्तम नहीं है क्योंकि जगत्का वर्णन दृष्टान्त और उपयोगादि काकरना ये सबपर ब्रह्म हीको प्रकाशित करते हैं तथासत्यधर्म के अनुष्ठान जिनको तपकहते हैं वेभी परमेश्वर कीही प्राप्ति के लिएहैं तथाब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमके सत्याचरण रूपजोकर्म हैं वेभी परमेश्वरकीही प्राप्तिकराने के लियेहैं जिसब्रह्मकी प्राप्तिकी इच्छाकरकेविद्वान् लोगप्रयत्न औरउसीकाउप-देशभीकरते हैंनचिकेता औरयमइन दोनोंकापरस्पर यहसंवाद हैकिहेनचिकेतः जो अवश्यप्राप्त करनेयोग्यब्रह्महै उसीकामैंतेरे लियेसंक्षेपसे उपदेशकरताहूं" । यहस्वामी जीकृतअर्थहै इसविषयमेंहमकहतेहैं कि इस व्याख्यासे मोक्षनामकजो पदहैं वही ओंकारपदवाच्य हैऔर ओंकार ईश्वर कावाचकहै । मोक्षऔरईश्वर

पदजातं ग्रन्थकर्तुं र्व्याकृतितन्त्रप्रवीणतामनुवदद्दुनोत्येव सहृदयहृदयमिति। ब्रह्मण्येववेदानां तात्पर्यमित्यत्रार्थे प्रमाणान्तरमपिदर्शयति। तत्रापरेति। " तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति। अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते" इति मुण्डकोपनिषदि। श्रुतिरियं प्रकृतोपयोगिनी नवेति तावद् विचार्यम् प्रकरणं त्वत्र सर्ववेदानां ब्रह्मण्येव तात्पर्यमित्येव। नचानया श्रुत्यावेदानांब्रह्मणितात्पर्यमुद्दिश्यते। तथाच कथमत्र स्वामिभिरुद्धृतेयं श्रुतिरिति समाधिजबुद्धिवेद्यमेवैतत्। इति। अर्थोऽप्यस्या स्तावदालोच्यताम्- (तत्रापरा०)" वेदेषु द्वे विद्ये वर्त्तेते अपरा पराचेति,,। अत्रवेदपदं कुतोऽध्याहृतं स्वामिभिरिति नजानीमोवयम्। मुण्डकोपनिषदितुमहर्षे रङ्गिरसो ब्रह्मविद्याप्राप्तिपरम्परामुक्त्वा, तत्सकाशाद् ब्रह्मविद्यामधिजिगमिषुर्महाशालः शौनकोविधिवदुपसन्नस्तं पप्रच्छ,भगवन्! कस्मिन् विज्ञातेसर्वमिदं विज्ञातम्भवतीतिप्रक्रान्त-

में कोई भेदनहीं अतएव उसीब्रह्म पदको समस्त वेदऔर सबधर्मानुष्ठान निरन्तर प्रतिपादन करते हैं। यहीअर्थ अवगत होता है। यद्यपि यहअर्थ समीचीन है तोभी "यद् ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसः०" इत्यादि पदसमूह ग्रन्थकर्त्ता स्वा०दयानन्द जीके व्याकरण विषयक चातुर्य कोप्रकट करता हुवा अवश्य ही विद्वज्जनों के दयार्द्र हृदय को सन्तप्त करता है। 'ब्रह्ममें ही वेदोंका तात्पर्य है, इसअर्थ में स्वामीजी महाराज दूसरा प्रमाण दिखलाते हैं-" तत्रापरेति" पाठकगण! "तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः"इत्यादिमुण्डकोपनिषद्की यह श्रुति प्रकरणोपयोगिनी भी है अथवा नहीं; प्रथम तोयही विचारना उचित है। यहां पर प्रकरण यहहै सही कि वेदों का ब्रह्म में तात्पर्य है पर इस श्रुतिका यह उद्देश्य नहीं किवेदों का ब्रह्ममें तात्पर्य है। न मालूम स्वामी जीने यह श्रुति यहां पर उद्धृत कीभी क्यों ठीकहै योगी ठहरे न। यहउन्हें समाधि में ही सूझा होगा अच्छा अब इसके अर्थ की भी आलोचना कीजिए "(तत्रापरा०) वेदोंमें दो विद्या हैं एक अपरा दूसरी परा "। हम नहीं जानते कि स्वामी जी ने यहां पर वेदपद का अध्याहार कहां से किया। मुण्डकोपनिषद् में तो महर्षि अङ्गिरा की ब्रह्मविद्या प्राप्ति का वर्णन करके उनके पास ब्रह्मविद्या पढ़नेकी इच्छासे महाशाल अर्थात् परमगृहस्थ शौनक ऋषिपहुंचा और उसने उनसे विधिपूर्वक प्रश्न किया कि ' भगवन्! किस

मस्ति, अंगिरसश्च शौनकं प्रति परापररूपे ब्रह्मविद्भिः प्रदर्शिते द्वे विद्ये वेदितव्ये, इत्येवोत्तरं तथाच प्रकरणबलमादायतत्र-परापरविद्ययोर्मध्ये तावदपरा उच्यते इत्येवार्थस्तत्रापरेतिपदस्य साधीयान् भाति, अग्रेच सैवापरा 'ऋग्वेद०' इत्यादिना वेदवेदाङ्गरूपा प्रतिपादिता। किञ्च यदि दुर्जनतोषन्यायेन, यद्वा न सर्वत्र सर्वनाम्ना प्रकृतमेव परामृश्यते, "तदप्रामाण्यमनृतव्याघात-पुनरुक्तदोषेभ्यः तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" इत्यादिस्थलेषु तदिति सर्वनाम्नाऽप्रकृतयोरेव वेदेश्वरयोः परामर्शदर्शनात्, तथैवेहापितत्रेत्यनेनाप्रकृतमपि वेदग्रहणं न दोषावहमित्यभिमतम्, तदा 'वेदेषु अपराविद्या' इत्यभिधीयमाने कथमर्थबोधः सम्भवेत्, यतोहि अपराविद्या वेदवेदाङ्गात्मिका एव, तथाच वेदेषु वेदा वेदाङ्गानि वेति सर्वथापि युक्तिविरुद्धोयमर्थो न सुविचक्षणैरादरणीयः। किञ्च 'वेदेषु द्वेविद्ये वर्त्तेते' इतीदं वाक्यं ऐहिकामुष्मिकार्थविषयकज्ञानं व्यापारीकृत्य द्वावेव विषयौ निखिलवेदप्रतिपाद्या-

---

वस्तु के जान लेने पर यह सब जान लिया जाता है' वहां यह प्रकरण है। इसके उत्तर में अङ्गिरा ऋषि ने शौनक से यही कहा कि-" परा और अपरा ये दो विद्या जो कि वेदवेत्ताओंके द्वारा प्रदर्शित की गईहैं जाननी चाहिएं"। इसमें स्वा० दयानन्दप्रोक्त आशय का नाम तक नहीं है। किन्तु यदि प्रकरण बल को लेकर यह मानें तो भी वहां पर 'परा और अपरा विद्याओं में प्रथम अपरा विद्या कथन की जाती है' यही अपरा पद का सरलार्थ प्रतीत होता है और आगे वही अपरा विद्या 'ऋग्वेद०' इत्यादि मन्त्र के द्वारा वेद वेदाङ्गरूप से प्रतिपादन की गई है। और यदि दुर्जनतोष न्याय से अथवा सब जगह 'तत्, इस सर्व नाम से प्रकरणगत का ही ग्रहण नहीं किया जाता इस वचन बल से-"अनृत (मिथ्या), व्याघात और पुनरुक्त दोषां से 'वह, प्रामाणिक नहीं, ईश्वरीय वचन होनेसे वेद प्रमाण है" इत्यादि अनेक स्थानों में 'तत्, इस सर्वनाम से प्रकरणगत न होते हुए भी जैसे वेद और ईश्वरका ही ग्रहण किया जाताहै वैसे ही यहां पर भी 'तत्र, इस पद से प्रकरण में न होते हुए भी वेद का ग्रहण दोषोत्पादक नहीं'। यदि ऐसा मानोगे तो 'वेदेषु अपरा विद्या, अर्थात् वेदों में अपरा विद्या ऐसा कथन करनेपर किस प्रकार अर्थ बोध हो सकेगा? क्योंकि अपरा विद्या वेद तथा। वेदाङ्गरूपा हीहै सब वेदों में वेद तथा वेदाङ्ग

वित्यर्थपरमेव प्रतीमः, तथा सति 'चत्वारो वेदविषयाः सन्तीत्यादि-वाक्यै र्निष्पादितस्य विषयचतुष्टयस्य प्रकृतेन विरोध एव, प्रागुक्तस्यैव प्रामाण्ये वा मुण्डकश्रुत्यर्थविलोपप्रसक्तिरित्युभयतः पाशारज्जुः। किम्बहुना यथा यथायमर्थो विचार्यते तथा तथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एवेत्यलमप्रकृतेनेति। प्रकृतमेवानुसरामः-अथ स्वमनोऽनुरोधेन तावदपरां लक्षयति । तत्रयथेति । "तत्र यथा पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथा-वदुपकारग्रहणं क्रियते वा अपरोच्यते " इति । अत्रेदं तावद्वि चार्यम्-कतमः श्रुतिभागोऽपराविद्या स्वरूपप्रतिपादको भगवताऽत्र व्याख्यायते । सर्वथा-पिविवयमुदाहरार्थ एव । सोऽपि साधीयान्नवेतीदानीं विचार्यताम् ,-'पृथिवी-तृणमारभ्ये' त्यत्र पृथिवीतृणोभयोपादानप्रयोजनन्तु किञ्चिदनिर्वचनीय-रूपं स्वामिभि रेवाधिगतं स्यात् वयन्तु यदि आस्थूलादासूक्ष्माद्वस्तुज्ञान-मभिमतं स्यात् तदा ' पृथिवीमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानामितिवा, अथ अकि'

यह अर्थ सर्वथा युक्ति विरुद्ध है अतः विद्वानों के लिए माननीय नहीं- और 'वेदों में दो विद्या हैं, यह वाक्य इस लोक और पर लोक विषयक ज्ञान को व्यापार में रख कर समस्त वेद प्रतिपादनीय दो ही विषय हैं इसी अर्थ का कथन करने वाला प्रतीत होता है ऐसा होने पर-'चत्वारो वेदविषयाः सन्ति , अर्थात् वेदों में चार विषय हैं। इत्यादि वाक्यों से स्वामी जी ने जिन चार विषयों का प्रतिपादन किया है उनका प्रकृत के साथ पूर्ण विरोध ही है और पूर्वोक्त वाक्य को प्रामाणिक मान लेने पर इस मुण्डकोपनिषद् की श्रुति के अर्थ नष्ट होने का प्रसंग आता है। अब इस प्रकार दोनों ओर से स्वामी जी के लिये पाश रज्जु बन्धन समवस्थित है। बहुत क्या कहें जैसे २ इस अर्थ पर विचार किया जाता है वैसे २ ही यह (अर्थ) वालुनिर्मित कूप के समान गिरता जा रहा है अतः इस विषय को छोड़ अब हम प्रकरण को आरम्भ करते हैं— अब स्वामी जी अपने मन माने मतानुसार प्रथम 'तत्र यथा' इत्यादि वाक्य द्वारा 'अपरा' विद्या का वर्णन करते हैं— "इन में से अपरा यह है कि जिस से पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक २ कार्य सिद्ध करना होता है"। प्रथम इस में यही विचारणीय है कि इस श्रुति में अपराविद्या के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला वह कौन सा भाग है जिसकी आप व्याख्या करते हैं यह सब

त्र यत्किञ्चिद्वस्त्ववधीकृत्येष्टापत्तौ तु तृणमारभ्य सर्वमूलभूतप्रकृतिपर्य-न्तानामित्येवोचितमिति वदामः । "ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणमि"ति । ज्ञानापरपर्यायोहि ग्रहणशब्दः, तथाच ज्ञानेन उपकारज्ञानमित्यर्थे-निष्पद्यमाने तज्ज्ञानं ज्ञानाकरणकत्वाभावेन न प्रत्यक्षात्मकमित्यनुमि-तिर्वा स्यात्, शाब्दबोधो वा ? नाद्यः व्याप्तिज्ञानादेरभावात् न द्वि-तीयः, नोपकारज्ञाने पृथिव्यादिप्रकृत्यन्तपदार्थज्ञानमुपयोगि, येन तद्द्वारीकृत्य पदज्ञानं शाब्दबोधं सम्पादयेत् ! यथावदिति पदंतु ग्रहण-विशेषणं सत्तत्प्रमात्वव्यवस्थापकमित्येवाभाति । किञ्च 'यस्मिन् विज्ञाते सर्व-मिदं विज्ञातंस्यादि'त्यादि श्रुतिबलमादायपराविद्या प्रयोज्यात्मज्ञाने सत्येव सर्वज्ञानसम्भवः, नापराविद्याजनितात्मातिरिक्तवस्तुज्ञाने, तथाचोक्त-लक्षणस्य विशेषाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावमादाय लक्ष्यमात्रावृत्तित्वे गोरेकश-फत्वादिलक्षणवदसम्भवदोषदुष्टत्वात् सर्वथापि वरं तद्दानमेवद्धश्रेयोऽर्थिभि-

खींचातानी और ऊपर से जोड़ा हुआ आपका मन माना ही अर्थ है और वहभी समीचीन है या नहीं अब तनिक यहभी विचारिए 'पृथिवीतृणमारभ्य' यहां पर पृथिवी और तृणइनदोनों शब्दोंकेग्रहण काप्रयोजनतो कुछअकथनीय है जोकि स्वामी जीने ही जान पाया होगा । स्थूलसे स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म किसी वस्तुका ज्ञान यदि हमें अभिलषित हो तब हम तो यही कहते हैं कि ऐसी दशामें-'पृथिवी से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों' के, अथवा तृणसे लेकर सब की मूल भूत प्रकृति पर्यन्तों के इस प्रकार कहना उचित है । "ज्ञानेन यथाव०" इस वाक्य में ग्रहण शब्द ज्ञानका दूसरा पर्यायवाची है, इस अवस्था में उसका—'ज्ञान से उपकार ज्ञान' यह अर्थ होने पर ज्ञानको करणकारक होने के कारण वह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं होसकता तब आप उसे अनुमान मानियेगा अथवा शाब्दबोध ? पहला (अनुमान) तो व्याप्ति-ज्ञानादि का अभाव होने से नहीं माना जासकता और न दूसरा (शाब्द-बोध) ही क्योंकि पृथिवी आदि प्रकृति पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान उपकार-ज्ञान में उपयोगी नहीं, जिस से कि उसके द्वारा पदज्ञान का शाब्दबोध सम्पादन करा सके । और 'यथावत्' यह पद ग्रहण शब्द का विशेषण होता हुआ उसके यथार्थज्ञान का व्यवस्थापक ही प्रतीत होता है । और "जिस के जान लेने पर यह सब कुछ जानने योग्य जान लिया जाता है" इत्यादि

रिति। अथ "सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टाऽस्तीति वेद्यम्" इति। यद्यपि नास्त्यत्र सन्देहलवोऽपि मुण्डकोपनिषद्यपि अनुपदमेव "प्लवाह्येते अदृढायज्ञरूपाः अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म इत्यादिवाक्यैरपरायास्तज्जनितफलस्य चास्थिरतां प्रतिपाद्य "सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्" इत्यादिना ब्रह्मपरतया परायाः एव प्रशंसनेनात्युत्कृष्टत्वबोधनात्। तथापि स्वोक्तविरोधोऽपरिहार्य एव। तथाहि- तावद्विज्ञानस्य मुख्यत्वं प्रतिपाद्यानुपदमेवेश्वरविषयकानुभवात्मकस्य ज्ञानस्य मुख्यत्वमुक्तम्, तत्र च 'सर्वेषां वेदानामत्रैवतात्पर्यमि"ति वाक्यं हेतुत्वेनोपन्यस्तम्। इहापि "ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वादि"ति हेतुरभिहितः। अहो हेतुपरम्परा, नहि केवलं पञ्चमीनिर्देशोहेतुतापादकः। अन्यथा ददसद्धेतुनियमव्यवहारविलोपः प्रसज्येत। तस्मात्सर्ववेदतात्पर्यत्वं हेतुरीश्वरविषयकानुभवस्य मुख्यत्वं साधयितुं क्षमोनवेत्यत्र दीयतां दृष्टिः। यद्याद्यः- तदा किमिति "चत्वारो

श्रुति के बल से पराविद्याजन्य आत्मज्ञान के होजाने पर ही सब वस्तुओं का ज्ञान होना सम्भव है न कि अपराविद्या से हुए आत्मज्ञान के अतिरिक्त और वस्तुओं के ज्ञान से। आपका कहा हुआ यह लक्षण विशेषण के अभाव से प्रयुक्त विशेष्य के अभाव को लेकर लक्ष्यमात्र में वृत्ति न होने से गौ के एक खुर होने रूप लक्षण के समान असंभव दोष से दूषित होने के कारण सब प्रकार से त्याज्य है। और स्वामी जी ने जो यह कहा है कि- "दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है यह पराविद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है" यद्यपि इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है और 'मुण्डकोपनिषद्' में भी पद २ पर ही- "निश्चय ये अग्निहोत्रादि यज्ञ जिनमें कि सोलह ऋत्विज्, यजमान और उसकी पत्नी, इन १८ व्यक्तियों के द्वारा किया हुआ निकृष्ट कर्म अवस्थित है स्थिर न रहने वाले और नाशवान् हैं' इत्यादि वचनों से अपरा विद्या और उससे उत्पन्न फल की अस्थिरता कथन करके- "जो स्थूल और सूक्ष्म समस्त पदार्थों से ग्रहण करने योग्य, सब में श्रेष्ठ, और मनुष्यों के विज्ञान से परे अर्थात् दूर है" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म के प्रतिपादन करने वाली परा विद्या की प्रशंसा से उस (पराविद्या) का उत्तम होना स्पष्ट सिद्ध किया है तो भी स्वामी जी का अपने कथन से जो विरोध है, वह दूर नहीं होसकता। और वह विरोध यह है कि स्वामी

वेदविषयाः" इति लोचने निमील्य प्रतिपादितम् । ननु "सर्वे वेदा तत्पद मामनन्ति" इति श्रुतिसंगत एवायमर्थ इति चेन्न, श्रुत्यर्थस्यानुपदं वक्ष्यमाणत्वात् । यदि चत्वारो वेदविषया इति प्रागुक्तएवार्थोऽङ्गीक्रियते, तदा हेत्वसिद्धिः; एवञ्च कश्चित् 'पर्वतनिष्ठवन्हिकानुभवः सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमि'ति वदेत्त त्वया कथं नियोक्तव्यः स्यादिति । तस्माद्द्वितीय एव पक्षो ज्यायानिति । तथाच साधकाभावे न साध्यसिद्धिः । साध्यसिद्धौ च मूल एव कुठारपातः, अंकुर एव तुषारवर्षा, इति उत्थायोत्थायहृल्लीनदरिद्रमनोरथवत्सर्वापीयं व्यवस्थितिपरम्परा पन्थानमपश्य-

---

जी ने प्रथम विज्ञान का मुख्य होना प्रतिपादन करके फिर पद २ पर ईश्वर के अनुभव विषयक ज्ञान को मुख्यत्व कथन किया है और आगे चल कर वहां पर 'सर्वेषां वेदानामत्रैव तात्पर्यम्' यह वाक्य हेतुरूप से प्रदान किया है और यहां भी 'ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः०' यह हेतुत्वेन दिखलाया है । धन्य है इस हेतुओं की परम्परा को । स्वामिन् ! केवल पञ्चमी विभक्ति का निर्देश ही हेतुत्व का निर्वाहक नहीं हुआ करता । यदि ऐसा ही माना जाय तो सदसद्हेतु के नियम भङ्ग होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । इस लिए सब वेदों का तात्पर्य रूप हेतु ईश्वर विषयक अनुभव की मुख्यत्व सिद्धि में समर्थ है या नहीं इस पर दृष्टि दीजिए । यदि पूर्वपक्ष स्वीकृत है तो फिर आप ने-'चत्वारो वेदविषयाः' यह आंखें मीच कर क्यों लिखा ? यदि यह कहो कि 'सर्वे वेदा यत्पद०' इत्यादि श्रुति के अनुसार ही हमने यह अर्थ किया है तो यह कथन समीचीन नहीं, क्यों कि इस श्रुति के पद २ का अर्थ आगे चलकर स्पष्ट रूप से किया जायगा । यदि 'वेद में चार विषय हैं' इस पहले कहे हुए ही अपने अर्थ को आप अङ्गीकार करते हैं तो हेतु की असिद्धि स्पष्ट है । स्वामी जी ! इसी प्रकार यदि कोई यह कहे कि— 'पर्वतस्थ अग्नि विषयक अनुभव ही सब से मुख्य है क्योंकि इस में ही सब वेदों का तात्पर्य है' तो आप उस से किस प्रकार क्या पूछें वा कहें ? इस लिए दूसरा ही पक्ष उत्तम है । और यह भी तो तनिक विचार कीजिए कि साधक के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं हुआ करती और साध्य की असिद्धि होने पर मूल में ही कुठारपात और अंकुर के उगते ही उस पर हिमवर्षा होने से उनकी जो दशा होती है, ठीक वही आप अपने इस लेखकी समझिए । सो इस

न्ती पुरः संकुचिता भीता कुररीव प्रतिवादिभटश्यावमालोक्य विलीनप्रायैवेत्यलं पल्लवितेनेति। दिग्दर्शनमात्रमस्माकं, विप्रतिपत्तिजातमन्यदपि प्रतिपदं स्वयमेव सुधीभिरूहनीयम्। अथेदानीं काठकमुण्डकोपनिषद्वाक्ययोरुभयोरपि पूर्वमभिलिखितयोः शङ्करभगवत्पादाचार्यप्रतिपादितो ऽर्थयो विदुषां सौकर्याय समुद्ध्रियते। "यत्तत्पश्यसि तद्वद" इत्येवं पूर्वोक्तमन्त्रगतवाक्येन "पृष्टवते नचिकेतसे, मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्- सर्वे वेदा यत्पदमिति,- सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनाऽऽमनन्ति प्रतिपादयन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुमिच्छसि संग्रहेण संक्षपतो ब्रवीमि, ओमित्येतत्। तदेतत्पदं यद् बुभुत्सितं त्वया यदेतदोमित्योंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीकं च ॥ आनन्दगिरि

प्रकार उठर कर हृदयमें छिप जानेवाले दरिद्रजनों के मनोरथके समानही यह आपकी सब व्यवस्था अपने बचाव का मार्ग न देखती हुई, सम्मुख आये बाज को देख भयभीत तथा संकुचित कुररी पक्षी के समान ही विलीनप्राय है। इस विषय में अधिक क्या कहें। यह हमने दिग्दर्शन मात्र लिख दिया है पूर्वापर विरोध से परिपूर्ण इनके प्रत्येक पदको विद्वान्लोग स्वयं जान लेंगे। अब कठ और मुण्डकोपनिषद्के पूर्वलिखित दोनों वाक्यों के भगवान् शङ्कराचार्यकृत अर्थ को विद्वानों की सुगमता के लिये उद्धृत करते हैं। "यत्तत्पश्यसि तद्वद" अर्थात् धर्माधर्मादि से पृथक् जिस को तुम देखते हो उसको कहो। इस प्रकार पूर्वोक्त मन्त्र के वाक्य से पूछते हुए नचिकेता से पूछी हुई वस्तु को और विशेषण से कहते हुए मृत्यु ने कहा कि- 'सर्वे वेदा यत्पद०' सब वेद जिस पदका वारम्बार वर्णन करते हैं, सब तप और नियमादि भी जिसका कथन करते हैं अर्थात् उसी की प्राप्ति के लिए हैं; जिस पदकी इच्छा करते हुए गुरुकुल में रहने आदि ब्रह्मचर्य का यही नहीं किन्तु उस (ब्रह्म) की प्राप्ति के लिए अन्यान्य भी आचरण करते हैं उसे तेरे लिये जिसे कि तू जानना चाहता है संक्षेप से कहता हूं कि यह 'ओम्' है। आनन्दगिरि और गोपालयतीन्द्र कृत दोनों टीकाओं के भागको भी यहां उपयोगी जान कर लिखते हैं। "सर्वे वेदा इति०-उपनिषद् वेद के एकदेश ही हैं। इस हेतु से ज्ञानको साधन होनेके कारण उपनिषदों का साक्षाद् विनियोग किया है।

गोपालयतीन्द्रविरचितटीकाद्वयभागोऽप्युदयोगित्वपोऽत्रापिलिख्यते । "सर्वे वेदाइतिवेदैकदेशा उपनिषदः । अनेनोपनिषदो ज्ञानसाधनत्वेन साक्षाद्विनियुक्ता स्तपांसि तेषां कर्माणि शुद्धिद्वारेणाऽगतिसाधनानि" इत्यानन्दगिरिः । "उत्तरमवतारयति-एवमिति । विशेषणान्तरं चेति । ओङ्कारोपासनमित्यर्थः । सर्वे वेदा इति तदेकदेशा उपनिषद उच्यन्ते तंत्वौपनिषदमित्यादि श्रुत्या साक्षाज्ज्ञानसाधनत्वेन विनियुक्ताः" । इति गोपालयतीन्द्रः ॥ "तत्रापरेति।तत्रकाऽपरेत्युच्यते ऋग्वेदोयजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येतेचत्वारो वेदाः॥ शिक्षाकल्पोव्याकरणं निरुक्तंछन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि षडेषाऽपरा विद्या । अथेदानीमियंपराविद्योच्यते ययातद्वक्ष्यमाणविशेषणमक्षरमधिगम्यते प्राप्यते । अधिपूर्वस्यगमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात् । नचपरप्राप्तेरवगमार्थस्य भेदोऽस्ति । अविद्याया अपायएवहि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम् । नन्वृग्वेदादि बाह्या तर्हि सा कथंपराविद्या स्यान्मोक्षसाधनं च । "यावेदबाह्याः स्मृतयः" इति हिस्मरन्ति ।

अर्थात् ब्रह्म की प्राप्तिहै, यह इस में अर्थभेद नहीं है । इस में यह आशङ्का आनन्दगिरिकृत अर्थ है ।—' सर्वे वेदा'इतिवेदों का एक देश ही उपनिषद्‌ कहे जातेहैं । अर्थात् उपनिषद्‌ वेद के एक देश ही हैं जैसाकि "तं त्वौपनिषदम्" अर्थात् उस उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म को । इत्यादि श्रुति के कथन से साक्षाद् ज्ञान का साधन होने से उपनिषदों का ग्रहण किया गया है" यह गोपालयतीन्द्रकृत अर्थ है "तत्रापरेति-उन दोनों में अपरा विद्या कौनसी है, यह वर्णन करते हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद । शिक्षा, (जिसमें वर्ण और स्वरों के उच्चारण का प्रकार वर्णित है), कल्प (यथाविधि मन्त्रोच्चारणपूर्वक जिस में कर्मकाण्ड का विधान विहित है), व्याकरण-(शब्दशास्त्र), निरुक्त-(वहग्रन्थ जिस में वैदिक शब्दों का निर्वचन है), छन्दः--(पिङ्गलादि छन्दः शास्त्र) और ज्योतिष (जिसमें कि ग्रह आदि का विधान समवस्थित है) ये छः वेद के अङ्ग अपरा विद्या कहलाती है । और वह परा विद्या है कि जिसके द्वारा अविनाशी पर ब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है । ' अधि ' उपसर्ग पूर्वक ' गम् , धातु का बहुधा प्राप्ति अर्थ होता है अतः परप्राप्ति........ ....परस्पर कुछ भेद नहीं है । अविद्या का नाश हीपर तपअर्थात् उन के कर्म शुद्धि के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं" यह

कुदृष्टित्वान्निष्फलत्वादनादेयास्यात्। उपनिषदां च ऋग्वेदादिबाह्यत्वं स्यात्। ऋग्वेदादित्वेतु पृथक्करणमनर्थकम्। अथकथं परेति, न, वेद्यविषयविज्ञानस्य विवक्षितत्वात्। उपनिषद्वेद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह पराविद्येति प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशिः। वेदशब्देनतु सर्वत्र शब्दराशि विवक्षितः। शब्दराश्यधिगमेपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नोक्षराधिगमः सम्भवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः पराविद्येति कथनं चेति" ॥ अत्रोभयत्रापि प्रतिपन्नाप्रतिपन्नविचारचर्चा त्वस्माभिर्न विधीयते। विद्वांसो विवेकिनः स्वयमेवाधिगमिष्यन्ति। इदन्त्वत्र वक्तव्यम्-यदिदं श्रुतौ ब्रह्मचर्यपदोपादानमुपलक्षणार्थतया प्रतिपादितं स्वामिभि स्तन्न युक्तिसहं प्रतीयते। यतोहि ब्रह्मचर्यपदेन वशित्वमेवात्र प्रकरणे उपपाद्यते, वशित्वञ्चेन्द्रियनिग्रह-एव सम्भवति, इन्द्रियनिग्रहश्च सतृष्णस्य विषयोपलिप्तस्य पुरुषस्यासम्भवी, तथाचोपलक्षणपरत्वस्य गृहस्थाश्रमादेर्न साक्षादुपयोगित्वमात्मज्ञाने, विषय-

---

होती है कि जब परा विद्या ऋग्वेदादि से बाह्य (बाहिर) है तब वह मोक्ष का साधन कैसे हो सकती है ? क्योंकि " जो स्मृतियें (धर्मशास्त्र) वेद से बाह्य हैं वे प्रामाणिक नहीं ,, यह कथन स्पष्ट है। ऐसी दशा में वह (परा) निष्फल होने के कारण अग्राह्य होगी और उपनिषदों को ऋग्वेदादि से बाहिर होने का दोष उपस्थित होगा। और यदि उन्हें ऋग्वेदादि से भिन्न न मानकर तत्स्वरूप ही समझा जाय तो उनका पृथक् करण अनर्थक है। इत्यादि कारण से पराविद्या मोक्षका साधन कैसे ? यह आशङ्का ठीक नहीं है क्योंकि यहां ज्ञातव्य विषय विज्ञान का विवक्षित है। उपनिषदोंके द्वारा जानने योग्य परब्रह्म विषय ही विज्ञानहै, जो कि मुख्यतयापराविद्या का विषयहै, अतएव परा विद्या यहां प्रधान रूप से विवक्षित है, उपनिषच्छब्दसमूह नहीं ऋगादि वेदों में यथास्थान सब विषयों का वर्णन है, । परन्तु उपनिषदों में पर ब्रह्मका ही। अतएव ऋगादि वेदों की अपेक्षा उपनिषदों को ब्रह्म की प्राप्ति में अधिक उपयोगी जान उन्हें पराविद्यात्वेन कथन किया है, इस लिए उनके विषय में ऋग्वेदादि से बाह्य होने रूप शङ्का को यहां अवसर प्राप्त नहीं है। वेद शब्द से सब जगह शब्द समूह विवक्षित है। शब्द समूह वेदके जानलेने परभी सद्गुरु केसमीप जाने औरवैराग्य आदि दूसरे प्रयत्न के विना ब्रह्मकी प्राप्तिसम्भव नहीं,इसलिए ऋग्वेदादिसे उपनिषदों का पृथक् करण और ब्रह्म-

वितृष्णस्यैव शमदमादिसाधनसम्पत्तिमतस्तत्राधिकारात् । अतएव ब्रह्म-
विद्याप्राप्त्यर्थमागतानां गुरुसन्निधाविन्द्रविरोचनादीनां माख्यायिकासु
ब्रह्मचर्यानुष्ठानं ब्रह्मविद्याङ्गतया श्रूयते । अतएव च देहाद्व्यति-
रिक्तात्मप्रतिपादनप्रकरणे “शरीरदाहेपातकाभावात्„ इति गौतमीय-
सूत्रव्याख्यानावसरेभाष्यकृता वात्स्यायनेन मुनिना यद्येकदेहापाये
देहान्तरप्राप्तौ स वभेदोङ्गीक्रियतेतदाकृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्येत । सति
तुसत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोधे चाकर्मनिमित्तं सत्त्वसर्गं प्राप्नोति । इति देहाद्व्य-
तिरिक्तात्मानङ्गीकर्त्तृ मते दोषमुद्भाव्य' तत्रमुत्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासोऽपिनस्या-
दित्यादिग्रन्थेनब्रह्मचर्यस्य प्रतिपादिता मुक्तिप्रयोजनताऽपि संगच्छतेअपिच
पातञ्जलशास्त्रे योगाङ्गतया प्रतिपादितानां यमादीनां मध्ये यमान्तर्गतत्वेन
ब्रह्मचर्यस्यैव उपादानं कृतं न गृहस्थादे रितितत्तत्र सुधीभिरालोचनीयमिति।
किञ्चात्र वेदपदेन वेदैकदेशा उपनिषद एव ग्राह्याः । तासामपि वेदान्तर्गतत्वा-

विद्या को 'पराविद्या, इसनामसे कथनकिया है” । इनदोनों पक्षों में युक्तायुक्त
अथवा ग्राह्याग्राह्यके विचारकी चर्चा चलाना हमेंअभीष्ट नहीं है । विचार
शील विद्वज्जन स्वयमेव जानलेंगे । परन्तु यहां पर यह अवश्य वक्तव्य है
कि स्वामीजीने इस श्रुति में ब्रह्मचर्यपद के ग्रहणका जो उपलक्षण रूप से
कथन किया है वहयुक्तियुक्त प्रतीतनहीं होता । क्योंकि इस प्रकरणमें ब्रह्मचर्य
पदसे वशित्व (वशमें रखना) ही कथन किया जाता है । वशित्व इन्द्रियदमन
ही होसकता है और इन्द्रियों का वशमें होना तृष्णा से दवेऔर विषयभोगोंमें
फंसेहुए पुरुषके लिए सर्वथा असम्भव है । और उपलक्षण से प्राप्त गृहस्थादि
आश्रम आत्मज्ञान में साक्षात् उपयोगी नहीं क्योंकिउस (आत्मज्ञान) मेंविषय
भोगों की तृष्णा से रहितऔर शमदमादि साधनवाले ही पुरुष का अधिकार
है । अतएव ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए गुरुके समीप आये हुए इन्द्र और
विरोचन की कथाओं में ब्रह्मचर्य को धारण करना ही ब्रह्म विद्या का अङ्ग
सुना जाता है । इस लिए आत्मा देह से भिन्न है, इसके प्रतिपादन के
प्रकरण में- “शरीरदाहे पातकाभावात्” अर्थात् शरीरके जलाने में जब कि
वह जीव रहित होजाता है कोई पातक नहीं । इस गौतमीय सूत्र कीव्याख्या
करते हुए वात्स्यायन मुनिने यदि एकशरीरकेनाश होजाने परदूसरे कीप्राप्ति
में जीवभेद अङ्गीकार किया जावे तो किये हुएका नाश और न किये कर्म

त। अतएव 'तत्रापरा, इत्युक्त्वा ऋग्वेदादेरेवापराविद्यात्वमुद्दिश्य अथपरेति पराविद्याप्रतिपादनावसरेऽन्यतमस्य वेदस्य ग्रन्थान्तरस्य वोपादानमकृत्वैव 'यया तदक्षरमधिगम्यते, इत्युक्त्या ब्रह्मप्राप्तिसाधनभूताया एवपरा विद्यात्वमुद्दिष्टमुक्तञ्च तत्र तत्र ऋगादिवेदेष्वेवप्रतिपादितास्तियोऽयं वेदेष्वध्यात्मनिरूपणपरोभागःस उपनिषद्रूप एव। तथाच यजुषां चत्वारिंशत्तमोऽध्याय-एवेशावास्योपनिषदिति सर्वत्र बोध्यम्। अतएवनिरुक्तदैवतकाण्डे भगवान् यास्कोऽपि "तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च" इत्युक्त्वा "परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिकाः" इत्यनेनच ग्रन्थेनवेदान्तःपातिनामेव केषाञ्चिन्मन्त्राणा मध्यात्मप्रतिपादकानामाध्यात्मिकत्वमित्याह। सएवच वेदभागः साक्षात्कृतधर्मभिः परावरज्ञैर्महर्षिभिः संचित्य दयार्द्रभावापन्नैर्लोकोपकाराय उपनिषदात्मतयाव्यवस्थापित-इति। उपनिषत्त्वञ्च ब्रह्मात्मकगूढार्थप्रतिपादकत्वेनउपनिषीदन्त्यस्मिन्निति

की प्राप्ति के दोषका प्रसङ्ग आजावेगा जीवकी उत्पत्ति औरनाश होने पर अकर्म के निमित्त जीवरचना का प्रसंग प्राप्त होता है। सोइस प्रकारदेहसे भिन्नआत्मा को न मानने वालों के मतमें दोष दिखलाकर वहां मुक्तिका साधन ब्रह्मचर्य वासभी न होगा, इत्यादि कथनसे ब्रह्मचर्य को मुक्ति की प्रयोजनता भीसिद्ध होती है। और पतञ्जलि मुनिकृत योग शास्त्र मेंयोग का अङ्ग होनेके कारण कथनकिये हुए यमादिकों में यमके अन्तर्गत ब्रह्मचर्य का हीग्रहण किया है न कि गृहस्थादि आश्रमका यहविद्वानलोग वहां २ स्वयं देखलेंगे। इसके अतिरिक्त यहां पर वेदपद से वेदके एकदेश उपनिषदों काही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि वे (उनिषद्) वेदके अन्तर्गत हीहैं इसी लिए 'तत्रापरा' अर्थात् उन में अपरा विद्या यह है यह कहकर ऋग्वेदादि को ही अपरा विद्या रूप से निर्देश करके अथपरा, अब परा विद्या का वर्णन करते हैं, इस प्रकार परा विद्या कावर्णन करते समय वेदों में से किसी एक वेद का अथवा किसी ग्रन्थका नाम न लेकर केवल "जिससे परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है यहकहकर ब्रह्म प्राप्ति की साधन भूता कोही परा विद्या रूपसे कथन किया है, और वहउन २ ऋगादि वेदों में ही प्रतिपादन की हुई है वेदों में अध्यात्म के निरूपण करने वालाजो यहभाग है यहउपनिषद् रूपही है जैसेकीयजुर्वेद का चालीसवां अध्याय ही

व्युत्पत्त्या वा ब्रह्मरूपमेवेति । एवञ्च वेदानां विषयचतुष्टमपि उपपन्नम् । कारठक-श्रुतेरर्थश्च सङ्गत इतिसर्वं सुस्थमितिदिक् ॥ उक्तार्थं एव प्रमाणान्तरं प्रति-विपादयिषन्नाह—अन्यच्चेति । तदेवप्रमाणान्तरं दर्शयति 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्"। अस्यायमर्थः-यत् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (परमं) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं (पदम्) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति तत् सूरयः विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति कीदृशंतत् (आततं) आसमन्तात्ततं विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति। अतः सर्वैःसर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्यविभुत्वात् । कस्यांकिमिव? (दिवीवचक्षुराततम्) दिवि मार्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथाभवति । तथैव तत्पदं ब्रह्मापिवर्त्तते मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् । तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति" । इति । तावदिदमेवात्र विचार्यम् । कथमियं श्रुतिः 'वेदानां ब्रह्मणि तात्पर्यमित्यर्थप्रतिपादनेन प्रकृतोपयोगिनी स्यात् । नह्यत्र तादृशं

'ईशावास्योपनिषद्' है, इसी प्रकार सब उपनिषदों के विषय में जान लेना चाहिए, अतएव 'निरुक्त' के दैवतकाण्ड में भगवान् यास्क मुनि ने भी- "वे ऋचायें तीन प्रकार की हैं- परोक्षकृता, प्रत्यक्षकृता और आध्यात्मिकी ।" यह कह कर "परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत मन्त्र बहुत हैं, आध्यात्मिक थोड़े हैं" । इस वचन से वेदान्तर्गत ही अध्यात्म के प्रतिपादन करने वाले किन्हीं मन्त्रों को अध्यात्मिक रूप से वर्णन किया है । वही वेद का भाग धर्मको साक्षात् रूप से जानने वाले स्थूल सूक्ष्म के ज्ञानी और दयार्द्रचित्त महर्षियों ने लोकोपकारार्थ विचार कर उपनिषद्रूप से व्यवस्थापित किया है । और उसका उपनिषत्व ब्रह्मविषयक गूढ अर्थ के प्रतिपादन से अथवा जिस के द्वारा ब्रह्मके समीप पहुंच जांय इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्मरूप होनेके कारण ही है। सो इस प्रकार मानने से वेदों के चतुष्टय विषयों की और कठोपनिषद् के मन्त्रार्थ की संगति ठीक २ बैठ जाती है । अपने इस उक्तार्थ की पुष्टि के लिए स्वामी जी ने और प्रमाण देते हुए जो कथन किया है वे अपने उसी प्रमाणान्तर को दिखलाते हैं—"अन्यच्च- और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि (तद्वि०) (विष्णुः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उसका (परमं) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदं) जो प्राप्त होने योग्य अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है उसको (सूरयः) विद्वान्लोग (सदा पश्यन्ति) सब

कश्चिदप्युपलभ्यते शब्दो येनोक्तार्थप्रतीतिःसम्भवेदिति (नापि च तथाऽर्थो-ध्वन्यते। अध्यात्मविदएव तत्साक्षादवगाहितुं क्षमा इत्यत्रैव श्रुतेस्तात्पर्यात् इत्यहो प्रकरणज्ञत्वं त्रिकालदर्शिनांस्वामिनामिति। अथ श्रुतेस्तत्तदर्थप्रतिपादनायोपस्थापितेषु तेषुतेषु पदेषु क्रमप्राप्तं 'आततम्' इति पदमुपस्थापयति 'कीदृशंतत् (आततं) आसमन्तात्ततं विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति। अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्" इति यदुच्यते तत्र ब्रूमः- देशकालवस्त्वित्यत्र 'वस्तु' इति पदं किं प्रयोजनमिति सर्वथापि निष्प्रयोजनमित्येवोत्तरम्। किञ्च 'अतः' इत्युक्ते कुत इत्याकाङ्क्षा जायते, साच हेतुस्वरूपनिरूपणा एव पर्यवसिता भवति। कारणकलेवरं च प्रकरणबलाद् देशकालपरिच्छेदराहित्यमेव। तथाच "देशाद्यपरिच्छिन्नत्वात्तत्पदं ब्रह्म सर्वैः सर्वत्रोपलभ्यते" इत्येष एव वाक्यार्थः सम्पद्यते। उपलब्धिश्चात्र प्रत्यक्षात्मिका वास्यात्, प्रत्यक्षाद्यन्यतमरूपा वा ? नाद्यः—अतीन्द्रिय-

काल में देखते हैं वह कैसा है कि सब में व्याप्त होरहा है और उस में देश काल और वस्तु का भेद नहीं है अर्थात् उस देश में है इस देश में नहीं तथा उस काल में था इस काल में नहीं, उस वस्तु में है इस वस्तु में नहीं, इसी कारण से वह पद सब जगह में सबको प्राप्त होता है क्यों कि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है इस में यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे सूर्यका प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्रकी दृष्टि व्याप्त होती है इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयं प्रकाश सर्वत्र व्याप्त हो रहा है उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है"। प्रथम तो इस में यही विचारणीय है कि यह श्रुति 'वेदों का ब्रह्म में तात्पर्य है' इस अर्थ के प्रतिपादन से प्रकरणोपयोगिनी कैसे हो सकती है ? इस में कोई भी ऐसा पद देखने में नहीं आता जिस से उक्तार्थ का सम्पादन संभव हो और न उस प्रकार के अर्थ की इसमें ध्वनि है। अध्यात्मज्ञानी ही उस ब्रह्म का साक्षात् अवगाहन कर सकते हैं यही इस श्रुति का तात्पर्य है। धन्य है त्रिकालदर्शी स्वामी जी के इस प्रकरणज्ञान को। और श्रुति के उत्तर अर्थ को प्रतिपादन करने के लिए उपस्थापित किये हुए उन २ पदों में क्रम प्राप्त 'आततम्' इस पदकी व्याख्या करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि— "कीदृशं तत्० वह कैसा है कि सब में व्याप्त होरहा है और उसमें देशकाल

त्वाद् ब्रह्मस्वरूपस्य । ननु बाह्येन्द्रियाग्राह्यत्वादतीन्द्रियत्वमस्तु मनसाऽन्तरेण तु तत्प्रत्यक्षं भवत्येवेति चेन् न । मनसोऽपि तद्ग्रहणेऽशक्तत्वात् । अतएव "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः" इत्यादि श्रुतिशतप्रतिपादितोभयविधेन्द्रियाग्राह्यत्वमपि सङ्गच्छते । केचित्त्वान्तरस्य मनस इन्द्रियत्वमेव नास्तीत्याहुः । तथाच सर्वथाप्यतीन्द्रियमेव ब्रह्म । न द्वितीयः । तथा सति नास्तिकाद्यभाव एव प्रसज्येत । तथाहि-उपलब्धस्तस्या अनुमितित्वाङ्गीकारे, व्याप्त्यादिज्ञानबलादेव सा स्यात् । किमात्मिका च साऽनुमितिरिति भवति जिज्ञासा । "अस्ति दृश्यमानजगद्विलक्षणं ब्रह्म, देशाद्यपरिच्छिन्नत्वाद्"त्येष मूलोक्त एव हेतुः स्याद्यदि, तदा दूरापास्तमेव व्याप्तिज्ञानादिकम्, तदभावे च कुतोऽनुमितिप्रत्याशा । इति सर्वं व्यामोहितमिव । वस्तुतस्तु कालाद्यपरिच्छिन्नत्वं ब्रह्मणः स्वरूपमेव । हेत्वन्तरकथने तु मूलोक्तविरोध एवापद्येत । अत्रापि च हेतुसाध्ययोः कीदृशोऽयं व्या-

और वस्तु का भेद नहीं है क्यों कि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है" इस विषय में हमें यह वक्तव्य है कि देश, काल और वस्तु यहां पर 'वस्तु' यह पद क्या प्रयोजन रखता है ? यह सर्वथा निष्प्रयोजन ही प्रतीत होता है, इसके अतिरिक्त आपने जो यह कहा है कि 'अतः' अर्थात् 'इससे' ऐसा कहने पर 'कुतः' अर्थात् 'किससे' यह आकांक्षा उत्पन्न होतीहै और वह (आकांक्षा) हेतु के स्वरूप निरूपण में ही चरितार्थ होती है। और हेतुस्वरूप प्रकरण बल से देश-काल के परिच्छेद से रहित ही है। तब ऐसी दशा में 'देशादि के परिच्छेद अर्थात् इयत्ता आदि की अवधि से रहित होने के कारण वह ब्रह्म सबको सब जगह मिल सकता है" यही वाक्यार्थ संघटित होता है। और यह तो कहिये कि ब्रह्म की उपलब्धि (प्राप्ति) यहां प्रत्यक्षरूपा है अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से किसी अन्य प्रमाण स्वरूपा है ? यदि प्रत्यक्षरूपा कहो तो इस लिये ठीक नहीं कि ब्रह्म का स्वरूप इन्द्रियजन्य ज्ञान से दूर है। इस में यदि यह कहोकि बाह्येन्द्रिय ज्ञान से ग्रहण न हो सकने के कारण ब्रह्म इन्द्रियों की पहुंच से दूर रहो सही पर भीतरी मन से तो उस का प्रत्यक्ष होता ही है। यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि उसके ग्रहण में मनकी भी शक्ति नहीं है। अतएव- "न तत्र चक्षुः०" अर्थात् उस ब्रह्म में नेत्र नहीं जासकता, वाणी नहीं पहुंच सकती और न मनही पहुंच सकता

प्यव्यापकभावः इति न विदुषां मनसि निविशते । तदभावेपि तत्स्वीकारे सर्वत्रानुमानप्रमाणभङ्गप्रसङ्ग एव स्यादिति । दुर्जनतोषन्यायेनाभ्युपगम्यमानुमानिकं ज्ञानं न नास्तिकाद्यभावप्रसक्तेर्मोक्षः । तेषामपि व्याप्तिज्ञानादिना जायमानस्यानुमित्यात्मकस्य ज्ञानस्य सत्वादिति । अतएव न शाब्दबोधात्मिका तदुपलब्धिः । सर्वैः सर्वत्र च तदुपलब्धौ मुक्तसंसारस्थयोः को विशेषः स्यात् ? किञ्च 'अतः' इत्युक्त्वापि पुनः 'तस्य ब्रह्म स्वरूपस्य विभुत्वात्' इत्युक्त्या बहुपाण्डित्यं प्रकटितमेव । तथाहि- हेत्वन्तरमिदं स्यात्, नवा ?

है, इसी लिए हम उसको नहीं जानते और न विशेष कर जान सकते हैं" इत्यादि अनेक श्रुतियें दोनों प्रकारकी इन्द्रियों से उसका ग्रहण न हो सकना वर्णन करती हैं। किसी २ आचार्य वा मुनियों ने तो मनको इन्द्रिय ही नहीं माना है। इत्यादि अनेक प्रकार से ब्रह्म इन्द्रियों की पहुंच से दूर है, यह निर्विवाद सिद्ध है। दूसरा पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि वैसा होने वा मानने पर नास्तिकादि अभाव का प्रसङ्ग आयेगा। और उस उपलब्धि का अनुमानत्व अङ्गीकार करने में व्याप्ति आदि ज्ञान के बल से ही वह होगी और उस अनुमिति का स्वरूप क्या है फिर उसके विषय में यह जिज्ञासा होती है। 'देश-काल आदि से परिच्छिन्न न होने के कारण ब्रह्म दृश्यमान जगत् से विलक्षण है" यदि यह मूलोक्त ही हेतु होगा तो बस व्याप्तिज्ञानादिक दूर हुआ। और उसके अभावमें अनुमानके विषयमें फिर क्या आशा अधिक रहा, स्वामी जी का यह सब कथन अज्ञान विलसित ही है। वास्तव में तो कालादिसे अपरिच्छिन्नही ब्रह्मका स्वरूप है। दूसरा हेतु कथन करने में मूलोक्त से विरोध ही उपस्थित होगा। यहां पर भी हेतु और साध्य का यह कैसा व्याप्य और व्यापकभाव सम्बन्ध है ? किसी प्रकार भी यह विद्वज्जनों के लिए मनोरञ्जक नहीं है। उसका अभाव होते हुए भी स्वीकार कर लेने में सब जगह अनुमान प्रमाण के भङ्ग होने का प्रसङ्ग होगा। दुर्जन तोष न्याय से आनुमानिक ज्ञानको स्वीकार कर लेने पर भी नास्तिकाद्यभाव के प्रसङ्ग वा आपत्ति से छुटकारा नहीं हो सकता। क्योंकि उनका भी व्याप्तिज्ञानादि से होने वाले अनुमान से ही ज्ञान होता है; इसी लिए शाब्दज्ञान से उस (ब्रह्म) की उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं हो सकती। यदि सबको सब जगह उसकी प्राप्ति होजाय तो मुक्त और संसार के बन्धन में फंसे हुए

नचेत् पौनरुक्त्यमापद्येत । प्रथमेऽपि पक्षे हेतुर्विकल्पःसमुच्चयो वा ? नाद्यः पूर्वोक्तस्वहेतुव्याघातापत्तेः । नद्वितीयः- एकेनैव हेतुना साध्यहेतावन्तरकथन-मधिकनामकं निग्रहस्थानमेव । यथा पर्वतो वह्निमान् धूमादालोकादिति हेतुद्वयप्रतिपादको वादी निगृहीत भवति । किंबहुना सर्वथापीदं व्याख्यान-मुदन्तं निरर्थकं चेत्यरुचिकरमेव विदुषामित्यलं काकदन्तपरीक्षयेति । प्रकृत-मनुसरामः-'कस्यां किमिवेति, अत्रसादृश्यं ,उपलब्धिर्वा, व्याप्तिर्वा ? यथा चन्द्रवन्मुखमित्यत्र चन्द्रगताह्लादकत्वादिसादृश्यं मुखे प्रतिपाद्यते, इति विशिष्टं मुखं चन्द्रश्च विशेषणं ,तथा प्रकृतेकथं स्यादिति । उभयञ्चैतत्प्रकरणा-देवलभ्यते ।" अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात् । कस्यां किमिव ? (दिवीवचक्षुराततम्) इत्येतावान् हि तत्रत्यो वाक्यसन्दर्भः । तथा चाद्यपक्षाङ्गीकारे 'यथादिवि विस्तृतं चक्षुरुपलभ्यते, तथा सर्वैः विस्तृतं सर्वत्र ब्रह्मउपलभ्यते' इत्येषोऽर्थः सम्पद्येत । नचाऽयं सम्भवति । इन्द्रियस्य चक्षुरादे-

---

मनुष्य में फिर भेद हीक्या रहेगा? और 'अतः, यह कहकर भी फिर 'तस्यब्रह्म-स्वरूपस्य विभुत्वात्, इसकथनसे स्वामी जीने अपना सबही पाण्डित्य प्रकट कर दिया । यह 'तस्य, इत्यादि दूसरा हेतु होगा अथवा नहीं ? यदि नहीं कहो तो पुनरुक्ति दोष आयेगा । पहले भी पक्ष में यहहेतु विकल्प है अथवा समुच्चय ? पहला तो इसलिए ठीक नहीं कि पूर्वोक्त अपने हेतुके व्याघात की आपत्ति आती है और दूसरा इसलिए नहीं कि एक हीहेतुसे साध्यके विषय में दूसरा हेतु कथन करना-'अधिक, नामक निग्रह (पराजय)स्थान आता है । जैसे 'पर्वत अग्निवाला है, धुवांसे और प्रकाशसे इस प्रकार इनदो हेतुओंको कथन करता हुवा वादीनिग्रहस्थान में पड़ जाता है, वही दशा यहां श्रीस्वामीजी कीसमझिए । बहुत क्याकहें सबप्रकार निरर्थक और विद्वानों के लिए रुचिकर न होने से इस विषय को यहीं छोड़, प्रकरण को आरम्भ करते हैं- स्वामीजीने जो यहकहा है कि "कस्यां किमिव, यहां सादृश्य उपलब्धि है अथवा व्याप्ति ? जैसे कि 'चन्द्रवन्मुखम्, अर्थात् चन्द्रमा केतुल्य मुख यहां पर चन्द्रमाके अन्तर्गत जो आह्लादकत्व आदि धर्म है उसका सादृश्य मुखमें प्रतिपादन किया जाता है, इस लिये 'मुख, विशेष्य और 'चन्द्र, विशेषणहै' वैसे इस प्रकरण में यह नियम क्यों कर घट सकेगा क्योंकि दोनों इस प्रकरण से ही मिलते हैं । और वहां पर "अतः सर्वैः यहांसे लेकर—'दिवीव चक्षु-

रतीन्द्रियत्वात् । अन्यथा चक्षुरादिग्रहणायेन्द्रियान्तरत्वकल्पने तत्राप्यन्यत्तत्राप्यन्यदित्यनवस्थापातः । शास्त्रविरोधश्च । द्वितीयपक्षे यथादिविचक्षुर्विस्तृतं भवतितथाब्रह्मापि सर्वत्रविस्तृतं व्यापकमित्यर्थः, इत्येषोऽर्थः सम्पद्यते तथा चायमपि पक्षो नगरीयानाभाति । इन्द्रियस्य व्यापकत्वासम्भवात् व्यापकत्वं हि मूर्त्तयावद्द्रव्यसंयोगित्वम्, नचतदिन्द्रिये सम्भवति । मनःपरमाण्वादीनामपि प्रत्यक्षत्वापातात् । किन्तु एतदर्थक एवायं दृष्टान्तः सर्वगतेब्रह्मणि समन्वेतिनवा इतितुस्वयमेव सुधीभिरीक्षणीयमिति । वयंतुपूर्वापरग्रन्थालोचनयानैकतरापिविधाऽत्रसमुल्लसतीति वदामः दिविमार्त्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति । तथैव तत्पदं ब्रह्मापिवर्त्तते मोक्षस्यच सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् । तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति" इत्येष एव तत्रत्यपूर्वापरग्रन्थः अनेन वाक्यकदम्बकेन योऽर्थः प्रसज्जति, नास्मद्बुद्धिविषयः स इति अत्रैव विरम्यते । प्रयतन्तां सुधियोऽप्यत्रार्थान्वेषणे नेत्रदृष्टेरित्यत्र दृष्टिपद-

---

रातनम्, वस्तुतना ही स्वामी जीकृत वाक्यसमूह है । तथाचपहले (उपलब्धि) पक्षके स्वीकार में जैसे आकाश में विस्तृत अर्थात् व्याप्तनेत्र प्राप्त होता है, वैसेही सबजगह व्याप्त ब्रह्म सबको प्राप्त हो सकता है, यही अर्थहो सकेगा पर यहअर्थ चक्षुआदि इन्द्रियों को इन्द्रियजन्यज्ञान से दूर होने के कारण संभव नहीं है नहींतो चक्षु आदि इन्द्रियों के ग्रहणके लिए दूसरी इन्द्रिय की कल्पना करनी पड़ेगी, उसके लिए औरकी और फिर उसके ग्रहण केलिएअन्य तीसरे चौथे आदिकी । इसप्रकार व्यवस्थाठीक २ न बैठनेके कारण अनवस्था दोष और शास्त्रसे विरोध होगा । दूसरे पक्षमें "जैसे आकाश में चक्षु व्यापक होता है वैसेही ब्रह्मभी सबजगह व्यापक है" यही अर्थ होता है । परन्तु यह पक्षभी उत्तम प्रतीत नहीं होता क्योंकि इन्द्रिय में व्यापकत्व धर्मका अभाव है । व्यापकत्व धर्म उसी में होता है जिसका संसार की यावन्मात्र वस्तुओं के साथ संयोगहो और वहइन्द्रियमें संभव नहीं । ऐसा माननेसे मन और परमाणु आदिकों के भी प्रत्यक्ष होनेकी आपत्ति उपस्थित होगी । और पूर्वोक्त अर्थ वाला यह दृष्टान्त सर्वव्यापक ब्रह्मके विषय में संघटित होता है या नहीं इसपर विद्वान् लोग स्वयं विचार करें, हमतो इस विषय में यही कहते हैं कि पूर्वापर ग्रन्थ की आलोचना से कोई प्रकार भी यहां सम्यक् रूपसे संघटितनहीं होता । "दिविमार्तण्ड" यहां से तदेवद्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति

प्रयोजनं वाक्यानां चैषां मिथः साकाङ्क्षत्वं समन्वितत्वं वा समाहितो भगवान् दयानन्द एव जानाति। तथाहि–'नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथाभवति, तथैव तत्पदं ब्रह्मापिवर्त्तते" इति केयं वाक्यरचना ?। अपूर्वोऽयं वाक्यसन्निवेशः किमिति न त्रपायितं एवंभूतान्यक्षराण्युपन्यस्यता भगवता दयानन्देन। सर्वथाप्यकृतबुद्धिसम्मोहनमेवैतदिति पश्यामः। कश्चायं "मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वादिति" हेतून्यासः। कोऽस्यार्थः ? किं तात्पर्यम् ? कस्मिन्साध्ये चायं प्रयोगः? कीदृशञ्च प्रकरणबलमादायास्य सामर्थ्यम्। किमित्थमेवान्यत्रापि दोलायितमतयो वराका वञ्चिता एव दयनीया जिज्ञासव इति ? किंबहुनापरकौपीनविवरणेन, तूष्णींभाव एवात्र साम्प्रतं श्रेयानितिप्रकृतमेवानुसर्यते। विदुषां प्रतिपत्तिसौकर्याय तद्विष्णोरित्यादिकायाऋचः सायणीयमतिभाष्यमत्रैवाक्षरशः समुद्ध्रियते "सूरयोविद्वांसः ऋत्विगादयःविष्णोः सम्बन्धिपरमुत्कृष्टंतच्छास्त्रप्रसिद्धं पदं स्वर्गस्थानं शास्त्रदृष्टया सर्वदा पश्यन्ति। तत्र दृष्टान्तः–

यहां तक बस यही वहां स्वामी जी कृत पूर्वापर वाक्य रचना है। सो इस वाक्य समूह से जो अर्थ निकलता है वह हमारी बुद्धि में नहीं समाता, इस लिए यहीं इस विषय को छोड़ते हैं। अन्य विद्वान् लोग भी इस के अर्थ की खोज में यत्न करें। "नेत्रदृष्टेः" यहां पर 'दृष्टि' पद के प्रयोजन, इन वाक्यों की आपस में साकाङ्क्षता और इन के समन्वय को बस भगवान् दयानन्द ही जानते हैं। यही नहीं किन्तु कुछ और भी पाठकगण स्वामी जी का रहस्य अवलोकन करें और उन से पूछें कि भगवन्। 'नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति, तथैव तत्पदं ब्रह्मापिवर्त्तते' यह क्या वाक्य रचना है ? यह तो अपूर्व एवं अतिविचित्र ही वाक्य विन्यास है। न मालूम इस प्रकार की वाक्य रचना करते हुए स्वामी दयानन्द जी को लज्जा क्यों न आई ? हम देखते हैं कि यह सब उन के बुद्धिभ्रम का ही विलास है। और यह भी देखिए "मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात्" इत्यादि अनाप सनाप हेतुदेने का इन को यह व्यसन कैसा पड़ गया है इस का अर्थ एवं तात्पर्य क्या है ? किस साध्य में आपने यह प्रयोग किया है, ? और किस प्रकार के प्रकरणबल को लेकर इस का सामर्थ्य क्या है ? क्या इसी प्रकार अन्यत्र भी आप से ठगे हुए सरल प्रकृति जिज्ञासु जन दया करने योग्य नहीं है ? दूसरे के अधिक भेद खोलने से क्या लाभ?

दिवीव आकाशे यथाऽऽततं सर्वतः प्रसृतं चक्षुर्निरोधाभावेन विशदं पश्यन्ति तद्वत्" इति। अत्र युक्तायुक्तविचारचर्चा शास्त्रावलोकनपटुधियां विदुषामेव कृत्यमितिदिक्। सकलवेदस्येश्वर एव मुख्यः प्रतिपाद्यो विषय इत्यत्रार्थे यजुरपि किञ्चित्प्रमाणभूतमाह-" यस्मान्न जातः " इत्यादि। अत्र मन्त्रे किं तत्पदं, येन वेदानामीश्वरएव मुख्यः प्रतिपाद्यो विषय इत्यर्थो लभ्येत। यद्यपि ब्रह्मणः सर्वोत्कृष्टता सर्वजगत्प्रकाशकता सृष्टिस्थितिसंहारकारिता चेत्यादि लोकोत्तरगुणविशिष्टता प्रतिपाद्यते, तथापि नैतावता परेशएवपरमोऽर्थो वेदानामित्यर्थोऽधिगन्तुं शक्यते। तथाच सर्वथापि प्रकृतविरुद्ध एवात्रैतन्मन्त्रनिवेशः। किञ्च वेदभाष्यावसरेऽन्यएवार्थोऽभिहितोऽत्रत्वन्यएवेतिविचित्रोऽयं चित्तव्यामोहः। तदुभयत्रप्रतिपादितोऽर्थस्तत्र तत्र स्वयमेव सुधीभिरवलोकनीय इतिदिक्।

किन्तु इस विषय में अब मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर है यह जान कर प्रकरण को ही अनुसरण करते हैं। विद्वानों को सुगमता से जानने के लिए 'तद्विष्णोः, इत्यादि ऋचाके सायणकृत भाष्यको अक्षरशः ज्योंका त्यों उद्धृत करते हैं:--" ऋत्विगादि विद्वान् लोग विष्णु सम्बन्धिअत्यन्तउत्कृष्ट अर्थात् अत्युत्तम और शास्त्रोंमें प्रसिद्ध उसस्वर्गस्थानको शास्त्रकी दृष्टिसे सर्वदा अवलोकनकरतेहैं। उसमें यहदृष्टान्तहै कि जैसे आकाशमें फैला हुआ नेत्र किसी प्रकार की कोईरुकावट न होनेसे स्पष्ट रूपसे वस्तुको देखताहै, वैसेहीवे उस (स्वर्ग लोक) को,,। यहां पर युक्तायुक्त के विचार की चर्चा करना शास्त्र विचार में निपुणमति विद्वानों का ही काम है, और अधिक क्या कहें। स्वामी जी ने 'सब वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ईश्वर ही है, जो यह कहा है और इसमें प्रमाणके लिए यजुर्वेद का--" यस्मान्नजातः " इत्यादि मन्त्र उद्धृत किया है सो उन से इस विषय में यह प्रष्टव्य है कि इस मन्त्र में वह कौन सा पद है कि जिससे 'वेदों का ईश्वर ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, यह अर्थ लब्ध हो सकेगा। यद्यपि ब्रह्म की सब से बढ़ कर उत्तमता, जगत् को प्रकाशित करना, संसार की रचना, पालना और संहार करना आदि दिव्य गुणों की विशिष्टता (उत्तमता) प्रतिपादन की जाती है तो भी इतने से वेदों का मुख्य विषय ईश्वर ही है, यह अर्थ प्राप्त नहीं हो सकता और इस अर्थ की सिद्धि के लिए इस मन्त्र का सन्निवेश भी

किञ्च माण्डूक्योपनिषदप्यत्र प्रमाणत्वेनोपस्थापिता "ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्" इति । अस्यायमर्थः इति प्रतीकं दत्त्वार्थोऽप्यभिहितः, तथाहि— "ओमित्येतद्यस्यनामास्ति तदक्षरम् । यन्न क्षीयते कदाचित् यच्चराचरं जगदश्नुते । व्याप्नोति तद्ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम् अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगतावोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेऽतो ऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्यम्" । आः—अविज्ञातमिदानीम्, योगिनां हि चराचरं करामलकवज्जगदवभासत इति । अतएव सर्वथाऽनुक्तोऽपिश्रुत्याऽयमर्थो- व्याख्यारीतिः सनातनी'ति प्रतिज्ञातार्थमनुल्लङ्घ्यैव स्वामिचरणैरभिहितः । इयमेव पुरातनी व्याख्याशैलीति योगदृष्ट्या स्वामिभिरेव कदाचित्साक्षात्कृता स्यात् ? सुधिय एवात्र विचारयन्तु— "ओमित्येतदक्षर"मित्यत्र 'यस्यनामास्ति' इति कुत आपादितम् ? मूले तु "ओम् इत्येतत् , अक्षरम् , इत्येवोच्यते, ओमित्येतस्य चाक्षरत्वं प्रतिपाद्यते । किञ्च 'यच्चराचरं जगदश्नुते,

---

यहां सर्वथा प्रकरणविरुद्ध है । पाठक गण ! स्वामीजी की एक विचित्र लीला और यह देखिए कि वेदभाष्य करते समय वहां पर इसका कुछ और अर्थ किया है और यहां कुछ और ही । यह इनके चित्त का कैसा विचित्र व्यामोह है । दोनों जगह भिन्न २ प्रकार से किये इन के अर्थको विद्वज्जन स्वयमेव ही वहां २ देख लेंगे, अतः इस विषय में अब हम विशेष क्या लिखें ?

स्वामीजी ने अपने इस विषयके प्रतिपादनार्थ 'माण्डूक्योपनिषद्' भी यहां प्रमाणरूप से स्थापित की है, यथा—" ओम् यह जिसका नाम है वह अक्षर जिसका कि कभी नाश नहीं होता और जो चराचर सब जगत् में व्यापक है वह ब्रह्म ही है, यह जानो । वेदादि सब शास्त्रों अथवा सब जगत् से उपगत इसका ही व्याख्यान मुख्य रूप से किया जाता है अतः यही प्रधान विषय है यह तुम्हें जानना चाहिए" । ओ हो ! अब हमने जान लिया कि चराचर सब जगत् योगिजनों को हस्तामलकवत् भासने लगता है, इसी लिए श्रुति से सर्वथा कथन न किया हुआ भी यह अर्थ श्री स्वामी जी ने 'व्याख्यारीतिः सनातनी' अर्थात् सदा से जो व्याख्या रीति चली आती है तदनुसार ही हम व्याख्या करेंगे । अपने इस प्रतिज्ञात अर्थ को उल्लंघन न कर ही किया है । ठीक यही पुरानी व्याख्याशैली है, जिसे स्वामी जी भी सो भी योगदृष्टि से ही जैसे तैसे जान सके होंगे । विद्वान् लोग तनिक इस पर विचार कर

इत्यादि, "अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगतावा, इत्यादि च व्याख्यानं कुत उपलब्धं स्वामिभि । सम्भाव्यते, कदाचित् "इदं सर्वं" इति पदद्वयस्यैवेयं व्याख्याकृता स्यात् ? यतोहि पुरातनीयं व्याख्याशैली । अहो, पाण्डित्यं महद्दर्शितमत्र स्वामिभिः । व्याकृतितन्त्रे स्वल्पोऽपि यस्य प्रवेशः, सोऽपि नैतादृशमर्थं कथञ्चिदप्यभिधातुमुत्सहेत । परमत्र नापेक्षते व्याकरणशास्त्रमपि-'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः" इति । तत्तु योगिव्यतिरिक्तजनापेक्षमेव । यदि श्रुतेरस्या उत्तरोऽपिभागः स्वामिभिरवलोकितः स्यात्तदामन्ये न तादृशार्थप्रतिपादने समुत्साहो भवेत् । नैतदपि विचारितं 'इदंसर्वं' इत्यत्र कस्येदमा निर्देशः क्रियते । प्रस्फुटञ्चास्याः श्रुतेरर्थः तथाहि-अभिधेयस्याभिधानाऽभेदमवबोधयन् तस्यैवाभिधानस्याक्षरस्य इदं सर्व मुपव्याख्यानं ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद् ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं व्याख्यानमितयर्थः । किं तत्सर्वं यस्येदमानिर्देशः क्रियते ? तदेवाह= "भूतं भव्यं भविष्य-

---

देखें कि- "ओमित्येतदक्षरम्" यहां पर 'यस्य नामास्ति' यह कहां से ग्रहण किया ?- क्योंकि जब मूल में तो "ओम्, इत्येतत्, अक्षरम्" इतना ही पाठ पठित है और 'ओम्' इसका अक्षर होना सिद्ध किया है तब न मालूम स्वामी जी ने यस्येत्यादि पाठ जो कि असंगत है, अपनी ओर से क्यों मिलाया ? और यही नहीं किन्तु 'यच्चराचरमित्यादि पाठ और 'अस्यैव सर्वैः०' इत्यादि व्याख्यान न जाने स्वामीजी ने कहांसे प्राप्त किया । सम्भव है कदाचित् "इदं सर्वम्" इसी पदकी यह व्याख्या की हो क्योंकि यह सनातनी व्याख्यारीति ठहरी न । वाह स्वामी जी ! धन्य है, यहां पर तो आपने अपना खूब पाण्डित्य दिखलाया । व्याकरणशास्त्र में जिसका थोड़ा भी प्रवेश होगा वह भी इस प्रकारके अर्थ करनेका कभी उत्साह न करेगा । पर यहांतो व्याकरणशास्त्र की कुछ अपेक्षा ही नहीं है क्यों कि- "त्रिगुण (सत्व, रजः और तमः) के बन्धन से रहित मार्ग में विचरने वालों के लिए कर्तव्य और निषेध ही क्या है" व्याकरणादिशास्त्रप्रतिपादितविधि-निषेध के विचार की अपेक्षा तो योगियों के अतिरिक्त अन्य जनों के लिए है । यदि इस श्रुति का उत्तरभाग स्वामी जी का देखा हुआ होता तो हम मानते हैं वैसा अर्थ करने में कदाचित् भी उनका उत्साह न होता । उन्हों ने तो यह भी नहीं विचारा कि 'इदं सर्वं' यहां पर 'इदम्' शब्द से किस का निर्देश किया जाता है और

दिति" इत्येतत्सर्वं तस्यैवोपव्याख्यानं प्रस्तुतं बोध्यमिति शेषः। ननु 'ओमित्येतद्यस्य नामास्ति' इति व्याख्यां कृत्वा 'ओमित्यनेन तदर्थभूतः परमात्मा एव कुतो न गृह्यते, तथाच तस्यैवाक्षरत्वं, तस्यैवोपासनं युक्तमिति चेन्न। मूलभूतायां श्रुतावनुपदमेव "सर्वमोंकार एवेति प्रतिपादनात्। यदि 'ओमित्येतदक्षरमित्यत्र ओमिति पदेन परमात्माऽर्थो गृह्येत, तदा 'सर्वमोंकार' इत्यत्र ओमिति पदात्कारप्रत्ययः सर्वथापि व्याकृतितन्त्रव्याहतः स्यात्। वर्णाद्वकारप्रत्ययो भवतीत्यनुशासनबलात्। एवमपूर्वमिदं चातुर्यं स्वामिनां-यदितस्ततः कुतोऽपि कानिचित्पदानि समुद्धृत्य स्वमनोनुकूलं सद्धाऽसद्धा व्याख्यानं स्वमतसिद्धये क्रियत इति। किञ्च 'उपव्याख्यानमि,ति पदस्यापि सनातनीं व्याख्यारीतिमुररीकृत्यैव व्याख्यानं विहितम्। तदनु 'अतोऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्यम्' इत्येवमुपसंह्रियते चापि। सयोपसंहारः- दश दाडिमानि षडपूपाः, अङ्कम् , खफलचर्मसटतम् , इत्यादिपदनिर्देशमनु-

---

इस श्रुति का अर्थ स्पष्ट है, यथा च-अभिधेय का अभिधान के साथ भेदाभाव जतलाता हुआ उसी अभिधान अक्षर का यह सब उपव्याख्यान है अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति का उपाय होने के कारण ब्रह्म के सामीप्य से यह उसीका विस्पष्ट व्याख्यान है। वह सब क्या है जिसका 'इदम्' से निर्देश किया जाता है? उसी को कहते हैं कि वह-"भूत, वर्त्तमान और भविष्यत्काल" यह सब उसी का उपव्याख्यान है यह जानना चाहिए। अर्थात् इन तीनों कालोंके अन्तर्गत कार्यरूप से जो विद्यमान है वह सब ओङ्कार ही है। यदि इस विषय में कोई यह आशङ्का करे कि-'ओम् यह जिसका नाम है" ऐसी व्याख्या करके 'ओम्' इस पद से उस (ओम्) का अर्थभूत परमात्मा ही क्यों न ग्रहण किया जाय? क्यों कि उसी का अक्षर होना और उसी की उपासना करना उचित है। यह कथन वा शङ्का इस लिए ठीक नहीं कि मूलभूत श्रुति में पद २ पर "सब ओङ्कार ही है" यह कथन किया है। यदि 'ओमित्येतदक्षरम्' यहां पर 'ओम्' पदसे 'परमात्मा' यह अर्थ अभीष्ट होता तो 'सर्वमोङ्कारः' यहां पर 'ओम्' इस पद से 'कार' प्रत्यय व्याकरणशास्त्र के नियमानुसार सर्वथा निषिद्ध हो जाता, क्यों कि- 'वर्ण से ही 'कार' प्रत्यय होता है' यह व्याकरणशास्त्र का उपदेश है। सो इस प्रकार स्वामी जी का विचित्र ही चातुर्य है कि जहां तहां से कुछेक पदों को उद्धृत कर अपने मन

अतोऽयमनित्यः शब्दोऽस्तीत्यवधार्यम्' इत्यादितुल्यतया सर्वथा निरर्थक एवेति । अधिचास्यैवार्थे किञ्चिदुपोद्बलकमाह-किंचनैवेति । "नैवप्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति" । अत्रहि "अग्रे" इति पदं शब्दानुवादमात्रमेव । कमर्थमभिधत्ते पदमिदम् । 'पूर्वकालावच्छेदेन नाप्रधाने कार्यसंप्रत्ययः इत्येषोऽर्थः ? उत 'प्रधानसम्मुखीनेऽप्रधाने न कार्यसंप्रत्यय इति उत 'वाच्यतां समयोतीतः स्पष्टमग्रे भविष्यति' इत्यादाविव परकालावच्छेदेन नकार्यसंप्रत्यय इति ? आद्यश्चेन्माभूत् पूर्वकालावच्छेदेन कार्य संप्रत्ययो युगपत्तुस्यादेव । तस्सत्त्वेच वेदानामीश्वर एव तात्पर्यमिति भवदिष्टं विलीयेत । द्वितीयकल्पेऽपि स एव दोषः । सम्मुखीनेऽप्रधानेमाभूत्कार्यं, समस्थिते तु स्यादेव । अन्त्यश्चेत्- सर्वथा शिरसि कुठारपातः । प्रधाने पूर्वं कार्यं भवतीति साधितुं प्रवृत्तोऽप्रधान एव तत्साधितम् । एवञ्च बालप्रयुक्तवाक्यवत् निर्दिष्टमिह 'अग्रे' इतिपदमनभिज्ञतामेव विशदयति शास्त्र इति । 'एवमेवेति' ।

के अनुकूल स्वमत की सिद्धि के लिये अच्छी हो या बुरी झट व्याख्या कर ही देते हैं । और 'उपव्याख्यान' इस पद की व्याख्या भी स्वामी जी ने सनातन व्याख्या रीति के अनुसार ही की है । क्योंकि उसके पश्चात् ही- 'इस लिए यह प्रधान विषय है ऐसा जानना चाहिए' यह उपसंहार भी किया है, पर वह उपसंहार,- 'दश अनार, छः पूआ, अइउण् , खफछठथचटतव्' इत्यादि पदों के निर्देश के पश्चात् ही अतः यह शब्द अनित्य है ऐसा जानो' इत्यादि के तुल्य होने के कारण सर्वथा निरर्थक ही है । स्वामी जी ने अपने इसी अर्थ के निश्चय (तसदीक़) कराने के लिए कुछ और भी कहा है— "नैवप्रधानस्याग्रे० अर्थात् प्रधान के आगे अप्रधान का ग्रहण नहीं हुआ करता" । यहां 'अग्रे' यह पद शब्दानुवाद मात्र ही है । यह पद यहां किस अर्थ को कथन करता है ? 'पूर्वकालावच्छेद से अप्रधान में कार्य नहीं हुआ करता । यह अर्थ है, अथवा प्रधान के सम्मुख होने वाले अप्रधान में कार्य नहीं होता यह है, यद्वा "कहिए, समय बीत गया, आगे चल कर साफ़ हो जायगा" इत्यादि समान परकालावच्छेद से कार्य ग्रहण नहीं होता, यह अर्थ है ? इस पक्षत्रय में से यदि पहला मानो तो पूर्वकालावच्छेद की अपेक्षा से न सही । पर एक कालावच्छेद में तो होगा ही । और ऐसा होने पर 'वेदों का ईश्वर में ही तात्पर्य है' आपका यह अभिलषित रफूचकर हो जायगा ।

अत्रोभयस्यापि मुख्यपदस्य न वयं किञ्चिदपि प्रयोजनं पश्यामः। आद्यं मुख्यपदं तदैव सप्रयोजनं स्यात्, यदा वेदानां गौणोऽपि कश्चिदीश्वरार्थोऽन्यः स्वीक्रियेत। यद्व्यावृत्त्या च मुख्यपदमिदं प्रयोजनपदमुपलभेत। तात्पर्यस्य मुख्यामुख्यत्वं तु नास्माकं श्रुतचरमपि। तथा च वेदानामीश्वरेऽर्थे तात्पर्यमस्तीत्येव पर्याप्तम्। उपसंहरति अतस्तदिति। अयमुपसंहारग्रन्थस्तु स्यादेव विदुषां मनोविनोदाय, इति मन्ये। दीयतामत्रापि दृष्टिः कथमस्य पदसंदर्भस्य मिथोऽन्वितत्वम्, तदिष्टार्थाभिधायित्वञ्च? 'सदुपदेशपुरस्सरेणैव,' इति कस्य विशेषणम्? न कर्तुर्न कर्मणो नप्रयोजनस्य नापि क्रियाया भवितुमर्हति। आद्यत्रयाणां भिन्नविभक्तिकत्वेन सम्बन्धाभावात् क्रियाविशेषणत्वे तु क्लीबत्वैकवचनतापत्तिः स्यात्, असंबद्धत्वेन च न वाक्येऽर्थवत्ता। किञ्च "कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानामनुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम्" इत्यत्रासम्भवि काण्डानामनुष्ठानं किमित्युपदिश्यते स्वामिना; किमात्मकं च काण्डानामनुष्ठानम्। अनुष्ठानं हि क्रिया, नहि सा

दूसरे पक्षमें भी वही दोष है। प्रधानके सम्मुखीन अप्रधान भीसतहो काय समान स्थिति में तो हो जायगाही। यदि अन्तिम पक्ष मानो तो सर्व प्रकारेण शिर पर कुठारपात है। 'प्रधानमें पहले कार्य होता है, स्वामीजी सि करने चले थे यह पर सब आगा पीछा भूल अप्रधान मेंहीवह सिद्धकर बैठे। सोइसप्रकार सालप्रयुक्त वाक्यके समान यहां कथन किया हुवा 'अग्रे', यहपद शास्त्रमें आप की अनभिज्ञता कोही प्रकटकरता है। एवमेवेति,-स्वामीजी ने जोयह कहा है कि 'मुख्यऽर्थेमुख्यतात्पर्यम्, यहांपर दोनों हीमुख्य पदोंका हम कुछ प्रयोजन नहीं देखते। पहला मुख्यपद तबही सप्रयोजन हो सकता है जबकि वेदोंका ईश्वर विषयक कोई और दूसरा गौण अर्थभी स्वीकार किया जाये। जिस केनिवारण से यहमुख्य पद प्रयोजन उपलब्ध करसके तात्पर्य का मुख्यामुख्यत्व तो हमने पहलेकभी सुनाभीनहीं। इसलिए प्रयोजनवाक्य समूहके स्थान में स्वामीजीको बसइतना हीकहदेना पर्याप्त थाकि- वेदोंका ईश्वर विषयक अर्थमेंही तात्पर्य है" और आप 'अतस्तदिति' से उपसंहार भी करते हैं। पर यह उपसंहार, हम मानते हैं कि विद्वानों के मनोविनोद के लिए काफी मसाला होगा। यहां परभी दृष्टिप्रदान कीजिए कि इसपद रचना की आपस मेंअन्वय और उस इष्टार्थ सम्पादन की संगति किस प्रकार संघित होसकती है? यहभी बतलाइए कि 'सदुपदेशपुरस्सरेणैव,' यहकिसका विशेषण है?

काण्डं विषयी करोति। प्रयोजनञ्चा नुष्ठानस्य पारमार्थिक व्यावहारिकफल सिद्धिर्यथायोग्योपकारश्च प्रदर्शितम्।

अत्र हि पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धिव्यतिरिक्तः कीदृशोऽयं यथायोग्योपकार इति नास्मद्बुद्धिगरुडः। किंबहुना -सुदूरं विचारितोप्ययमर्थः सर्वथोच्छिन्नमूल एवप्रतिभातीतिसुधियोऽपि प्रतिवाक्यं प्रतिपदं चसूक्ष्मेक्षिकयाऽवलोकयन्तु कीदृशोयमर्थ इतिविज्ञाननिरूपणसमीक्षा।

अथ॥ वेदेषुद्वितीयोविषयः कर्मकाण्डाख्यः स सर्वःक्रियाप्रधानोऽस्ति। „ इत्येवं नकर्मकाण्डं प्रतिपादयितु मुपक्रमतेतत्र कर्मकाण्डस्य महत्त्वापादनायाह नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञानेअपिपूर्णे भवतः,कुतः? बाह्यमानसव्यवहारयो बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्''इति। अपूर्वोऽयं न्यायप्रयुक्तः सर्वथाप्यनाकलितन्यायप्रयोगस्यैवायं प्रयोगः। एतेनकर्मकाण्डेन विनाविद्याभ्यासज्ञाने अपिपूर्णे नभवतः इति किमिदं विद्याभ्यासज्ञानत्वं यस्यकर्मकाण्डमन्तरा

यहतो कर्त्ताकर्म प्रयोजन और क्रिया इनमें से किसी का भी नहीं हो सकता पहले तीनों (कर्ता कर्म करण) का भिन्न २ विभक्ति होने से इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं और क्रिया विशेषण मानने में नपुंसकत्व और एक वचन होगा। किसी के साथ सम्बन्ध न होनेसे वाक्य में इसकी सार्थकता नहीं है कुछऔर भी स्वामी जीका रहस्य देखिए-"कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का अनुष्ठान सब मनुष्यों को करना चाहिये न मालूम इस असम्भव काण्डों के अनुष्ठान का स्वामी जी क्यों उपदेश देते हैं? इन काण्डों के अनुष्ठान का स्वरूप क्या है? अनुष्ठान नाम क्रिया का है, यह काण्ड को विषयभूत नहीं करती। अनुष्ठानका प्रयोजन पारमार्थिक व्यवहार की फलसिद्धि और यथा योग्य उपकार कहा है।

यहां पर पारमार्थिक और व्यावहारिक फलसिद्धि के अतिरिक्त यह कैसा यथायोग्य उपकार है यह हमारी बुद्धिमें नहीं आता। अधिक क्या कहें बहुत प्रकार एवं सूक्ष्मदृष्टि द्वारा विचारा हुवा भी यह अर्थसर्वथा निर्मूल ही प्रतीत होता है। विद्वान् लोगभी इसके प्रत्येक पदऔर वाक्य को सूक्ष्म दृष्टि से विचारें और देखें कि यहकिस प्रकार का अर्थ है यहस्वामी जी के विज्ञान निरूपणकी समीक्षा पूर्णहुई। अब कुछआगेऔर भीअवलोकनकीजिए "इनमें से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है सो सब क्रिया प्रधान ही होता

पूर्त्तिर्न सम्भवति । विद्यापदं ज्ञानमात्रपरमुपासनापरं वा? नाद्यः ज्ञानमात्र-परत्वे साक्षादग्रेव पठितं ज्ञानपदं सर्वथाप्यनर्थकमेवस्यात् । नान्त्यः-क्वापि भवतैव प्रतिपादितस्याग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधान्तकर्मकाण्डस्य क्रिया यस्यो-पासनाया मुपयोगः? अपिच किंप्रयोजनमालम्ब्य विद्याभ्यासज्ञानयोरेव कर्म-काण्डपूरकत्वमुपदर्शितम्? किंच विद्याभ्यासज्ञानपूर्णत्वं साध्यं कृत्वा यदिदं 'बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्' इति पदकदम्बकं हेतूकरोषि ।— तत्र कीदृशः पारस्परिको व्याप्यव्यापकभाव इति नाद्यापि विद्वद्भिरवगाहितम् । हेतौ साधकतापक्षधर्मतावाऽऽवश्यकी नवेति सर्वथाप्येतन्न्यायप्रयोक्त्रोपेक्षितमेव । कथमयं हेतुः साध्यं विद्याभ्यासज्ञानपूर्णत्वं साधयतीति सुधिय एवावधारयन्तु । एवंच बालाद्युपेक्षितमिव सर्वमिदमिति धर्माडम्बरं शिखण्डिनं विधाय यथेच्छ-मभिलषता स्वयमनवबुध्यमानं जगद्वञ्चितमेवेति ॥ कर्मकाण्डस्य भेदानभि-धातुमाह—" स चानेकविधोऽस्ति । परन्तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौस्तः" ।

है ,, । इस प्रकार स्वामी जी ने कर्मकाण्ड का प्रतिपादन आरम्भ किया है और उसका महत्त्व दिखलाने के लिए—"जिसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है ,, । यह हेतु प्रदर्शित किया है । स्वामी जी ने यह अपूर्व ही न्याय प्रयुक्त किया है क्योंकि यह प्रयोग न्याय की शैली से सर्वथा असङ्गत है । आपने जो यह कहा है कि—' जिसके विना विद्या-भ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं होते , यह कौन सा वा कैसा विद्याभ्यास का ज्ञान है कि जिसकी पूर्त्ति कर्मकाण्ड के विना आप को असम्भव जान पड़ी । यहां पर ' विद्या , पद ज्ञान मात्र परक है, अथवा उपासनापरक ? पहला पक्ष इस लिए ठीक नहीं कि यदि विद्या पद को ज्ञानमात्रपरक मान लिया जाय तो साक्षात् यहीं पर पढ़ा हुआ ' ज्ञान , पद सर्वथा अनर्थक होगा । न अन्तिम (उपासनापरक) पक्ष ही ठीक है । आप ही के प्रति-पादन किये हुए अग्निहोत्रादि अश्वमेध यज्ञ पर्यन्त कर्मकाण्ड की क्रिया-को उपासना में उपयोग कहां है ? और यह तो कहिए कि आपने किस प्रयोजन को लेकर विद्याभ्यास और ज्ञान को ही कर्मकाण्ड का पूर्ण करने वाला कथन किया है ? और विद्याभ्यास तथा ज्ञान की पूर्णता को साध्य बना कर 'बाह्य मानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्, अर्थात्

अहो सनातनी व्याख्यारीतिरियम् । अत्रतुशब्दोऽपिशब्दश्चकिं प्रयोजनोविलिनज्ञायते । कदाचित् स्वामिभि योगबुद्ध्यागतं किमप्यलौकिकं फलमुद्दिश्य निर्दिष्टौस्याताम् । वस्तुतस्तु " सचानेकविधोऽस्ति ' परं तत्र द्वौभेदौ मुख्यौ स्त " इत्येतावदेवपर्याप्तम् । तत्रैको भेदः " परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थो ऽर्थाद् ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं-प्रवर्त्तते" इति उपदर्शितः । अत्रैवं चिन्त्यते-यदिदं 'प्रवर्त्तते' इति क्रियापदं तस्य कः कर्त्ता ?, वाक्यनिर्दिष्टैकपदोपात्तभेद एव तथाचैको भेदः प्रवर्त्तते' इत्यन्वयलाभे कस्तस्याः प्रवृत्तेर्विषयः ? मोक्षसिद्धिरेवेत्याह । एवंचैकोभेदः मोक्षमेव साधयितुंप्रवर्त्तते ' इतिवाक्यार्थलाभेन भेदस्य मोक्षसाधकत्वं सिद्धम्। अथच अर्थादितिपदशिरस्कायाः " ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन"इत्यस्याःपङ्क्तेःकोर्थः?द्वन्द्वान्तेश्रूयमाणत्वाज्ज्ञानपदंकिंप्रत्येकमभिसम्बध्यते?:-ईश्वरज्ञानंततस्तुतिज्ञानंततप्रार्थनाज्ञानं तदुपासनाज्ञानंतदा-

मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है, जो यह हेतुत्वेन आपने उपस्थापित किया है यहां आपस में कैसा व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध है । यह अब तक भी ठीक २ नहीं जाना जा सका । हेतु में साधकता एवं पक्षधर्मता का होना आवश्यक है अथवा नहीं इस विषय में न्याय प्रयोग प्रयोक्ता स्वामी जी ने सर्वथा उपेक्षा ही की है । यह हेतु विद्याभ्यास तथा ज्ञान के पूर्णत्व को जो कि साध्य है क्यों कर सिद्ध करता है यह विद्वान् लोग ही स्वयं विचारलें । बालादिकोंकी उत्प्रेक्षा के समान ही यह सब धर्म का आडम्बर रच कर इच्छानुसार कथन करते हुए स्वामी जी ने जगत् की वञ्चना ही की है । कर्मकाण्ड के भेदों को कहते हुए आपने कहा है--" वह अनेक प्रकार का है परन्तु उस के दो भेद मुख्य हैं ,, । धन्य है स्वामी जी की रचना को ठीक है, यह आपकी सनातन व्याख्यारीति है । न मालूम स्वामी जी ने इस वाक्य में 'तु' और 'अपि' शब्द किस प्रयोजन से रक्खे हैं । कदाचित् योगबुद्धि से जाने हुए किसी दिव्य फलके उद्देश्य से इन का निर्देश किया होगा । वास्तव में-- " सचानेकविधोऽस्ति, परं तत्र द्वौभेदौ मुख्यौस्तः,, बस, इतना ही कथन पर्याप्त है, उसमें ' तु , और ' अपि , सर्वथा निरर्थक हैं । उनमें से एक भेद --"एक परमार्थ अर्थात् जो परमपुरुषार्थ रूपकहा उसमें परमेश्वर की

ज्ञापालनज्ञानं धर्मज्ञानं तदनुष्ठानज्ञानं च तेन इत्यर्थः ? उत ईश्वरस्य द्वन्द्वादौ श्रूयमाणत्वात्तस्यैव- प्रतिपदाभिसम्बन्धः ? तदा च ईश्वरस्तुतिस्तत्प्रार्थना तदुपासना तदाज्ञापालनं तद्धर्मानुष्ठानं तज्ज्ञानं चेत्यर्थः सम्भवति । उभयथा ग्यसमञ्जसमेवैतत्- शास्त्रविरोधाननुगमस्वाभ्युपगमप्रसङ्गादीनामनुत्तरणीयत्व-प्रसक्तेः । तृतीयार्थस्यात्र व्यापार एव सम्भवी । तथाच ईश्वरज्ञानं व्यापारी-कृत्यभेदेन मोक्षसिद्धिरित्यहो दयानन्दस्याश्चर्यम् । भेदस्यैवमोक्षं प्रत्यसा-धारणकारणत्वं ब्रुवता स्वामिना "तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति' 'ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः" इत्यादिनाश्रुतिस्मृतिप्रतिपादितोऽर्थः सर्वथाप्युपेक्षित एवेति स्पष्ट एवशास्त्रविरोधः । न च तत्स्तुतिप्रार्थनाज्ञानमात्रं मोक्षसाधकत्वेन स्वयाभिमतमिति स्वस्यैवाननुगमः, अभ्युपगमप्रसक्तिश्चेत्यादयो दोषा अप्रतिसमाधेया एवेति । अधिकं तु मुक्तिनिरूपणप्रकरणे प्रतिपादयिष्यामः । द्वितीयभेदं दर्शयति- "अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ

(स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों का कीर्त्तन, उपदेश और श्रवण करना (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न हो कर उसकी सत्य भाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना, सो उपासना वेद और पातञ्जल योग शास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है, न्यायाचरण उस को कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना, इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्म काण्ड का प्रधान भाग है"। यह दिखलाया है । यहाँ यह विचारणीय है कि इस वाक्य में 'प्रवर्त्तते' यह जो क्रियापद है इस का कर्ता कौन है ? वाक्य में कथित एक पद से ग्रहण किया हुआ क्या 'भेद' ही ? तब 'एको भेदः प्रवर्त्तते' अर्थात् एक भेद प्रवृत्त होता है- ऐसा अन्वय होने पर उस प्रवृत्ति का विषय क्या है ? 'मोक्ष की सिद्धि' यह स्वामी जी ने कहा है । ऐसा मानने पर एक भेद मोक्ष ही को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होता है' यह वाक्यार्थ होने से स्वामी जी के मत में मोक्ष का साधक भेद सिद्ध होता है । और यह तो कहिए कि 'अर्थात्' यह जिस का शीर्षक (हेडिङ्ग) है उस-"ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानु-ष्ठानज्ञानेन" इस पंक्ति का अर्थ क्या है ? द्वन्द्व समास के अन्त में पठित

निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते, दयानन्देनेति शेष एव अत्र साधीयान् भाति। नहि तादृशं सामर्थ्यं प्राकृतजनेषु सम्भवि। यतो हि धर्मार्थकामैतत्त्रितयसिद्ध्याश्रय एव लोकव्यवहारो नार्थकाममात्रेण तत्सिद्धिरिति। नच धर्मेणैवार्थकामसिद्धिरपि अभिचारयागादिना तत्सिद्धावपि स्वयं तस्यानर्थरूपत्वमेव। अतएव तत्कर्त्ता पुरुषः प्रायश्चित्तीयो भवति। एवमन्यदप्यूहनीयम्। इत्थं केवलं द्वाविमौ भेदौ कर्मकाण्डस्येति व्युत्पादयता दयानन्देनाकाण्डे पाण्डित्यं प्रकटितमिति। अयमपरो वैदुष्यप्रकाशः—"स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदायं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते" इति। अत्रैवं विचार्यते, कोऽयं प्राप्तिपदार्थ इति ? किं प्राप्तिः संयोगः ? उत ज्ञानम् ? आद्यश्चेत् स संयोग आत्मनएवैष्टव्यः तथाच परमात्मनो विभुत्वात् नित्यत्वाच्चोभयोस्तत्संयोगस्यापि सनातनत्वे तत्फलोक्तिस्तु दयानन्दस्यैव शोभते। फलं हि कार्यम्, संयोगस्य नित्यत्वं कार्यत्वञ्चेति व्याहतम्। अन्त्यकल्पा-

होने के कारण ज्ञान शब्द का क्या प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है ? अर्थात् ईश्वर का ज्ञान, उस की स्तुति का ज्ञान, उस की प्रार्थना का ज्ञान, उस की उपासना का ज्ञान, उस की आज्ञा पालन का ज्ञान, धर्म का ज्ञान और उस के अनुष्ठान का ज्ञान, उस से। क्या यह अर्थ है ? अथवा द्वन्द्व समास के आदि में श्रूयमाण 'ईश्वर' शब्द का ही प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है तब ईश्वर की स्तुति, ईश्वर की प्रार्थना, उस की उपासना, उस की आज्ञा का पालन, उस के धर्म का अनुष्ठान और उस का ज्ञान, यह अर्थ होना सम्भव है। कुछ भी हो, दोनों प्रकार से भी यह अर्थ असङ्गत है- शास्त्रविरोधादि प्रसङ्ग के कारण कुछ उत्तर न हो सकने से। और यहां तीसरा अर्थ व्यापार हीं सम्भव है। 'ईश्वर के ज्ञान को व्यापार बनाकर अथवा बीच में डालके भेद से मोक्ष की सिद्धि होती है' यह माननादृशविषयमें शोक है स्वा० दयानन्द जी की धृष्टता पर। भेद ही को मोक्ष प्राप्ति का मुख्य कारण बतलाते हुए स्वामी जी ने- "तमेवविदित्वा" इत्यादि नाना श्रुतिप्रतिपादित अर्थ को छोड़ ही दिया! इस प्रकार स्पष्ट ही शास्त्र का विरोध है। और ईश्वर स्तुति प्रार्थना के ज्ञान मात्र को स्वयं स्वामी जी भी नहीं मानते यही "अननुगम" और और वादान्तर स्वीकारापत्ति दोष है। इत्यादि ऐसे दोष हैं जिन का कोई उत्तर नहीं हो सकता। विशेष, मुक्तिनिरूपण प्रकरण में लिखा जायगा।

ङ्गीकारेऽपि परमेश्वरज्ञानस्य न फलत्वमितिमुक्तिनिरूपणावसरे वक्ष्यामः। किन्तु फलोद्देशेन क्रियमाणस्य कर्मणः कथं निष्कामत्वम् ? अत्रैव च हेतुमाह– "अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात्" । अनन्तसुखयोगत्वे स्वदभिमता मुक्तेरावृत्तिर्नष्टा, इति स्पष्ट एव स्ववचनविघातः परमतप्रवेशश्च । एवं सचाग्निहोत्रमारभ्येत्यारभ्य सौधिकतया स्वसुखायैव भवतीत्यन्तो ग्रन्थः, अग्निहोत्रादेरश्वमेधान्तवैदिककर्मणो वायुवृष्ट्यादिशुद्धिमात्रप्रयोजकतयैवोपयोगप्रतिपादकः, मीमांसादिनिरूपितार्थविरोधपर्यकः श्रेयोऽर्थिभिः सर्वथाऽपिहेयः । उक्तार्थदार्ढ्याय मीमांसाप्रमाणमाह–"द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" अ०४ पा०३ सू० १ ॥ "द्रव्याणांतुक्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्" अ० ४ पा० २ सू०८ ॥ सूत्रयोरनयोरर्थप्रतिपादनेन पण्डितम्मन्यस्यास्य दयानन्दस्य पाण्डित्यं साधु विशदीभवति' तथाहि–"अनयोरर्थः–द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्तव्यम्।" 'द्रव्यसंस्कारः कर्मसु' इति

द्वितीय भेद को स्वामी जी बतलाते हैं "अपरोलोके "ति ।"अर्थात् दूसरा लोकव्यवहार सिद्धि के लिये जो धर्म मात्र से अर्थ कामों को सिद्ध करने के लिये संयुक्त किया जाता है" यहां इस संस्कृत में "दयानन्देन" ऐसा शेष है–यह मालूम होता है। वैसा सामर्थ्य साधारण जनोंमें असम्भव है। क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, इनतीनों के सहारेसेही लोकव्यवहार चलता है । केवल अर्थ, काम से नहीं। धर्म मात्र से अर्थ कामकी सिद्धि नहीं होती किन्तु अभिचारयागादि से भी अर्थ सिद्धि होती है और अभिचारयागादि धर्म में परिगणित नहीं। इसी लिये अभिचारयज्ञ (हिंसार्थक यज्ञ) का कर्ता प्रायश्चित के योग्य होता है। इसी तरह अन्यबातें भी कल्पनीय हैं। पूर्वोक्तरीति से कर्म काण्ड केदो भेद बतलाकर स्वामी जी ने अकाण्डताण्डव किया है। अस्तु। अब दूसरी पण्डिताई देखिये:–" यदेत्यादि ,, " जब वह परमेश्वर कीप्राप्ति रूप फलके उद्देश्यसेही किया जाता है तब वह श्रेष्ठफलसेयुक्त होकर निष्काम संज्ञा कोलाभ करता है" यहां पर विचार कीजिये ' प्राप्ति, पदार्थ क्या है ? संयोग है या ज्ञान ? यदि पूर्व पक्ष माना जाय अर्थात् संयोगमाना जाय तो वह आत्मा का ही मानना होगा। तो परमात्मा को विभु होने से और जीवात्मा परमात्मा दोनों को नित्य

सूत्रगतपदस्य द्रव्यसंस्कारःकर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्राकर्तव्यमित्यनर्थोऽखिलेनापि कर्तुं नशक्येत। कुतश्चायं विधिरुपलब्धःस्वामिना? सप्तम्यर्थस्तु सर्वेथोपेक्षित एव। नकेवलंसप्तम्यर्थोऽपितु शास्त्रमर्यादैवोपेक्षिता, स्वजीवनमपश्यन्ती दूरपराहतैव। अहो महदाश्चर्यं यदीदृशानामपि विदुषां महापुरुषाणां दुर्निवारो व्यसनोपनिपातः। ननकंचन स्पृशन्ति सर्वेथा मर्त्यधर्माः बुद्धिविकाराः। नन्वनयैव योगिबुद्ध्या प्रेरितेन वेदभाष्यमकारि। भुवनभास्करस्य भगवतः शङ्कराचार्यस्य च नास्तिकत्वमापादि? किंबहुना, भूयोऽपि प्रकृतमवलोक्यताम्—"द्रव्याणिपूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानिसुगंधादिगुणयुक्तान्येवगृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसम्पादनार्थं संस्कारः कर्तव्यः,,। चतुः संख्याकानि सुगंधिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तान्येव द्रव्याणि पूर्वमुक्तानि, तेषामुत्तमोत्तमगुणसम्पादनार्थं परस्परं संस्कारः कर्तव्यः, ऋग्वेदभूमिकायाः। अत्र वदामः—सुगन्धादिगुणयुक्तानि भवत्येव हि तानिद्रव्या-

होने से उन दोनों का संयोग भी नित्यही मानना पड़ेगा। और नित्यपदार्थ को फलरूपकहना असंगत है। क्योंकि फल—कार्यहोता है। संयोग, नित्यभी हो और कार्यभी—यह विरुद्ध बात है। यदि प्राप्ति—पदार्थ ज्ञान मानलिया जाय, तो परमेश्वर का ज्ञान फलरूप नहीं हो सकता-यह बात मुक्तिनिरूपणावसर में कहैंगे। और जो फलोद्देशसे कर्म किया जाता है-उसे निष्काम कैसे कह सकते हैं। इसी विषय में स्वामी जी ने हेतु लिखा है "इस का अनन्तसुख के साथ योग होने से "। इसहेतु को लिखतेहुवे स्वामी जीयह भूल गये कि मेरी मानी हुई मुक्ति से पुनरावृत्ति नष्ट होजायगी। यही अपने वचनों का व्याघात कहलाता है, ऐसा मानने से दूसरों के मतमें प्रवेशकरनादोषभी है। इन सब बातों से सिद्ध है कि "सचाग्निहोत्रेत्यादि स्वसुखायैव भवति,, इत्यन्त ग्रन्थ, जो सब वैदिककर्मों को वायुदृष्टि आदि का शोधक मात्र बताता है, और मीमांसादि से विरुद्ध है, वह धर्मजिज्ञासुओं को छोड़ देना चाहिये। अपने अर्थकीदृढता के लिये पूर्व मीमांसाके दो सूत्र दिये हैं जिनकेरखने से पण्डितंमन्य दयानन्द का पाण्डित्य खूब प्रकाशित होरहा है। अर्थ आपने किया है कि "द्रव्य, संस्कार, कर्म, ये तीनों यज्ञ कर्ता को करने चाहिये",, सूत्र में जो "द्रव्यसंस्कारकर्मसु,,

त्वभिहितानि, पुनस्तेषां कीदृगिदमुत्तमोत्तमगुणसम्पादनम्? उतद्रव्यस्यैव गुणत्वं सम्पाद्यते? कथं न, यतोहि न किञ्चिदसम्भाव्यं सर्वशक्तिसङ्कल्पानां योगिनाम्। "परस्परं संस्कारः" इत्यस्यार्थस्तु नाधिगतोऽस्माभिः। किमन्योऽन्यमपेक्ष्य कश्चित्संस्कारो विधीयते? उत मिथः संमिश्रणात्मक एव संस्कारो भवताभिमतः। अथनानाद्रव्याणां मिथोमेलनेन कश्चिदपूर्वस्तत्राधीयते?। कथमपि न सम्भवति, सर्वस्याप्यस्य शास्त्रे क्वाप्यमीमांस्यमानत्वात्। अथच सूत्रगतानि कानिपदानीत्थं व्याख्यायन्ते। ननु पूर्वोक्तस्य 'द्रव्य-संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यमिति सूत्रार्थस्य कथं कर्त्तव्यमिती-तिकर्त्तव्यताकाङ्क्षायामुत्थितायां उक्तानि चतुःसंख्याकानि सौरभादि-गुणयुक्तानि द्रव्याणि संस्कृत्य पूर्वं ततः कर्म कर्त्तव्यमित्यापादनेनतस्याः शमनमित्युक्तपदानामेव व्याख्येति चेत्? अहोबहुपाण्डित्यं दर्शितम्, मूलस्यैव दूषितत्वादनभिधानाच्चास्य श्रेयोऽयतामनन्यमानं मति ते किमुत्त-

---

पद है-उसी का यह अर्थाभास अनर्थ है। षष्ठी सप्तमी के जानने वाला बालक भी ऐसा अनर्थ नहीं कर सकता। यहां पर "विधि" स्वामी जीको कैसे ज्ञात हुई। सप्तमी का अर्थ तो सर्वथा ही छोड़ दिया। केवल सप्तम्यर्थ का ही तिरस्कार नही किया किन्तु शास्त्रमर्यादा को भी कुचलडाला। बड़े आश्चर्य की बात है जो ऐसे महापुरुष और विद्वान् अंटसंट कहने में जरा नहीं हिचकिचाते। बुद्धि विकार, मनुष्य मात्र को बेतरह घेरते हैं! क्या आपने इसी योगिबुद्धि से प्रेरित होकर वेद भाष्य करने की ठानी? और जगद्भास्कर भगवान् शंकराचार्य को नास्तिक बताया। खैर, स्वामी जी की आगेकी बात सुनिये। "पूर्वोक्त चार प्रकार के द्रव्यों (सुगन्धि, मिष्ट, पुष्टि कारक, रोगनाशक) को ही लेकर उनमें उत्तमोत्तमगुण सम्पादन के लिये परस्पर संस्कार करना चाहिये" यह भूमिका ग्रन्थ है।

इस पर हमारा यह वक्तव्य है कि पूर्वोक्त चारद्रव्य आपने ही सुगन्धादिगुण युक्त बतलाए हैं। फिर उनमें और उत्तमोत्तमगुण कैसा संपादन कीजियेगा। या द्रव्य कोही गुण बना डालेंगे। योगियों के लिये सब कुछ सम्भव है! "परस्परं संस्कारः" इसका क्या अर्थ होता है। मालूम नहीं। एक दूसरे की अपेक्षा से किसी संस्कार का विधान है। अथवा

रम् ?। किञ्च यदिदमनुपदमेव त्वया किञ्चिदुदाहरणं प्रादर्शि, तत्कस्मिन्नर्थे पर्यवस्यतीति ? उपक्रमे तु मिथः संमिश्रणात्मकसंस्कारदार्ढ्यायैव तदुपादानमिति प्रतीम, उपसंहारश्चपुनः " तथैव यज्ञाद्धो वायवो जायते., इत्यादिग्रन्थेन वाय्वादिशुद्धिद्वारा तत्सर्वंजगतः सुखकरमेवेति प्रयोजनप्रतिपादकतयैव विहितः । एव मुपक्रमोपसंहारयोर्मिथोऽव्याहतार्थनिरूपकत्वाद् बालविजृम्भणमात्रमेवैतत्सर्वमित्यलमतिप्रसङ्गेनेति । "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्य" इति पाणिनीयानुशासनं त्वत्रप्रकरणे विस्मृतमेव दयानन्देन । निरंकुशामहर्षयः। न केवलं दयानन्दचमत्कृतिरत्रैवान्तमिता; अधुना इतोऽप्यधिकं कौतुकमवलोक्यतां तस्य विद्वद्भिः । उक्तार्थोऽपोद्बलकमैतरेयब्राह्मणवाक्यमाह-'अतश्चोक्तमित्यादिना'। 'यज्ञोपितस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवंविद्वान् होता भवतीति"। विचार्यतामस्य चातुर्यम्- "यज्ञोऽपि,, इति पदंपूर्वंवाऽन्वितमपिपरत्र तदन्वयं विदधाति एवंविधश्चपाठः ऐतरेयब्राह्मणे बहुत्र

परस्पर मिलना ही आप संस्कार समझते हैं ? अथवा अनेक द्रव्यों के मेलसे कोई अपूर्व उनमें आहित होता है ? इन सब पक्षों में से कोई भी पक्ष नहीं बन सकता, क्यों कि ऐसी तुच्छ बातों की शास्त्र में मीमांसा ही नहीं । सूत्र के कौन से पदों की ऐसी व्याख्या है ! यह तो बताइये ! यदि यह माना जाय कि "- पहले कहा जा चुका है कि द्रव्य, संस्कार, कर्म, ये तीनों यज्ञकर्ता को करने चाहियें- इस सूत्रार्थ में यह आकाङ्क्षा होती है कि कैसे करने चाहिये । इस आकाङ्क्षा को शान्त करने के लिये बतलाया कि चार प्रकार के द्रव्यों को जो सुगन्धादि गुण युक्त हों, संस्कृत करके फिर कर्म करना चाहिये । इस लिये सूत्रोक्त पदों को ही यह एक प्रकार की भावार्थ को लेकर व्याख्या की गई है" ।

तब तो यही कहना चाहिये कि आपने बहुत पण्डिताई खर्च की । मूल सूत्र को तो बिगाड़ ही दिया, न किसी ने ऐसा विलक्षण कथन किया । आप शब्दादि को मानते ही नहीं, आपके प्रति उत्तर ही क्या हो सकता है । अच्छा, यह तो बताइये, यह जो आपने कुछ आगे चलकर उदाहरण बताया है- यह किस अर्थ में पर्यवसित होता है ! प्रारम्भ में तो मालूम होता है कि परस्पर मिलना-रूप संस्कार की दृढता के लिये ही उसे ग्रहण किया था फिर अन्त में वायु आदि की शुद्धि द्वारा जगत् का सुखकारी (यज्ञादि)

दृश्यते । परं स्वामिभिर्द्वितीयाध्यायगत एवस्वग्रन्थे समुद्धृतः । तत्रसर्वत्रापि 'यज्ञोऽपि, इतिपदस्य पूर्ववाक्येनैवान्वयः, अयं च तत्रत्यश्चपूर्वापरब्राह्मणग्रन्थो विदुषां सौकर्यायाविकलमत्रोद्धियते ।-" पञ्चदेवता यजतिपाङ्क्तोयज्ञः सर्वादिशः कल्पन्तेकल्पतेयज्ञोऽपि, इति । तस्यैजनतायै कल्पतेयत्रैवं विद्वान् होताभवति" ।। अ०२ । ख०१ । देवविशःकल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्पमाना अनुमनुष्यविशः कल्पन्त इतिसर्वाविशः कल्पन्तेकल्पते यज्ञोऽपि,इति । तस्यै जनतायैकल्पते यत्रैवं विद्वान् होताभवति,, । अ०२ । ख०३ ॥ पाठविपर्ययएव महान्दोषस्तावत् । अर्थोऽपिविचार्यताम्-,,जनानांसमूहोजनता तत्सुखार्थं व यज्ञोभवति यस्मिन्यज्ञेऽमुनाप्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौहोमं करोति,, । अत्र'अमुना प्रकारेण,इतिकोऽयं प्रकारोऽभिलक्षितः किं"यथासूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसेसंस्थाप्याग्नौ प्रतप्यतस्मिन् धूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बध्वाप्रचालयेत्"इत्यादिदृष्टान्तपुरस्सरं योऽयं प्रकारोभव-

होता है,यह बता दिया । इसप्रकार उपक्रम और उपसंहार आपके परस्पर विरुद्ध हैं । इसी लियेयह लेखसब बालविलासमात्र है । स्वामीजी ने ,,गन्धस्येदुत्पूति" इसपाणिनीयसूत्र को तो भुलाही दिया, महर्षि निरंकुशहोते ही हैं । स्वामी जीका चमत्कार इतने मेंही समाप्त नहीं होजाता । किन्तु इससे भी अधिक कौतुक विद्वान् लोग आगेदेखें ।

इसी अर्थकी दृढ़ता के लिये एकऐतरेय ब्राह्मणका वाक्य लिखमारा है"यज्ञोऽपी"इति। इसवाक्य में आपने चतुराई दिखाई है- वह भी देखिये । उक्त वाक्य का"यज्ञोऽपि" यहपद पूर्वके साथ अन्वित है परन्तु आपने अगले पदके साथ अन्वित कर दिया है । ऐसा पाठऐतरेय ब्राह्मण में बहुतजगह आया है परन्तु स्वामी जीने द्वितीयाध्यायका पाठही अपने ग्रन्थ मेंउद्धृत किया है, वहां सबजगह 'यज्ञोऽपि, इसपदका पूर्वके साथही अन्वय है । यह और वहां का अगला पिछला ब्राह्मण ग्रन्थविद्वानों को सहजमें जानने केलिये यहां समुद्धृत कियागया है (मूलमेंदेखिये) । एकतो पाठको उलटा रखना हीबड़ा दोषहै, खैर,अर्थ ही विचारिये ! "जनानामित्यादि जनोंके समूहका नाम जनता है उसके सुखके ही लिये यज्ञहोता है, जिस यज्ञमें उसप्रकारसे विद्वान् संस्कृत द्रव्यों का अग्निमें होम करता है" । यहां स्वामी जीसे पछना चाहिये कि'उस प्रकारसे,क्या मतलब है वही प्रकार जिसेआपने

ताऽभिहितः, स एव वतान्यः कश्चित्प्रकारः ? यद्यन्यस्तर्हि कथमत्र 'अतश्चोक्तम्'- इति प्रतीकं धृत्वा समुद्धृतोऽयं पाठः । आद्यश्चेन्न किञ्चिदस्माभिर्वक्तव्यम् सर्वथाप्यशास्त्रीयत्वात्तस्य तत्र भवतामप्राज्ञयमेवास्तु, किञ्च "संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति" इत्यर्थः कुत उपलब्धो भवता । किं होतृपदेनैवैतदपराद्धम् श्रूयताम्-नात्र होतृपदमग्नौ द्रव्यप्रक्षेप्तारं विधत्ते, अपितु कारकस्माख्यां हि तोस्त्रैका-न्ययोगात्तथाभूतां समाख्यामादाय, केवलं पूर्वप्रकृतार्थं प्रशंसन्तद्वेदनं प्रशंसति अन्यथा नोपपद्येत पाचकमानय पक्ष्यति लावकमानय लविष्यतीति लोकव्यवहारः यतो हि न तत्र तदानीं पाकादिकर्त्तृत्वं विधीयते । तदेवमसारतरतर्कसंदृब्ध-त्वादनुपादेय एवायमर्थः । सायणीयन्त्वैतरेय भाष्यं प्रकृतं विदुषां सुकरप्रतिपत्तये-ऽक्षरशो लिख्यते:-"तयोक्तं देवागतां संख्यां प्रशंसति । पञ्चेति:-पश्चाद्यादि-त्यान्ताः पञ्चदेवता यज्ञस्य पञ्चसंख्यायोगात्पाङ्क्तत्वं बहुधा लक्ष्यते ऽतो यज्ञो देवताविषया पञ्चसंख्या युक्ता । दिशोऽपि प्राच्याद्या ऊर्ध्वान्ताः । अतो देवता

दाल में घृत डालने की विधि का दृष्टान्त देकर बतलाया है वा कोई भिन्न यदि कोई भिन्न ही प्रकार है तो "अतश्चोक्तं" प्रतीक को धरकर यह पाठ क्यों उद्धृत किया ? यदि वही दालवाला प्रकार है तो हमें कुछ कहना ही नहीं, क्यों कि वह सब अशास्त्रीय है । अशास्त्रीय बातों में आपका साम्राज्य बना रहे "निरङ्कुशत्वात्तु तस्य" ।

और यह तो बताइये " संस्कृत द्रव्यों का अग्नि में होम करता है" इतना अर्थ आपने कहां से निकाल लिया । क्या होतृपद ने ही तो यह अपराध नहीं किया यहां का होतृपद वर्त्तमान में अग्नि में द्रव्य डालने वाले का बोधक नहीं है किन्तु पाचकादिवत् क्रियाबोधक शब्द होने से पूर्वप्रकृतार्थ की प्रशंसा करता हुआ उसके ज्ञान की प्रशंसा करता है । जैसे लोक में यह व्यवहार होता है कि पाचक को ले आओ पकावेगा इत्यादि, ऐसा ही यहां व्यवहार है । अधिक क्या कहें यह ग्रन्थ असारतर्कों से भरा हुआ है इसलिये सर्वथा अनुपादेय है । सायणाचार्य का ऐतरेयभाष्य - इस प्रकरण को विद्वानों को देखने के लिये अक्षरशः लिखा जाता है । तात्पर्यार्थ यह है पूर्व देवतागत पञ्च संख्या की प्रशंसा है फिर ज्ञान की प्रशंसा की गई है कि जिस याज्ञिकजन समुदाय में होता अर्थात् देवताओं का ज्ञाता होता है, उस जनता में होता अपने प्रयोजन में समर्थ होता है" 'कल्पते' शब्द का "सुखायैव भवति" यह अर्थ तो दयानन्द

गतपशुसंख्यया गताः सर्वादिशः कल्पन्तेसमर्था भवन्ति । पूर्ववद्विज्ञाताः सत्योज्ञाता भवन्तीत्यर्थः । यज्ञोऽप्यनया कल्पते स्वप्रयोजनसमर्थो भवति ॥ वेदनंप्रशंसति । तस्या इतियत्र यस्यांजनतायां याज्ञिकजनसमूहे होता प्रायणीय देवतानां वेदिताभवति तस्यांजनतायामयं होता स्वप्रयोजनसमर्थो भवति"। "कल्पते"इत्यस्यसुखायैवभवतीत्यर्थस्तुदयानन्दकपोलकल्पितएव॥दैवविश इति "एवं सति देवेषु विशो वैश्यजातिरूपाः प्रजामरुदादयोयाः सन्तिता अस्मिन् यागे कल्पयितव्याः संपादयितव्या इत्येवं ब्रह्मवादिन आहुः। कल्पमानाः संपन्नास्ता देवविशोऽनुसृत्य मनुष्यविशोऽपि तदनुग्रहात्संपद्यन्त इत्येवं दैव्यो मानुष्यश्च सर्वा विशो यजमानस्य संपद्यन्ते।तासुसंपन्नासु द्रव्यलाभा-द्यज्ञोऽपि कल्पते स्वप्रयोजनसमर्थो भवति॥ एतद्वेदनं प्रशंसति । तस्या इति-पूर्ववद्व्याख्येयम्" इति ॥ स्वामी दयानन्दस्तुस्वार्थमभिधाय तत्रैव हेतुमभि-धास्यन् 'कुतः" इति प्रतीकं दत्वा प्रकृतसूत्रावयवमेवोदाजहार-" तस्य

का कपोल कल्पित ही है।

ऐसा होने पर देवों में जो वैश्यजातिरूप प्रजा या मरुदादिक हैं, वे इस याग में कल्पनीय हैं-ऐसे ब्रह्मवादी लोग कहते हैं। कल्पित हुए उनदेव विशों का अनुसरण करके मनुष्य वैश्य भी उनके अनुग्रह से यज-मान को मिलजाते हैं। उन मनुष्य वैश्यों के मिलनेपर द्रव्य लाभ होने से यज्ञ भी अपने अपने प्रयोजन में समर्थ होता है। इसके ज्ञान की प्रशंसा है "तस्यै,, इत्यादि ग्रन्थ से। व्याख्या पूर्ववत्जान लेनी चाहिये स्वामी जी अपने अर्थ को कहकर उसमें हेतु देते हुए "कुतः,, इस प्रतीक को देखकर प्रकृतसूत्रावयव का उदाहरण देते हैं "तस्य परा-र्थत्वात्,,। और उसका अर्थ लिखते हैं कि "यज्ञ परोपकार केही लिये होता है इसी लिये फलका श्रवण, अर्थवाद अर्थात् अनर्थ निवृत्ति के लिये ही है,,। शिव शिव। हरे हरे। यह सूत्रार्थ है॥ व्याकरणादि शास्त्र में कुछ भी प्रवीणता रखने वाला क्या ऐसा अर्थ करने का उत्साह कर सकेगा॥

द्वितीय सूत्र का अर्थभी विद्वान् लोग विचारें-"उसी प्रकार से होमक्रिया-र्थक द्रव्य और पुरुषों का जो संस्कार होता है वहही क्रतुधर्म जानना चाहिये, इस तरह यज्ञसे धर्म होता है अन्यथानहीं"॥ वस्तुतः यह सब

परार्थत्वात् ॥ । यज्ञः परोपकारायैवभवति । अत एव फलस्य श्रुतिःआवश्य-मर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति " इति तस्यार्थंब्रूते । अत्याहितम्, शान्तं पापम्, आः कष्टम्, अनर्थमापतितम् । ईदृशोऽयमस्यार्थः ? व्याकृतिप्रभृतितन्त्र-प्रवीणतां कथञ्चिद् भजमानोऽपि पुरुषो नैवंविधमर्थंकर्तुमुत्सहेत ॥ द्विती सूत्रार्थोऽपि विचार्यतां विद्वद्भिः।"तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणांपुरुषाणांचय संस्कारो भवतिसएव क्रतुधर्मो बोध्यः । एवंक्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते" ॥ नान्यथेति" ॥ वस्तुतः सर्वमिदं साहसमात्रमेव दयानन्दस्य। सूत्रार्थस्तु स्पष्ट-एवक्रियार्थानां क्रिया प्रयोजनानां द्रव्याणांयः संस्कारो विधीयते न सपुरुषः धर्मोऽपितु क्रतुधर्म एवेति। 'सएव क्रतुधर्मः, इति निर्धारणमत्र सूत्रे स्वामिभि कुतउपलब्धमिति न प्रतीमः । द्वयोरप्यनयोः सूत्रयोः श्रीमद्भगवत्पादशबर-स्वामिविरचितं भाष्यमपि विदुषांप्रतिपत्तिसौकर्यायाक्षरशःसमुद्ध्रियते।तथाहिः "यस्यखादिरः स्रुवोभवति स छन्दसामेव रसेनावद्यति सरसा अस्य आहुतयो

दयानन्द का साहस मात्र है। जैमिनि सूत्रकाअर्थ तो स्पष्टही है कि क्रियार्थानां अर्थात् क्रिया प्रयोजनकद्रव्यों का जो संस्कार किया जाता है वह पुरुषधर्म नहीं किन्तु यज्ञ धर्म है। " वह ही क्रतु धर्म है " ऐसा निर्धारण इस सूत्रमें स्वामी जी ने कहां सेघुसेड़ दिया, समझमें नहीं आता। इन दोनों का शबर स्वामिकृत भाष्य उद्धरण किये देते हैं-जिससे सूत्रों का यथावत् अर्थ विदित हो ।

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥

इस सूत्र का भाष्य के अनुसार संक्षिप्त अर्थ यही है, कि मीमांसा शास्त्रमें जहां कहीं द्रव्य विषयक फल सुनाजावे, जैसे, "यस्यपर्णमयी जुहूर्भ-वति नसपापंश्लोकं शृणोति ,, अर्थात् जिस यजमान की जुहू (एक यज्ञका पात्र) पलाश की बनी हुई होती है, वह पाप लोक को प्राप्त नहीं होता। यहां पर ढाक से बने हुए जुहू रूप द्रव्य में पापलोक की अप्राप्ति रूप फल सुना जाता है। इसी प्रकार संस्कार में जहां फल सुनाजावे, जैसे " यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृंक्ते ,, अर्थात् जो यजमान यज्ञ कालमें आंखों में अंजन लगाता है, वह अपने दुश्मन की आंखों को छेदता है, यहां पर आंखके आंजने रूप संस्कार में दुश्मन की आंख का छेदन रूप फल सुनाजाता है, इसी प्रकार कर्म में भी जहां कहीं फल सुना

भवन्ति । यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोतीति । यस्याश्वत्थी उपभृद्भवति ब्रह्मणैवास्यान्नमवरुन्धे । यस्य वैकङ्कती ध्रुवा भवति प्रत्येवास्याहुतयस्तिष्ठन्ति । अथो प्रैव जायते य एवंरूपाः स्रुचो भवन्ति । सर्वाण्येवैनं रूपाणि पशूनामुपतिष्ठन्ते, नास्य अपरूपमात्मन् जायते इति । तथा ज्योतिष्टोमसंस्कारे फलश्रुतिः । यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते । तथा केशश्मश्रू वपते दतो धावते नखानि निकृन्तति स्नाति, मृता वा एषा त्वगमेध्यं यस्यैतदात्मनि शमलं तदेवापहते मेध्य एव मेधमेवमुपैति । कर्मणि फलं श्रूयते । अभीषू वा एतौ यज्ञस्य यदाघारौ, चक्षुषी वा एतौ यज्ञस्य यदाज्यभागौ, यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते, वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते, वर्म यजमानस्य भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै इति । अत्र सन्देहः । किमिमे फलविधयः ? उतार्थवादाः ? इति । किं प्राप्तम् ? फलविधयः । प्रवृत्तिविशेषकरत्वात् फलविधेः । यथा खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत पालाशं ब्रह्मवर्चसकामस्य । बैल्वमन्नाद्यकामस्येति । यथैते फलविधयः ।

जाता है, जैसे- यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते, वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते, वर्म यजमानस्य भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै" इति । अर्थात् जो यजमान प्रयाज और अनुयाज का यजन करता है, वह यज्ञ का कवच तैयार करता है, और वह कवच यजमान के दुश्मन के तिरस्कार के लिये होता है । यहां पर प्रयाज अनुयाज रूप कर्म में यजमान के दुश्मन का तिरस्कार रूप फल सुना जाता है। अब यहाँ पर सन्देह यह होता है कि- द्रव्य में, संस्कार में, और कर्म में जो फल सुना जाता है यह सब फल विधि हैं, अथवा अर्थवाद हैं, उत्तर पक्ष यही है कि ये सब अर्थवाद हैं, फल विधि नहीं हैं सूत्रकार ने ही उस में हेतु दिया है,' परार्थत्वात्' । अर्थात् द्रव्यादि सब क्रतु के ही लिये हैं । अतः इनका स्वतन्त्र मुख्य फल कुछ नहीं हो सकता इसलिये इनमें जो फल सुना जाता है, वह सब अर्थवाद है।

द्रव्याणांतुक्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्

अर्थः-ज्योतिष्टोम प्रकरण में कहा गया है कि-ब्राह्मण को पयोव्रत (व्रत के समय दूध का पीने वाला) राजन्य को (१)यवागूव्रत, तथा वैश्य को आमिक्षा व्रत होना चाहिये । उस में यह सन्देह होता है कि यह पुरुष का धर्म है या क्रतु का धर्म ? ऐसा सन्देह होने पर पूर्व पक्ष वादी कहता है कि यह पुरुष का ही धर्म है, यद्यपि यह बात ज्योतिष्टोम क्रतु के प्रकरण में है और इसी

नोट- यवागू-जौकी लप्सी और आमिक्षा फटे दूध की बनती है ।

एवमिहापि द्रष्टव्यम् । एवंप्राप्तेब्रूमः । फलार्थवादा इति । कुतः । परार्थत्वात् । क्रत्वर्थान्येतानि । जुहूः प्रदानेगुणभूता, उपभृद्धारणे, ध्रुवाऽऽज्यधारणे अङ्ग-नवपनादि च यजमाने, आघारावाज्यभागौ प्रयाजानुयाजाश्चाग्नेयादिषु । यदि फलेऽपिगुणभावः स्यात्, अन्यत्रोपदिष्टानामन्यत्र पुनर्गुणभाव उपदिष्ट इति प्रतिज्ञायेत । नचैतन्न्याय्यम् । परार्थताहिगुणभावः । क्रत्वर्थताचैषां शब्देन, जुह्वा जुहोति, जुह्वाहोमम्भिनिर्वर्त्तयतीति । एवंसर्वत्र । तस्मान्नैतेपुरुषार्थाः ॥ अ० ४, पा० ३, सू० १ ॥

"द्रव्याणांतुक्रियार्थानांसंस्कारः क्रतुधर्मःस्यात्" ॥ ज्योतिष्टोमेसमामनन्ति-पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागूराजन्यस्य, आमिक्षावैश्यस्येति । तत्र सन्देहः । किमयं पुरुषधर्मः, उतक्रतोरिति । प्रकरणंबाधित्वा वाक्येन विनियुक्तः पुरुषस्येति । एवं प्राप्तेब्रूमः । पुरुषाणां क्रियार्थानां शरीरधारणार्थो बलकरणार्थश्चायं संस्कारो व्रतंनाम । सक्रतुधर्मो भवितुमर्हति प्रकरणानुग्रहाय । ननुवाक्या-

लिये प्रकरण बल से यह क्रतु का ही धर्म होना चाहिए था, परन्तु प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है, इस लिए "पयोव्रतंब्राह्मणस्य" इत्यादि वाक्यों से निर्दिष्ट हुआ २ यह पुरुष का ही धर्म हो सकता है, क्रतु का नहीं । ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त उत्तर देते हैं कि क्रतु के लिए उद्यत हुए पुरुषों के शरीर धारण के लिए, और शरीर में बल पैदा करने के लिए ही यह व्रत नाम का संस्कार होता है अतएव यह क्रतु का ही धर्म हो सकता है, इस में प्रकरण भी संगत होता है कदाचित् यह कहो कि प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है, और वाक्य बल से यह पुरुष का ही धर्म सम्भव है, सो ठीक नहीं । क्यों कि ऐसा करने पर फल की कल्पना करनी पड़ेगी । और जब हम क्रतु का धर्म मानते हैं, तब तो फल सिद्ध ही है । अर्थात् जो फल क्रतु का है, वही उस धर्म का भी होगा । क्योंकि प्रयोग विधि के द्वारा सर्वत्र शास्त्र मे यह प्रतिपादनकिया गया है कि अङ्ग प्रधान के ही लिये होता है । इस लिये जो फल प्रधान का है, वही फल अङ्ग का भी होगा । अतएव सिद्धान्त पक्ष में अतिरिक्त फल की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी । इसलिये यह क्रतुका ही धर्म है, पुरुष का धर्म नहीं है ।

इस स्थलपर युक्तायुक्तविचारणा विद्वान् लोगोंको स्वयं कर लेनी चाहिये। और एतदर्थक इन दो सूत्रों की यहां क्या आवश्यकता है । यह भी विचार-

स्पुरुषधर्म इति । नेतिब्रूमः । तथासति फलं कर्तव्यं क्लृप्तमित्यत्र । प्रयोगवचने-
नोपसंहृतं हितत्प्रधानस्य । तस्मात्क्रतुधर्मः ; अ०४,पा०३,सू०८॥ अत्रयुक्त-
त्वायुक्तत्वविचारो विद्वद्भिरेवकार्यः । किन्तु तदर्थयोरनयोः सूत्रयोःप्रकृतेकोऽ-
त्युपकार इतिविचारणीयम् । तथाहि 'अत्रपूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्, इतिप्रती-
कं दत्वासूत्रद्वयमेव मुदाहृता । अत्रेतिपदं चप्रकृतमेव परामृशति,प्रकरणं चाग्नि-
होत्रादेःसकामत्वनिष्कामत्वप्रतिपादनपरमेव । तमेवार्थं द्रढयितुं पूर्वमीमांसा
प्रमाणत्वेनोपस्थापितेत्येव प्रत्येतुं शक्नुमः । नचोदाहृतयोर्द्वयोरपिसूत्रयो
स्तादृगर्थलवोऽपि, इत्यस्माभिः प्रदर्शितयादिशैव विचारयन्तु विचारकाः ।
कुशलोऽस्मिन् कर्मणिदृश्यते दयानन्दः-"यस्यकस्य कवेर्वाक्यं यत्रकुत्रापियो-
जयेत् । यस्मैकस्मै प्रवक्तव्यं यद्वातद्वाभविष्यति" इति । किमनल्पकल्पनया,
प्रकृतमेवानुसरामः ! "अत्रप्रमाणम्- 'अग्नेर्वधूमोजायते धूमादभ्रमि,, त्यादि ।
इदमपिप्रमाणम् कस्मिन्नर्थेपर्यवस्यति ? प्रकरणबलाच्च एवं क्रतुनायज्ञे नधर्मो

जायतेनान्यथे, त्यर्थमेवद्रढयितुमस्योपक्रम इतिजानीमः । नचायमर्थोऽस्मिन्
सीय हैं । देखिये-"इसमें पूर्वमीमांसा का प्रमाण है" ऐसा प्रतीक देकर यह
दो सूत्र बताये हैं । 'इसमें, का मतलब प्रकरण से है, और प्रकरण अग्निहो-
त्रादि की सकामता और निष्कामता का प्रतिपादन है । इसी बातको दृढ-
करनेके लिये यह पूर्वमीमांसा का प्रमाण रक्खा है- यही समझा जा सकता
है परन्तु पूर्वोक्त दोनों सूत्रों में इस बात की बिलकुल चर्चा नहीं -यहबात
पूर्वलिखित सूत्रार्थ से स्पष्ट है- इसको विचारशील विचारें । इधर उधरकी
गप्पहांकने में स्वामी जी कुशल हैं । किसीने ठीक कहा है "जिसकिसी
कविके वाक्य को जहां कहीं लगादे, जिस किसीके लिये कहदे जब कभी
होही रहेगा" ।

अस्तु । आगे देखिये । "अग्नेर्वै" इत्यादि प्रमाण दिया है सो किस अर्थ
में संघटित होता है । मालूम होता है कि "ऐसे यज्ञसे धर्मउत्पन्न होता है अन्यथा
नहीं" इस बातको दृढ करने केलिये ही इसका उपक्रम है परन्तु इस ब्राह्मण
वाक्य में यह अर्थ बिलकुल नहीं निकलता । इसी प्रकारसे "तस्माद्वा०"
इत्यादि तैत्तिरीयोपनिषद् श्रुतिका भी समुद्धरण अनावश्यक है । इनश्रुति
यों से स्वामी जीका अर्थ साधन साहस मात्र है ।

और देखिये:—

ब्राह्मणवाक्ये दृश्यते । एवं चैतदाश्रयतया 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन, इत्यादि तैत्तिरीयोपनिषच्छुतिसमुद्धरणमप्यत्र प्रकरणे नावश्यकमिति । एताभिः श्रुतिभिश्च स्वार्थसाधनमपि साहसमात्रमेव दयानन्दस्येति ।

अन्यच्च "तत्रद्विविधः प्रयत्नोस्तीश्वरकृतोजीवकृतश्च ईश्वरेण खल्वग्निमयःसूर्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च सनिरंतरं सर्वस्माज्जगतोरसानाकर्षति," अयं भूमिका-ग्रन्थोतिकौतुकमावहति । तथाहि यदि जीवेश्वरकृतत्वेन यत्नस्य द्वैविध्यं,तर्हि जीवानामानन्त्येन तद्भेदमादायानेकविधताकुतो नस्यात् ? सत्यनेकविधत्वेतत्वैव वचनव्याघातः । नचेत्प्रमितार्थापलापपङ्कसीद । ननु ईश्वरकृतत्वेन ईश्वरकृतयत्नस्यैकाकोटिः । जीवत्वावच्छिन्नयावज्जीवकृतत्वेनचापरा कोटिरिति द्वैविध्यमेवयत्नस्यायातीतिचेत् । सत्यंयत्नत्वेनसर्वस्यापियत्नस्यैका कोटिरेव किंनस्यात् ? विपक्षे बाधकाभावात् । किञ्चईश्वरप्रयत्नस्याकृतत्वेनोत्पत्तिमत्वाभावाञ्भवद्भिश्चिदप्यनित्यत्वमुच्यते । भवतस्त्वनित्यत्वानुक्तवतो नाभिधानिकोक्तविरोधान्निष्कृतिः स्यात् । अपिच प्रयत्नस्य

"दो प्रकार का प्रयत्न है १ ईश्वरकृत और २ जीवकृत । ईश्वरने अग्निमय सूर्य और सुगन्धपुष्पादि बनाया है, वह निरन्तर सब जगत्सेरसों का आकर्षण करता है" यह भूमिका ग्रन्थ है, जो बड़ाकुतूहल वर्धक है । सोचिये यदि जीव और ईश्वर के करनेसे यत्नदो प्रकार का है तौजीवों के अनन्त होनेके कारण उनके भेदोंको लेकर अनेक विध क्यों नहीं ! यदि अनेकविध मानलिया जायतो स्वामीजीका वचन व्याघात हो जाता है अर्थात् परस्पर विरोध होजाय । अनेकविधता यदि न मानोतो वास्तविक वस्तुके छुपानेरूप कीचड़में दुःखउठाओ । यदि यावज्जीवकृतयत्नों को लेकरजीवकृत यत्नत्वेनरूपेण पृथक्एक कोटि रक्खेंगे तोयत्नत्वेनरूपेण एक कोटि हीक्यों नहीं मानलेते ? कोई विपक्ष में बाधकतो है नहीं । दूसरी बात यहहै-कि नैयायिकलोग ईश्वरके यत्नको'कृत, अर्थात्, अनित्य नहीं मानते । आप सरासर अनित्य बतारहे हैं ? अच्छा, यहतो बताइये, यहां यत्न को आपने दोप्रकार का क्यों बताया है ! इसका मतलब ! आगे भी चलकर इसप्रकरण में यत्नका कोई उपयोग नहीं मालूम होता ।

आपके लेखानुसार तोकर्तृ अन्यत्व रूपसाध्य (नैयायिकरीतिसे) होगा अर्थात् मानना पड़ेगा । परन्तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्य कारण भावमानने

ह्वै विष्पकथनमत्र किंप्रयोजनकम् ? नह्यग्रेऽप्यस्मिन् प्रकरणे यत्नस्य कश्चिदुपयोगं प्रतीमः। तथाहि- 'ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मितः' इत्यत्र कर्तु रीश्वरस्यैव कथनं न कृतेः। एवं सर्वत्राग्रेऽपि। तथासति तूक्तवाक्येन कृतिमज्जन्यत्वं साध्यं स्यात्, कर्तृत्वेन कार्यमात्रं प्रतिजनकत्वे मानाभावात् गौरवपराहतत्वाच्च। अपितु स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानजन्यत्वं तादृशेच्छाजन्यत्वं कृतिजन्यत्वं च साध्यं लाघवात्स्याद् इति सैव सरणिरनुसरणीया, उक्तवाक्ये 'सुगन्धपुष्पादिश्चे' त्यस्य पदस्य साधुत्वं चिन्त्यमेव। अपिच "स निरंतरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति" इत्यत्र कस्तच्छब्दार्थः ? प्रत्यासत्तिन्यायेन पुष्पादिरेवेति प्राप्तम्। तस्य रसादानं सर्वथाऽसम्भवीति अर्थसम्बन्धवशात् 'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः' इति न्यायेन सूर्य एव तच्छब्दार्थः। एवं चात्र प्रकरणे "सुगन्धपुष्पादिश्चे" तिपदं सार्थकताकृते विलपत्येव। साधुत्व प्रयोजनत्वे उभेऽपि वराकस्य नष्टे इति का प्रत्याशा जीवनस्येत्येषा दयानन्दशैली कौतुकमत्यन्तमावहति। अन्यच्च- "तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्ट

में प्रमाणाभाव है और गौरव भी है। लाघव तर्क से कृतिजन्यत्वरूप साध्य ही मानना उचित है। आप के वाक्य में "सुगन्धपुष्पादिश्च" यह पद भी विचारणीय है (सुगन्धिपुष्पादिश्च) होना चाहिये। (सनिरन्तरं०) इस वाक्य में 'तत्' शब्द से आपने किस का ग्रहण किया है ? प्रत्यासत्तिन्याय से तो पुष्पादि का ही ग्रहण करना उचित है। परन्तु तत्कर्तृक रसादान सर्वथा असंभव है- इस लिये अर्थ सम्बन्ध वश से दूरस्थ सूर्य का ही तत् शब्द से ग्रहण होगा- ऐसी दशा में "सुगन्धपुष्पादिश्च" यह पद बीच में व्यर्थ ही मानना पड़ेगा। इस की सप्रयोजनता तो नष्ट हो ही गई यह स्वामी जी के लेख की खूबी है।

आगे आप लिखते हैं:-

"इस के सुगन्धदुर्गन्ध अणुओं के योग से उसके जलवायु भी इष्टानिष्ट गुण सम्बन्ध से मध्य गुण वाले होते हैं"। यहां "उसके" शब्द से क्या विवक्षित है ? प्रत्यासत्ति बल से सूर्य से खींचा हुआ रस ही लिया जाता है। ऐसी दशा में यह अर्थ होगा कि " रसका सुगन्ध दुर्गन्ध अणुओंसे योग"।

स्वामी जी ! यह क्या कह रहे हो ! आश्चर्य है आप इतने विज्ञ हो कर बहके हुओं के सी बातें कर रहे हैं। यह "योग" कैसा है ? क्या चित-

गुणयोगान्मध्यगुणौभवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वादि" इत्यत्रापि कस्तच्छब्दार्थः ? प्रत्यासत्तिबलात् तच्छब्दस्यपूर्वपरामर्शकत्वादन्यासम्भवाच्च भास्कराकृष्टोरसएव तच्छब्दार्थो भवितुमर्हति । तथा च तस्यरसस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगत्वेन' अः किमिदमुच्यते महच्चित्रम् सुगन्धदुर्गगन्धाणुभी रसस्य योग इति । कीदृशोऽयं योगः ? किंचित्तवृत्तिनिरोध एव ? यतस्तस्यैव योगिनि सम्भवः । ननुयोगः सम्बन्धएव । एवं, अपिज्ञातम् । शोभनोगन्धः सुगन्धः दुष्टो गन्धोदुर्गन्धः, सुगन्धश्चदुर्गन्धश्च सुगन्धदुर्गन्धौ, तयोरणवः सुगन्धदुर्गन्धाणवस्तैर्योगः सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगस्तत्त्वंतेनेतिनकश्चिद्दोषः, सत्यंसुगन्धस्यदुर्गन्धस्यचाणवः कदाचिद्दयानन्देनैव योगिदृष्ट्या दृष्टाःस्युः । स्यादेतत् शोभनोगन्धो येषांदुष्टोगन्धोयेषामिति बहुव्रीहिं कृत्वा सुरभ्यसुरभिगन्धविशिष्टाः परमाणवः सम्भवन्त्येव, तैश्चरसस्यापि सम्बन्धो नायुक्तः प्रसिद्धत्वादेवेतिसत्यमिति चेत् न ! तथासति सुगन्ध इतिपदस्य साधुत्वमेव नस्यात् । गन्धस्येदुत्पूतीतिपाणिनिशासनात् समासे बहुव्रीहावित्वप्राप्तेः! किञ्च "तज्जल-

---

वृत्ति निरोध रूप तो याद नही आगया ? क्यों कि उसी की सम्भावना योगियों में है । यदि योग शब्द का सम्बन्ध अर्थ करें तो यह अर्थ होगा कि "सुगन्ध दुर्गन्ध अणुओं से योग" परन्तु सुगन्ध और दुर्गन्ध गुण रूप हैं इन के अणु नहीं होते, कदाचित् योगिदृष्टि से दयानन्द ने इन के भी अणु देखें हों तो दूसरी बात है । इत्यादि विशेष संस्कृत भाग मूल में द्रष्टव्य है । यदि सुगन्ध दुर्गन्ध शब्दोंमें बहुव्रीही समास मान लिया जायतो "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" इस पाणिनि सूत्र से इकारादेश हो जाना चाहिये सो किया नहीं ।

और ' तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतः, इत्यादि समीपका ही अग्रिम वाक्य भी सर्वथा असंगत है । क्योंकि 'तज्जलवायू , इत्यादि ऊपर कहे, वाक्य में ' तत्, शब्द का क्या अर्थ है ? ' तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् , अर्थात् जलवायु के सुगन्ध दुर्गन्ध मिश्रित होने से, इस दयानन्द के कहे हुए हेतु के बल का अवलम्बनकर हम यही कह सकते हैं कि ऊपर कहे 'तत्, शब्द का अर्थ 'सुगन्ध' और दुर्गन्ध अणुओं का जलवायु के साथ सम्बन्ध, ही हो सकता है । और गन्धवाले परमाणु पार्थिव ही होते हैं । अतएव उक्तवाक्य से यही बोध

वायू अभीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतः" इत्यनुपदमेववद्भासस्य ग्रन्थस्य सर्वथाप्यसङ्गतिः। तज्जलेत्यत्र हि तच्छब्देन 'तयोः' जलवाय्वोः 'सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात्' इति दयानन्दोक्तहेतुघटकाभावस्य तादृशाणुसम्बन्धग्रहणे, गन्धसमवेतपरमाणोः पृथिवीत्वात्, पार्थिवाणुसम्बद्धौ जलानिलावित्येव बोधः। तथाच "तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगत्वेने" तिग्रन्थेन पार्थिवपरमाणोः रससमवेतत्वोक्त्या जले वायौ वा कः प्रभावस्तस्य तच्छब्दार्थपार्थिवाणुवृत्तिरसस्येति न विजानीमः। वायौ हि सर्वथापि रसाभाव एव जले च पार्थिवकटुकषायतिक्तादिरसविजातीयो मधुर एव रसः। एवञ्च 'तज्जलवायू मध्यगुणौ इष्टानिष्टगुणयोगात्, न च स्वरूपासिद्धिः-पक्षे इष्टानिष्टगुणयोगत्वस्य सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वेन हेतुनासिद्धेः' इत्यादिरदृष्टश्रुतपूर्वश्चायं जले वायौ च मध्यगुणत्वसाधकोऽनुमानप्रकारः। इत्थमेव बहुप्रलापामर्यानर्थकरीं दुष्टपदवाक्यपूर्णां महतीं काप्यवतरणिकां विरचय्य 'जलानिलादिशोधनफलकमवाग्निहोत्रादिकर्म सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यमित्यर्थकं शास्त्रप्रक्रियां सवथाप्यु-

हो सकता है कि 'पार्थिव अणु से सम्बद्ध जो जल और वायु इत्यादि। ऐसा होने पर पार्थिव परमाणु को रसवाला होने से ' तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगत्वेन, इस ग्रन्थ के द्वारा तत् शब्द से ग्रहण किये हुए पार्थिव अणु में रहने वाले रस का जलवायु में क्या प्रभाव उत्पन्न हुआ, यह हमारी समझ में अभी तक नहीं आया । क्योंकि वायु में सर्वथा रस का अभाव है । और जलमें कड़ुवे तीखे इत्यादि पृथिवी में रहने वाले रसों से विजातीय मधुर ही रस रहता है। इस प्रकार ' वे सुगन्ध और दुर्गन्ध से मिले हुए जल और वायु मध्यगुण वाले होते हैं इष्ट और अनिष्ट गुणों के साथ सम्बन्ध रखने से। कदाचित् कहो कि जल और वायु में इष्ट और अनिष्ट गुणों का योग ही कहां है ? जब सम्बन्ध नहीं है, तो आपका हेतु स्वरूपासिद्ध होगया। तो दयानन्द बोलते हैं कि नहीं। जब हम जल वायु को सुगन्ध दुर्गन्ध मिश्रित बताचुके हैं, तब इष्ट अनिष्ट का सम्बन्ध तो सुतरां सिद्ध है। इस प्रकार जल और वायु में मध्यगुणता का साधन करने वाला यह अनुमान का प्रकार न हमने पहिले कहीं देखा है, और न कहीं सुना है । योगियों की महिमा योगी ही जाने। इस प्रकार दूषित-पदवाक्यों से पूर्ण, अनर्थ कारिणी व्यर्थकी अवतरणिका बनाकर, वायु आदि

पेक्ष्य कामचारेण लोकाचार इवतन्त्रार्थं प्रतिपादयन् मिथो विरुद्धं प्रायश्चित्ती-यामाभूमेति दूरतएव श्रेयस्कामजननिवहहेयं, परस्पराकांक्षाराहित्येन पङ्पूपा 'दश दाडिमानी त्यादिवदपार्थकं' "तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्ती"-त्यारभ्यकुतः तैर्विना तदसिद्धे' रित्यन्तं पृष्ठचतुष्टयात्मकं निबन्धं बबन्ध। तत्राग्निहोत्रादिकं कर्म नत्नोऽनभिमतम्। फलंतु तत्तत्कर्मणोमीमांसादिशास्त्र-प्रतिपादितमेवस्वीकुर्मो नवाय्वादिशोधनमात्रम्। नापि 'सर्वैरेवहोमोवि-धेय, इत्यङ्गीकुर्मः। शूद्राणामनुपनीतत्वेन तत्रानधिकारात्। तदेतत्सर्वं शास्त्र-परिशीलनपवित्रान्तःकरणै विद्वद्भिरवधेयम्। इत्यतोऽधि न प्रकरणे नाधिक-मुच्यते। यत्त्वन्यत् प्रसङ्गवशाच्छास्त्रविरुद्धमुक्तं, तद्यथायथं विविच्यते। तथाहि-"प्राणिनां मध्येमनस्विनो विज्ञानंकर्त्तुं योग्यामनुष्या एवसृष्टास्त-द्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादि-तत्वात्,,। अनेन भूमिकाग्रन्थेन, विज्ञानोत्पादकाः केचनवयवा परमाणु-संयोगविशेषेणैवोत्पद्यन्ते इत्यर्थकेन परमाणुसंयोगस्य विज्ञानोत्पादकत्वे

का शोधन मात्रही अग्निहोत्र का फल है इत्यादि गपोड़े मारकर, शास्त्र प्रक्रिया का सर्वथा निरादरकर परस्पर विरुद्ध और निरर्थक बात कहने वाले स्वामी जी का कथन सर्वथा हेय है।

"तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्ति,, यहां से लेकर "तैर्विना तदसिद्धेः,, यहां तक ४ चार पृष्ठका निबन्धलिखा है। अग्निहोत्रादि कर्म को हम भी मानते हैं परन्तु उनका फल शास्त्रोक्त मानते हैं। वायु आदि का शोधन मात्र नहीं। न हम यह मानते हैं कि सबको होम करना चाहिये क्योंकि शूद्र यज्ञोपवीत के अधिकारी न होने के कारण हवन के अधिकारी नहीं।

ये सब बातें शास्त्रज्ञ लोग जानते हैं इसलिए इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता भी नहीं।

इसके आगे जो कुछ शास्त्रविरुद्ध कहा है उसकी विवेचना देखिये :—

"प्राणिनां मध्ये॰" इत्यादि भूमिका ग्रन्थ से मालूम होता है कि विज्ञानके उत्पादक परमाणुओं के संयोग विशेष हैं, लीजिये यहां नास्तिक मत में स्वामी जी घुस गये ऐसा किसी भी आस्तिक का मत नहीं कि पर

लोकायतमतानुप्रवेशो दयानन्दस्य । नहिकस्याप्यास्तिकस्यैतन्मतम् परमाणुभ्यो विज्ञानमुत्पद्यत इति नत्माच्छास्त्रविरुद्ध मेवैतत् । किञ्च "नात्यन्तो विनाशः कस्यापि सम्भवति । विनाशो हि यद् दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परन्तु दर्शनंत्वया कतिविधं स्वीक्रियते । अष्टविधं चेति । किंच तत् । अत्राहुर्गौतमाचार्या न्यायशास्त्रे" इत्याद्युक्तम् । अत्रहि दर्शनशब्देन ज्ञानमुच्यते । स्वयमपि दयानन्दस्वामिना 'दर्शनमर्थोज्ज्ञानं मया मन्यते' इत्यनुपदमेवोक्तम् । ज्ञानानां स्वाभ्यनुज्ञातं ष्टविधत्व एव भगवतो गौतमस्य साक्षित्वमुच्यते । एतच्च सर्वथापि नैयायिकमतविरुद्धमेव । यश्चात्रस्तर्कसंग्रहमप्यध्यैष्ट, सोऽपि नैतादृशमर्थं न्यायविरुद्धं वक्तुमुत्सहते । अहो धार्ष्ट्यम्- सर्वथाप्येतदर्थाऽप्रतिपादकानि गौतमसूत्राण्यपि अमुमेवार्थं द्रढयितुमुदाहृतानि । भगवति धृष्टते ! धन्यासि, यस्यास्तव निर्विघ्नो योगिनामपि शिरसि पादप्रहारः । सूत्राणि च पूर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणलक्षणाभिधायकानि चत्वार्यप्युक्तानि, ततः "प्रत्यक्षानुमानोपमान-

---

माणुओं से विज्ञान उत्पन्न होता है, इस लिए यह लेख शास्त्रविरुद्ध है। "नात्यन्तो विनाशः" इत्यादि स्वामी जी का लेख है। दर्शन शब्द का अर्थ स्वामी जी ने भी ज्ञान किया है। ज्ञानों के आठ प्रकार के होने में भगवान् गौतम की साक्षी दी है । परन्तु यह भी सर्वथा न्यायमत के विरुद्ध है। जिसने तर्कसंग्रह भी पढ़ा है वह भी न्यायविरुद्ध ऐसी बात कहनेको उत्साह नहीं कर सकता । यह धृष्टता देखिए इस बात को सर्वथा प्रकाशित करने वाले गौतमसूत्रों को, इसी बात के दृढीकरणार्थ लिखा है। धृष्टते! तू धन्य है तेरा पादप्रहार योगियों के (योगी कहलाने वालों के) शिर पर भी निर्विघ्न चलता है। पूर्व चार सूत्र प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षण बोधक कहे हैं परन्तु स्वामी जी कहते हैं "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव, अभाव, ये आठ प्रमाण हैं और इन के साधन भी आठ हैं।' यदि ज्ञानको आठ प्रकार का माना जावे तो उस ज्ञान के साधन आठ प्रकार के होने ही चाहियें। पर स्वामीजी कहते हैं यह मत मेरा ही नहीं है किन्तु गौतमाचार्य का है-इस बातकी साक्षीके लिये न्यायदर्शन अ०२ आ०२ सू० १-२ के सूत्रभी लिख दिये हैं । यह सब स्वामी जी का लेख अर्थ न जानने के कारण है- क्योंकि ये दोनों सूत्र, प्रमाणों का आठ प्रकार का होना

शब्दैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रमाणभेदादष्टधा प्रमाणं मन्यत इति" इत्याह । अनुभूत्याख्यस्य ज्ञानस्याष्टविधताङ्गीकारे तत्साधनभूतप्रमाणानामप्यष्ट-विधत्वं युक्तमेव । तथापि नैतन्मतं महर्षेरिति ब्रवीमि, गोतमाचार्यस्याप्ये-तदेव मतमिति साधनमपि प्रदर्शयति । तत्र सूत्राणि च "न चतुष्ट्वमैति-ह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ॥ शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्था-पत्तिसंभवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ न्याय, अ० २ आ० २ सू० १,२ ॥ इत्यादौ युक्तानि । सर्वमेतदर्थापरिज्ञानविजृम्भणमात्रम् । नहीयं सूत्रद्वयी प्रमाणानामष्टविधत्वं साधयति, प्रत्युत न चतुष्ट्वमित्यादिपूर्वपक्षसूत्रेणाष्टवि-धतां प्रमाणानामाशङ्क्योत्तरसूत्रेण चतुष्ट्वमेव व्यवस्थापयति । अतएव "प्रत्य-क्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" इत्युद्दिष्टस्य प्रमाणस्य विभागवचनमपि संगच्छते । प्रमाणसामान्यलक्षणपरीक्षाप्रकरणे 'न प्रदीपप्रकाशवत्तत्सिद्धे'रिति सूत्रभाष्ये भाष्यकारोऽप्यतएव "प्रत्यक्षादीनामविषयस्यानुपपत्ते"रिति वा-र्तिकं लिखित्वा "यदि स्यात् किञ्चिदर्थजातं प्रत्यक्षादीनामविषयः, यत्प्रत्य-

नहीं सिद्ध करते किन्तु इसके विरुद्ध, पूर्व प्रमाणों की अष्टविधता की आ-शंका करके प्रमाणों के चतुष्ट्व को ही व्यवस्थापित किया है इसी लिए उद्दिष्ट प्रमाण का चार प्रकार का होना ही पूर्व बतलाया है । और प्रमाण सामान्य के परीक्षा प्रकरण में न्यायदर्शन अ० २ आ० १ में " न प्रदीपप्रका-शवत्" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने स्पष्ट ही लिखा है कि कोई वस्तु ऐसी नहीं जो इन चार प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण का विषय हो ।...... इन सब बातों से सिद्ध है कि " न चतुष्ट्व " मित्यादि दो सूत्रों से चार प्रमाणों से अधिक प्रमाणों का, न्यायमतानुसार मानना स्वामी जी को अपने बुद्धि कौशल का (अर्थात् अज्ञता का प्रकट करना मात्र है । सम्भव का उदाहरण देते हुए स्वामी जी लिखते हैं "मातापितृभ्यां सन्तानं जायते" दुःख है स्वामी जी को लिङ्गज्ञान भी नहीं अन्यथा 'सन्तानं' न लिख कर 'सन्तानः' लिखते । आप नाश का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं "अतो नाश०" इत्यादि । क्या कहने हैं ? पण्डिताई की पराकाष्ठा दिखादी । आप के लेखानुसार बाह्येन्द्रियजन्य ज्ञान का जो अविषय हो वह भी बाह्येन्द्रि-यादर्शन है, ऐसा मानने से तो आकाशादि और परमाणवादि का नाश ही आपके मत में प्रसक्त होगा । यह आप की अद्भुत बुद्धि विभ्रम है जो

चादिभिर्नशक्यं ग्रहीतुं तस्यग्रहणाय प्रमाणान्तरमुपादीयेत। तत्तु नशक्यं केन-चिदुपपादयितुमिति। प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनमेवेदं सत्त्वासत्त्वे सर्वं विषय-इति" इति प्रतिजगाद। एतच्चोद्दिष्टप्रत्यक्षादिप्रमाणविषयएव। अतएवं-नचतुष्ट्वमिति सूत्रावतरणिकायां 'अयथार्थः प्रमाणोद्देश इतिमत्वाह न चतुष्ट्व-" मित्याह भगवान्भाष्यकारः। तस्मान्नचतुष्ट्वमित्यादिसूत्रद्वयेन प्रत्यक्षादि-प्रमाणचतुष्टयातिरिक्तप्रमाणसाधनं बुद्धिकौशलमतीव प्रकटयति। सम्भवस्यो-दाहरणप्रदर्शनावसरे "मातापितृभ्यां संतानं जायते" इतिलिखन् लिङ्गज्ञाने चातुरीं बिभर्तीति प्रतीमः॥ अपिचनाशस्वरूपं निर्दिशन्नाह- "अतोनाशो बाह्येन्द्रियादर्शनमेवभवितुमर्हति"। अहोपाण्डित्यं महद्दर्शितम्, बाह्येन्द्रि-यजन्यज्ञानाविषयत्वमेव बाह्येन्द्रियादर्शनत्वम्। तथाचाकाशादीनां द्व्यणुकानां पार्थिवादिपरमाणूनांचनाश एव त्वन्मतेस्यादिति। अयमपूर्वस्ते बुद्धिव्यामोहः यन्नित्यानामपि पदार्थानां सर्वथाऽनुभवव्याहतांनाशता व्यवहरसि। किञ्च चैत्रीयबाह्येन्द्रियजन्यज्ञानाविषयत्वमस्ति तद्व्यवहितानां पदार्थानामिति स्यात्तेषामप्यभावः। यतोहिदर्शनादर्शनाभ्यामेव भावाभावावधारणमिति। एवं चकदाचिद्गृहाद् बहिर्गतो दयानन्दो दयनीयोवराकश्चार्वाक इवनपुनस्तत्र

नित्य पदार्थों का भी अनुभव शून्य नाश मानते हो ? और आपके लक्षणानु-सार तो चैत्र-पुरुषविशेष के बाह्येन्द्रिय जन्यज्ञानाविषयता, उस पुरुषसे व्यवहित पदार्थों में रहती है तो उन व्यवहित पदार्थों का भी अभावप्रस-क्त होगा ! क्योंकि आपतो सत्ता या असत्ता का निर्धारण, दर्शनादर्शनमूल-कही मानते हैं ? । बसइस प्रकार तोघरसे बाहर गया हुआ बिचारा दया-नन्द घर में फिर चार्वाक की तरह नहीं लौटना चाहिये क्यों कि घरमें नदे-खने से उसका अभाव ही मान लिया ? और घरमें रक्खा हुवा भी धनादि पदार्थों के न दीखने से धनादि का अभावही निश्चित होजायगा तौफ़िरबस लोग छाती पीटकर रोने लगेंगे ? इस लिये नाश का लक्षण "बाह्येन्द्रिया-दर्शनमात्र" करना ठीक नहीं आगे चलकर यह लिखना कि; यदा परमाण-व इत्यादि ... कत्वादित्यन्तं" यह भी अयुक्त लेख है देखिये-"परमाणुही पृथक् २ वर्तमान हुए मिलकर स्थूलताको प्राप्त होजाते हैं" यह मत—परमाणु को जगत्कारण माननेवाले नास्तिकोंका है। नैयायिक तो एक अपूर्व अवयवी की ही उत्पत्ति प्रत्येक क्षण में मानते हैं। अन्यथा तुम्हारा भी नास्तिक मत

निवर्त्तेत । तदानीं गृहाद्यदर्शनेन तदभावाभ्युपगमात् । प्रत्युततत्रैव धना-द्यभावावधारणात् सोऽस्ताडं शोकविकलो विक्रोशेत् । तस्मान्नबाह्येन्द्रिया-दर्शनमात्रं नाशः ॥ यच्चोक्तं–"यदापरमाणवः पृथक् पृथग्भवन्ति तदातेचक्षुषा नैवदृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात् / यदा चैतेमिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात्" इति ; तदप्ययुक्तम्, तथाहि:—पृथग्भूताः परमाणव एवमिलिताः सन्तः स्थूलभावमापद्यन्तइति नास्तिकानां परमाणुजगत्कारणवादिनां मतमिति । अपूर्वोत्पत्तिस्यवते मन्यन्ते अन्यथाऽदृश्यपरमाणुसमूहेभ्यो दृश्यानांस्थूलभूतानांपरमाणूनामुत्पत्तिरिति नास्तिकमतानुप्रवेशस्ते । घटादिपदार्थानामप्रत्यक्षत्वापत्तिश्च महत्वोद्भूत-रूपवत्वस्य द्रव्यप्रत्यक्षे कारणत्वात्, परमाणुषु तदभावात् । तस्मात्यत्कि-ञ्चिदेतद्दयानन्दोक्तमिति । अन्यच्च"वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति । सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव" इति यदिदमुच्यते तदप्यविदितशास्त्रवृत्तान्तस्यैव परं शोभते । वायोः प्रत्यक्षतानास्त्येवेति केचित् । तत्प्रत्यक्षवादिमतेऽपि न घ्राणेन्द्रियविषयतातत्र । घ्राणेन्द्रियस्य द्रव्यगृहणे सामर्थ्याभावात् । असामर्थ्यं च वस्तुस्वभावमात्रप्रयोजकम् ।

में प्रवेश होगा क्योंकि वेभी अदृश्य परमाणु समूहसे दृश्यस्थूल भूतकी उत्पत्ति मानते हैं अर्थात् दृश्यस्थूल भूतसमूह मानते हैं । ऐसामानने से घटादि पदार्थों की अप्रत्यक्षतापत्ति होगी क्यों कि वे पृथक् ही अवयवी माने हुए हैं परमाणु समूह मात्र नहीं हैं । द्रव्यप्रत्यक्ष में महत्व और उद्भूत रूपवत्व को कारणता शास्त्रकारों को अभिप्रेत है न कि स्थूलता इस लिये यहां भी स्वामी जी को भ्रान्ति है । आगे आप लिखते हैं "वायुर्दूरस्थेत्यादि" अर्थात् वायुका नासिका से संयोग, दूरस्थ मनुष्यका होता है इस लिये "सुगन्धवान् वायु है, ऐसा प्रत्यक्ष होता है,, यहां स्वामी जी को यह न सूझा कि वायुका प्रत्यक्ष कई नैयायिक नहीं मानते किन्तु उसे स्पर्शाश्रयतया अनुमेय मानते हैं और जो वायुका प्रत्यक्ष मानते हैं वेभी वायु कोघ्राणेन्द्रियका विषय नहीं मानते क्यों कि घ्राणेन्द्रिय कोद्रव्य गृहण में सामर्थ्य ही नहीं है, सा-मर्थ्य न होना वस्तुका स्वभाव है । इस लिये घ्राणेन्द्रिय केवल गन्धकाग्राह-क है, वायुका ग्रहणतोत्वगिन्द्रिय सेही होता है । वायुमें गन्धवत्ता का भ्रम ज्ञान, पार्थिवद्रव्यके सम्बन्ध से होता है । स्वामी जीके साहस का कुछठिका-

तस्माद् गन्धग्राहकमेव घ्राणेन्द्रियं, वायोस्तुत्वचैव ग्रहणमिति। वायौ गन्ध-वत्ताप्रतीतिस्तु पार्थिवद्रव्यव्यतिषङ्गाद् भ्रमरूपैवेति। किञ्च यज्ञानुष्ठानकाले प्रणीतादिपात्राणां विहितनियतस्थले स्थापनं पुण्यजनकमितरथा पापजन-कमेवेति कल्पनं प्रमाणाभावान्मिथ्यैवास्तीति यदुच्यते तदप्यसारम्। अग्निहोत्रादिकमपि शुभं कर्म कार्यमित्यपि कथं भवताऽवेदि? प्रमाणादेवेत्यु-त्तरे कुतः प्रमाणादिति तदवस्थएव पूर्वः पक्षः। ननु प्रत्यक्षमेव तत्र प्रमाण-मिति चेन् न। अदृष्टवादिनां शास्त्रकाराणां मते प्रत्यक्षस्यासम्भवात्। नच त्वयापि अग्निहोत्रादिकं कर्म शुभावहमिति कृत्वा कार्यमेवेति अग्निहोत्र-दर्शपौर्णमासकारीर्यादिनानातत्कर्मानुष्ठानेन प्रत्यक्षीकृतम्। नचेदंकर्म शुभमिदमशुभमित्यन्वयव्यतिरेकावलम्बेन जन्मसहस्रैरपि प्रत्यक्षमवलम्ब्य ज्ञातुं शक्यमिति। प्रत्यक्षाभावे नानुमानमपि, तत्पूर्वकत्वादेव तस्य। प्रत्य-क्षपूर्वकं हि सर्वत्रानुमानं भवतीति। विषयाभावाच्च नोपमानमपि। तस्माद-ग्निहोत्रादिकर्मणि शब्द एव शरणम्। एवं च "यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति तत्तदेवग्राह्यम् नेतरत्कुशतृणादीति" यदुक्तं तदसारतरमेव। शब्दादेव च प्रणीतादिपात्राणां सिद्धे स्थानविशेषे कुशादेश्च कर्मण्यावश्यकत्वे किं त्वया तत्र वक्तव्यमिति। तस्माद्यज्ञसाधनत्वेन शास्त्रे यद्यदुक्तं तत्सर्वं

ना है। आगे आप लिखते हैं "यज्ञसमय में प्रणीतादिपात्रों का विधि पूर्वक नियत स्थानादि में रखना- पुण्य जनक है अन्यथा पाप लगेगा इत्यादि कल्पना मिथ्या है" यह लिखना भी निःसार है। अग्निहोत्रादि शुभकर्म कर्तव्य हैं यह बात आपने कैसे जानी? यदि प्रमाण से तो कौन से प्रमाण से? प्रत्यक्ष प्रमाण तो कह नहीं सकते क्योंकि अदृष्टवादी शास्त्रकारों के मत में ऐसे स्थल में प्रत्यक्ष प्रमाण का असं-भव ही है। और आप जैसों ने भी अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, कारीरी आदि अनेक यज्ञों के अनुष्ठान करके उनकी कर्तव्यता वा शुभावहता का प्रत्यक्ष नहीं किया है। और अल्पज्ञजन, हज़ार जन्म धारण करके भी अनेक प्रकार के शास्त्रोक्त यज्ञों के विषय को केवल प्रत्यक्ष के सहारे-अन्वय व्यतिरेकमात्र से नहीं जान सकता। ऐसे विषय में जब प्रत्यक्ष प्रमाण की गति ही नहीं तो अनुमान की वार्ता ही क्या है? प्रत्यक्ष के बिना अनुमान हो ही नहीं सकता क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। ऐसे स्थल

तथैवास्ति, न तत्र युक्तेः प्रवेशलेशोऽपि । "कुतः तैर्विनातदसिद्धे"रिति ॥ यज्ञस्य द्विरूपे द्रव्यं देवताचेति । तत्र देवता निरूपयितुमुपक्रमते "यज्ञे देवता-शब्देन किं गृह्यत" इति । "याश्च वेदोक्ताः" देवताः सन्ति ता एव गृह्यन्त इत्यर्थः । "अत्र प्रमाणानि- 'अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रादेवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता" ॥ यजु० अ० १४ । म० २० ॥ इदं प्रमाणं हि- यज्ञे वेदोक्तानामेव ग्रहणं देवतानां नान्यासामित्यस्मिन्नेवार्थे समुपस्थापितम्, नचायमर्थोऽस्मिन्मन्त्रे क्वाप्युपलभ्यते । तथा च कथमत्रार्थे प्रमाणमयं मन्त्रो भवितुमर्हतीति न जानीमः । अस्य मंत्रस्यार्थस्तु भूमिकाया-मित्थं प्रतिपादितः-"अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गा-यत्र्यादीनि छन्दांसि ह्याग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डा-दिविशेषैतकत्वात् । यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः सूर्यश्चन्द्रमा वसवो रुद्रा आदित्या मरुतो विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मंत्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते तेषामपितत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्परमाप्तेश्वरेणकृतसंकेतत्वाच्च " इति । एवंच देवताशब्देन अत्रकर्मकाण्डप्रकरणे देवताशब्दोपलक्षिता वेदमन्त्रा

में उपमानके तौ विषयही नहीं । बस फिअग्निहोत्रादि अलौकिक कार्यों में केवल शब्द ही प्रमाण हो सकता है अन्य नहीं । ऐसा मानने से "यज्ञसि-द्ध्यर्थमित्यादि००कुशतृणादीति" यह स्वामी जी का लेख बिलकुल निःसार है । शब्दप्रमाण बल से ही प्रणीतादिपात्रों को स्थानविशेष में रक्खा जाता है और कुशादि की आवश्यकता बतलाई जाती है ऐसे जगह आप क्या कहियेगा ? इस लिये शास्त्रमात्रगम्य विषयों में युक्ति का बिलकुल प्रवेश नहीं होसकता । यज्ञ के दो रूप हैं, द्रव्य और देवता, उनमें देवताओं का निरूपण यों प्रारम्भ किया है "यज्ञे देवता शब्देनेत्यादि००० वरुणोदेवतेत्य-न्तम्" यह यजुर्वेद का प्रमाण इस लिए दिया है कि यज्ञमें वेदोक्त देवताओं का ही ग्रहण है अन्य देवताओं का नहीं, पर यह बात इस मन्त्र में कहीं भी मालूम नहीं होती । तो फिर इस बात में यह मंत्र प्रमाणभूत क्यों कर होसकता है ! यह बात समझ में नहीं आती ! इसमंत्रका अर्थ भूमिका में इस प्रकार किया है " अत्र कर्मकाण्डे इत्यादि संकेतत्वाच्चेत्यन्त " इस

र्वगृह्यन्ते यदि, तदा लाक्षणिकत्वमर्थस्य स्पष्टमेव। लक्षणा च सत्यभिधेयार्थ-संभवेऽन्याय्या एव, तात्पर्यार्थस्त्वनुपदमेववक्ष्यते। किञ्च देवताशब्देन मन्त्रो-पादाने नकिञ्चित्प्रयोजनमपि। भवतैव च यज्ञे वेदमन्त्रोपादानस्य ईश्वरस्तवन-मन्त्ररक्षणपरमात्माऽस्तित्वादिफलकत्वेनाभिधीयमानत्वात्। किञ्च गायत्र्या-दिछन्दसामपरपर्याया एवाग्न्यादिदेवताशब्दा इत्यत्र सर्वथापिप्रमाणाभावः। ननु कर्मकाण्डादिविधिद्योतकत्वस्य छन्दसामग्न्यादिदेवताऽपरपर्यायत्वसाधक-स्य हेतोः सत्वेऽत्र प्रमाणाभावत्वकथनं साहसमात्रमेवेतिचेत्। न। उक्तहेतो-रनैकान्तिकत्वेनाभासमात्रत्वात्। तथाहि—गायत्र्यादीनिछन्दांसि अग्न्यादि-देवताख्यानि कर्मकाण्डादिविधिद्योतकत्वात्, इत्येवानुमानप्रयोगाकारः। तथा च कर्मकाण्डादिविधिद्योतकत्वं हेतुरस्ति-वेदगततत्तच्छब्दे, न च अग्न्यादि देवताख्यत्वं साध्यमिति स्पष्टैवसव्यभिचारिताहेतोः। एवं हेतुरस्तु साध्यं माऽस्त्वित्यप्रयोजकत्वमपि। वस्तुतस्त्वत्रमन्त्रे छन्दसामुपवर्णनं भाष्यकारस्य महीधरस्यानुमतं कर्मणामुपयोगियुक्तमुचितञ्चेतितत्तदर्थानभिज्ञत्वात् यत्कि-ञ्चिदयुक्तमपि स्वामिना गृहीतमिति मतीमःउक्तमन्त्रस्य महीधरकृतोऽर्थोऽव-

लिखने से मालूम होता है कि इस कर्मकाण्ड प्रकरण में देवता शब्द से देव-तोपलक्षित वेदमन्त्र गृहीत होते हैं- यदि ऐसा ही है तो लक्षणावृत्ति आप मान रहे हैं, मुख्य अर्थ की संभावना में लक्षणावृत्ति मानना अनुचित है। मुख्य अर्थ आगे लिखेंगे। और देवता शब्द से वेद मन्त्रों के ग्रहण करने में कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता। आप ही यज्ञ में वेद मन्त्रों के उच्चारण का फल- ईश्वर स्तुति, मन्त्र रक्षा, परमात्मास्तित्वादि बता रहे हैं! और गायत्री आदि छन्दों के ही दूसरे पर्याय अग्न्यादि देवता शब्द हैं- इस लेख में भी कोई प्रमाण नहीं है। आप यही अनुमान कर सकते हैं कि गायत्री आदि छन्द, अग्नि आदि देवता हैं, कर्मकाण्डादि विधि के द्योतक होने से परन्तु यह हेतु व्यभिचरित है क्योंकि विधिद्योतकता- उस २ वेद शब्द में है और वहां २ अग्निआदि देवता नाम नहीं है-इस लिए हेतु अप्रयोजक है वस्तुतः इस मन्त्र में छन्दों का वर्णन, यजुर्वेद भाष्यकार महीधर मानते हैं ऐसा वर्णन कर्मोपयोगी है और युक्त है। महीधर का अर्थ आगे लिखेंगे। स्वामी जी ने तो विना सोचे समझे ही यह लिख मारा है। आगे देखिये क्या लीला है! " यस्मिन् मन्त्रे इत्यादि गृह्यतेइत्यन्तम् "

ष्यते। किञ्च "यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्नि-देवतो गृह्यते" इत्यत्र कोऽयमग्निशब्दार्थः ? लोके तु सर्वानुभूतोष्णस्पर्शाश्रयः कश्चित्तेजस्त्वजात्यवच्छिन्नो द्रव्यात्मको वस्तुविशेषः, क्वचिद्वेदेऽपि, क्वचिच्च "अग्निः कस्मात्। अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अङ्गं नयति सन्नममानः॥ अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति॥ त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः, इतादक्ताद्दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः॥ इत्यादिनैरुक्तोक्तिभिः" "प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे। मरुद्भिरग्न आगहि" इत्यादिऋक्षु चेतन एव कश्चिद्देवोऽग्निशब्दार्थः। "अग्निमीडे" इत्यादिषु भौतिक एवाग्निपदाभिलप्यः। अत्र चेतनोऽपीति केचित्। "अग्निरप्यदितिरुच्यते" इत्येकादशीयास्कः। एवं चानेकार्थाभिधायकत्वेऽग्निशब्दस्य प्रकृते कोऽर्थ इति भवत्येव संशयः। यस्य कस्यचिद्ग्रहणे विनिगमनाविरहमादाय सर्वत्र सर्वेषामेव ग्रहणं वाच्यम्। तथा सत्यसम्भवत्वापत्तिः "अग्निर्हिमस्य भेषजमि"त्यादौ स्यात्। नह्यत्र सर्वेषामग्निशब्दार्थानां प्रतिपत्तिः सम्भवति। ननु तत्र तत्र तत्-

यहां पूछना चाहिये कि अग्नि शब्द का अर्थ क्या है। संसार में तो आग को ही अग्नि कहते हैं। और कहीं २ वेद में भी अग्नि शब्द से लौकिक अग्नि ही ली जाती है और कहीं २ ऋचाओं में अग्नि शब्द से कोई चेतन देवता विशेष लिया जाता है (जैसा कि धिक्कारकारने मूल संस्कृत में निरुक्तादि से बताया है) "अग्निमीडे" इत्यादि ऋचाओं में अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि ही परिगृहीत होता है कोई चेतन का भी ग्रहण मानते हैं। यास्कमुनिने 'अदिति' को भी अग्नि माना है। जब अग्नि शब्द के अनेकार्थ आते हैं तो प्रकरण में क्या अर्थ है यह विचारना होगा। सर्वत्र सब अर्थों का ग्रहण करना तो असंभव है। "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" यजुः ऐसे स्थलों में सब अर्थ कैसे परिगृहीत हो सकते हैं? इस लिये प्रकरणादि को नियामक मानना ही पड़ेगा हम विशेष इतना और कहते हैं कि अग्नि शब्द से युक्त और अग्नि रूप अर्थ के प्रतिपादक मन्त्र का देवता-अग्नि को आप भी तो नहीं मानते? जैसे "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इस मन्त्र का देवता आप भी सूर्य ही मानते हैं अग्नि को नहीं। ऐसी ही अन्यमन्त्रों में गति है। आपको तो अपने भाष्य की भी खबर नहीं रहती। वेदभाष्य

दग्निशब्दार्थग्रहणे प्रकरणादेरेव नियामकत्वे न विनिगमनाविरह इति चेत् सत्यं, नवयं प्रकरणादेर्नियामकतां प्रतिषेधामः । अपि तु अग्निशब्दयुक्तस्य तदर्थप्रतिपादकस्य च मन्त्रस्य नाग्निर्देवतात्वेन भवताऽप्यभिमत इत्येवाभिदध्महे । यथा 'अग्निर्हिमस्यभेषजमिति वाक्यघटितस्य मन्त्रस्य सूर्यएव देवताऽभिमता भवता नाग्निरिति । एवमेव च 'वातः सूर्यश्चन्द्रमा' इत्यादीनामपि बोध्यम् ॥ किञ्च 'अग्निर्देवते' त्यादिमन्त्रस्य वेदभाष्यावसरेऽन्य एवार्थोभिहितोऽत्रत्वन्य एव । सोऽयमोऽपरशः समुन्नियते । तथाहि:— "पदार्थः- (अग्निः) प्रकटः पावकः (देवता) देवपद दिव्यगुणत्वात् (वातः) पवनः (देवता) (सूर्यः) सविता (देवता) (चन्द्रमाः) इन्दुः (देवता) (वसवः) वसुसंज्ञकाः प्रसिद्धाऽग्न्यादयोऽष्टौ (देवता) (रुद्राः) प्राणादय एकादश (देवता) (आदित्याः) द्वादशमासा वसुरुद्रादिसंज्ञका विद्वांसश्च (देवता) (मरुतः) ब्रह्माण्डस्थाः प्रसिद्धा मनुष्या विद्वांसऋत्विजः । मरुत इति ऋत्विङ्नाम० निघं० ३ । १८ (देवता) (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणयुक्ता मनुष्याः पदार्थाश्च (देवता) (बृहस्पतिः) बृहतोवचनस्य ब्रह्माण्डस्य वा पालकः

बनाते समय " अग्नि र्देवता " इत्यादि मन्त्र का विभिन्न भाष्य किया और यहां भिन्न ही वेदभाष्य का अर्थ मूल में देखिये क्या है । भाष्य में अग्नि आदि को ही देवता बताया है और भूमिका में अग्नि आदिपदों से घटित मन्त्रों को देवता बताया है-यह बड़ा भारी बुद्धि वैपरीत्यहै । महीधर का अर्थ यहां सप्रमाण है महीधर ने इष्टकोपधान में इन मन्त्रों को लगाया है सो सब विद्वान् लोग मूलमें देखलें । आगे चलकर स्वामी जीने निरुक्त के कुछ वाक्यों का उद्धरण कर के यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वेद में देवता शब्द का मन्त्र रूप अर्थ है । निरुक्त के "कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे,, इस वाक्य का अर्थ स्वामी जी ने बड़ा ही अद्भुतकिया है, न मालूम ऐसा बहम योगिराज (?) या विद्वान् कहलाने वालों को क्यों हो जाता है ? " सम्पत्तिशब्द ,, का अर्थ संयोग है, कर्मों का कैसा संयोग स्वामी जी मानते हैं ? समझ में नहीं आता । और फिर ' तथाच , से शुरू करके कर्मों के मोक्ष का कथन किया है । यह महान् आश्चर्य है ? आपने कर्मों को मुक्ति दिलादी-ज्ञानपक्षपाती ब्रह्मा ने ज्ञानियों को ही मुक्ति दिलाई थी, पर आप तो ब्रह्मा के भी

(देवता) (इन्द्रः) विद्युत्परमैश्वर्यं वा (देवता) (वरुणः) जलं वरगुणा-द्योतौ वा (देवता) ॥२०॥ अन्वयः- हे स्त्रीपुरुषा युष्माभिरग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता सम्यग् विज्ञेया." ॥२०॥ इति । अत्रहि-अग्न्यादीनामेव देवतात्वप्रतिपादितम् । भूमिकायां तु अग्न्यादिपदघटितानां मन्त्राणां देवतात्वमुक्तं , इति महान् मतिविपर्ययः । महीधरकृतोऽप्यर्थोऽस्यमन्त्रस्यात्रैवोल्लिख्यते, कर्मणि प्रयेनाद्याकारतया प्रकृते इष्टकाचयने तदङ्गभूतमिष्टकोपधानं कर्म त्रिभिर्मन्त्रपदैराह "माछन्दः" इत्यादिभिः । षट्त्रिंशच्छन्दस्या उपदधाति । छन्दस्त्वानुपधानो मन्त्रश्चासामिष्टकानामिति छन्दस्या इष्टकाः षट्त्रिंशदुपदध्यादित्यर्थः । 'मा छन्दः' इत्यादिमन्त्रस्यार्थो 'ग्निर्देवते'त्यादि मन्त्रार्थोपयोगित्वादत्र समुद्धरणीयः, तथाहि- "छन्दस्या द्वादशद्वादशाप्ययेषु मा छन्द" (कात्यायन सूत्र १७ ; ९ । ८) इति । अप्ययेषु पक्षपुच्छात्मसंधिषु त्रिषु

वाला ठहरे, उसको नमाल कर कर्मों के ऊपर ही दयाकर के उन्हें मुक्ति दिलाई ? योगियों में सब बातें घट सकती हैं ? आगे का असम्बद्ध प्रलाप संस्कृतज्ञों को द्रष्टव्य है- वेही सावधान होकर देख सकते हैं कि यह अर्थ कहां से निकल पड़ा हम जैसे लोग ऐसे अर्थ को निकालने में अपने को सर्वथा असमर्थ हैं । तुर्रा यह है कि निरुक्त का समग्र वाक्य भी तो उद्धृत नहीं किया "पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्" इतना अंश छोड़ दिया । पूरा अर्थ वृत्तिकार ने पूर्वपक्ष स्थापन करने किया है कि वेद में मन्त्र इस लिये कहे हैं कि विना मन्त्रों के उच्चारण किये स्वर्गादि फल की प्राप्ति नहीं होगी इस लिए वेद में मन्त्रों का कथन आवश्यक है । अब नैरुक्त वाक्य का विवरण भी सुन लीजिए " अथातो दैवतम्० " इस वाक्य में 'किमुच्यते' ऐसा शेष करके स्वामी जी ने वाक्यार्थ किया है । पर यह अयुक्त है क्योंकि उस वाक्य में 'किमुच्यते' ऐसी शङ्का का अवकाश ही नहीं है । वस्तुतः "अब इस हेतु से दैवतप्रकरण का व्याख्यान किया जायगा' यही अर्थ है । हेत्वर्थ यह है कि "पूर्व के दो प्रकरणों में गुणपदों का व्याख्यान हो चुका अब सब मन्त्रों में जो अवशिष्ट अग्न्यादि पद हैं वही व्याख्येय हैं इस लिए" तात्पर्य यह है कि इस दैवतप्रकरण से देवतापदार्थ का व्याख्यान होगा क्योंकि समग्रपुरुषार्थ

द्वादशद्वादश छन्दस्यास्संज्ञा इष्टका उपदधातीति सूत्रार्थः। षट्त्रिंशद्यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। भीयतइतिमा मितश्छादनाच्छन्दोऽयं लोकः। हे इष्टके ! त्वं तद्रूपासि। 'अयं वै लोको मायं लोको मितइव, (८। ३। ३। ५) इतिश्रुतेः। "एवं च साछन्दः, इतीदमेकं यजुः अस्य च देवता लिङ्गोक्तत्वान्मा एवायं लोकएवेत्यर्थः। प्रथमेष्टकोपधाने चास्य विनियोगः। द्वितीयं यजुराह —"अस्माल्लोकात्प्रमीयत इति प्रमान्तरिक्षलोकरूपासि। 'अन्तरिक्षलोको वै प्रमाऽन्तरिक्षलोकोह्यस्माल्लोकात्प्रमितइव,(८। ३। ३। ५) इतिश्रुतेः" एवं च प्रमाच्छन्दः इतीदं द्वितीयं यजुः अस्य च द्वितीयेष्टकोपधाने विनियोगः। लिङ्गोक्तत्वाच्च प्रमाऽन्तरिक्षलोक एव देवता। तथा च षट्त्रिंशत्संख्याकेन यजुषा षट्त्रिंशच्छन्दस्यानामिष्टकानामुपधानस्मिन् कर्मणि वक्ष्यति, तत्र सर्वत्रोक्तप्रक्रियैव देवताविनियोगादिनिश्चयः कार्यः। "प्रतिमा द्यौः सा ह्यन्तरिक्षे प्रतिमिता।" असौ वै लोकः प्रतिमैष ह्यन्तरिक्षलोके प्रतिमितइव, (८। ३। ३। ५) इतिश्रुतेः अस्रीवयः अस्यते क्षिप्यतेइत्यस्रि अस्रिपतनशीलं वयोऽन्नं यस्मात्तदस्रिवयः दीर्घश्छान्दसः। अस्रीवयः लोकत्रयरूपं छादनाच्छन्दस्तद्रूपासि। 'यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्रीवयोऽथो यदेभ्यो लोकेभ्योऽन्नꣳ स्रवतितदस्रीवय (८। ३। ३। ५) इति श्रुतेः। इतः स्पष्टान्येव छन्दांसि पङ्क्त्यादीन्यष्टौ 'अथोनिरुक्तान्येव छन्दाꣳस्युपदधाति,(८। ३। ३। ५) इतिश्रुतेः! इष्टके। त्वं पङ्क्त्युष्णिग्बृहत्यनुष्टुप् विराड्गायत्री त्रिष्टुब्जगतीच्छन्दोरूपासीत्यर्थः।" इत्यनेन द्वादश छन्दस्याउपदध्यादिति। द्वादश च 'पृथिवीछन्द, इत्यादिना। अस्यार्थः "पृथिव्यादिदेवत्यानि यानिछन्दांसि तद्रूपासि। समाः संवत्सराः स्पष्टमन्यत्। 'यान्येतद्देवत्यानि छन्दाꣳसितान्येवैतदुपदधाति, (८ ३। ३। ६) इतिश्रुतेः।" एवं द्वादशछन्दस्या इष्टका 'अग्निर्देवते' त्यादिनोपदध्यात्। 'अग्निर्देवते, त्येकेन यजुषा एका वातोदेवता, इतियजुषा द्वितीया, सूर्योदेवता इतितृतीया। एवं सर्वत्राग्रेऽपि। मन्त्रस्यार्थः—" इष्टके ! त्वमग्न्यादिदेवतारूपासि तामुपदधामीति सर्वत्र शेषः। अग्न्यादीनां देवतात्वं प्रसिद्धम्। 'अग्निर्देवता वातोदेवतेत्येता वै देवताश्छन्दाꣳसि तान्येवैतदुपदधाति (८। ३। ३। ६) इतिश्रुतेः एवं त्रिर्द्वादशकृत्वः षट्त्रिंशत्संख्याकाश्छन्दस्याः। एभिर्यजुर्भिरुपदध्यादिति चयनकर्माङ्गभूते उपधानकर्मण्येवैषा युक्तप्रक्रियया विनियोग इति विद्वांसएव यथायथं विवेचयन्तु। प्रकृतमनुसरामः- देवताशब्दे न वेदे मन्त्रग्रहणे

निरुक्तप्रमाणमाह अत्राहयास्काचार्यो निरुक्तइत्यादिना । तथाहि 'कर्म-सम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे, । नि० अ० १ ख० २ । "अथातो दैवतं तद्यानिनामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानांतद्दैवतमित्याचक्षते सैषादेवतोपपरीक्षा यत्कामऋषिर्यस्यांदेवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिंप्रयुङ्क्तेतद्दैवतः समन्त्रोभवति, तास्त्रिविधाऋचः परोक्षकृता प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च" नि० अ० ७ ख० १॥ एतानि निरुक्तवाक्यानि वेदेदेवताशब्दस्यमन्त्रवाच्यताथामुपन्यस्तानि । अस्यार्थस्तु (कर्मस०) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानांच सम्पत्तिः संपन्नतासंयोगो भवतियेन समन्त्रोवेदेदेवताशब्देनगृह्यतेतथाच कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्षोभवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपिमन्त्रो मन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्यः॥ इति इत्यमदृष्टश्रुतपूर्वोऽयं स्वामिनाकृतः । नज्ञायते- कथमेतावान् विदुषांयोगिनामपि भवतिबुद्धिव्यामोहः । तथाहि- सम्पत्तिशब्दार्थः संयोगःकर्मणांच कीदृशः संयोगोऽभिमतः स्वामिनेतिन विद्मः । किंच तथाचेत्युक्त्वा ' कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्षोभवति ' इति वदति । अहो ! आश्चर्यमाश्चर्यम् । कर्मणांमोक्षोभवति ? सम्भाव्यतेज्ञानिनामेव मोक्षश्रुतिः सालोच्यते ज्ञानैकपक्षपातीहि परमेष्ठी इतिनिराहत्य तं कर्मदयावशंवदेनदयानन्देन साक्षात्कर्मणामेव मोक्षोनिरमायि । यतोहि योगिनि युक्तमिव सर्वम् । अपिच मोक्षोभवतीत्यनन्तरं ' येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपि मंत्रो मंत्रार्थश्चाङ्गीकार्यः, इति किमिदं सर्वथाप्यसम्बन्धप्रलपितमुच्यते । सर्वमेतत्सावधानंसुधिय एवावधारयन्तु, उक्तवाक्यस्य कोऽर्थ इति । सर्वथाप्यसमर्थोऽहमत्रार्थान्वेषणे । किंच "कर्मसंपत्तिर्वेदे" इति वाक्यं नैतावन्मात्रं निरुक्ते, अपितु " पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे" इत्येतावत् । अस्यार्थश्च वृत्तिकृता-" यदि नामाख्यातोपसर्गनिपातानामपरिहीना शक्ति दैवानप्यभिधातुम् , अथकिमर्थं वेदेमन्त्रः समाम्नातः" ? इति 'तेषांमनुष्यवद्दैवताभिधानम्' इति नैरुक्तवाक्यप्रयोज्यं पूर्वपक्षमाशंक्योत्तरयति-" उच्यते-' पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे' । पुरुषेषु मनुष्येषु विद्यायाविज्ञानस्यानित्यत्वात् पुरुषविद्यानित्यत्वाद्धेतोःकर्मसंपत्तिः, फलेन संपादनम् अविगुणकर्मसम्पत्तिः' फलसम्पन्नमेव कर्म भविष्यतीत्येवमर्थं वेदेमन्त्रः 'समाम्नातः । इति वाक्यशेषः ।" तथाच मन्त्रमन्तरेण स्वर्गादीष्टसाधनस्य कर्मणो वैकल्येनेष्टाधिगम इत्यावश्यकं वेदे मन्त्राम्नानमिति

समग्रवाक्याशयः । अथेदानीं "अथातो दैवतं तद्यानिनामानि" इत्यादि-नैरुक्तवाक्यविवृतये प्रक्रमते-'अथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते इति । प्रतीमः-अथातो दैवतमित्यस्य 'किमुच्यत इति शेषं योजयित्वा उक्तोऽर्थः स्वामिना कृतः स्यात् । तत्तुनयुक्तम्, उक्तवाक्ये किमुच्यत इत्यात्मकशङ्कापङ्ककलङ्कान-वकाशात् । प्रत्युत अथेत्यनन्तरमतो हेतोः दैवतं प्रकरणं व्याख्यास्यामः इत्येवार्थः । हेतुस्तु शाखामात्रेयावन्तो मन्त्रास्तेषु गुणपदानि उद्देशतो लक्षणतश्च यथायथंनैघण्टुकैकपदिकयोर्द्वयोरपि प्रकरणयो व्याख्यातानि । संविज्ञातपदानिपुनरमूनीदानीमग्न्यादीनि देवपत्न्यन्तानि प्रधानस्तुति-भाग्देवताविषयाणि अवशिष्यन्ते सर्वत्रापि मन्त्रेषु अतः इत्येष एव । तथाच देवतापरिज्ञानानुबद्धत्वादखिलपुरुषार्थस्य देवतापदार्थोऽवश्यं दैवतप्रकर-णेनव्याख्यातव्यः इत्यर्थः । ननु अस्यप्रकरणस्यैतदभिधाने किं निमित्तमित्यत आहः-"तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनामिति" प्राधान्येन स्तुतियांसां तास्तासां देवतानामग्न्यादिदेवपत्न्यन्तानां यानिनामानि तदेव दैवतं प्रकरणमित्याचक्षते आचार्या इति शेषः । निरूढाहीयमेतस्मिन् प्रकरणे सञ्ज्ञेत्यभिप्राय इति वृत्तिकृद्दुर्गाचार्यः । इदानीं मन्त्रे देवता कथंपरीक्षणीया, इति तत्प्रकार माह-'सैषा देवतोपपरीक्षा,,इत्यादि-ग्रन्थेन । एवंच यमर्थं कामयमानः ऋषि यस्यां देवतायां स्तुतायां मार्थ-पत्यं अर्थपतिभावमात्मनः इच्छन्-अमुष्याः देवताया व्याख्यानेनाहं तस्मा-

---

देवता ज्ञान से सम्बन्ध रखता है । दैवत प्रकरण यह इस लिये कहलाता है कि इसमें अग्न्यादि देवताओं के नामों की ही चर्चा है । इस प्रकरण को दैवत" यह निरूढ संज्ञा है ऐसा निरुक्तवृत्तिकार दुर्गाचार्य ने लिखा है । आगे चलकर निरुक्तकारने मन्त्रमें देवताकैसे जानीजाय इसका ढंग "सैषा०" इत्यादि ग्रन्थसे बतलाया है । जिस अर्थकी इच्छा से ऋषि, जिस देवता की स्तुति करता है उस मन्त्र का वहही देवता है" इसअर्थ के निरुक्त वाक्य (यत्कामऋषि० इत्यादि)का भी अन्यथाही व्याख्यान किया है । आगे चलकर भूमिकामें "अग्निदूतम्० इत्यादि- धात्वर्थयोगात्" यहां तक नजाने क्या उलल जुलूल लिखा है ! कहीं देवता पदार्थ मन्त्रों से भिन्नमाना है ! कहीं मन्त्रों कोही देवता मान लिया है ! कहीं छन्दों को ही देवता माना है । परस्पर स्वयं विरुद्ध कथन किया है — इसलिये येसब उन्मत्तप्रलाप या

र्थस्य पतिर्भविष्यामीत्येतां विचारणां विधाय स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवत्यर्थवशादित्यर्थकहि 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवती' ति निरुक्तवाक्यं येषामर्थानां यानि नामानि मंत्रोक्तानि मंत्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्तीति प्रतिज्ञातनंर्थं सोदाहरणं व्याचिख्यासुः 'अग्निं दूत' मित्यादिकां यजुर्षां द्वाविंशतितमस्य सप्तदशीं श्रुतिमभिधाय "अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति, अतः किं विज्ञेयं यत्र यत्र देवतोच्यते तत्रतत्र तल्लिङ्गो मंत्रोग्राह्य इति। यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छन्दोऽस्ति, तदेव दैवतमिति बोध्यम्। सा एषा देवतोपपरीक्षा अतीता आगामिनिचास्ति। अत्रोच्यतेः- ऋषिरीश्वरः सर्वैश्वर्यस्कामोऽयं कामयमान इमसर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति स एव मंत्रस्तद्दैवतो भवति। किंच यद्देवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्ति इतिह्विज्ञायते। देवताभिधाऋचो याभिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति प्रकाशयन्ति ऋच स्तुताविति धात्वर्थयोगात्" इत्येवं रूपेण व्याचख्यौ दयानन्दः। तच्च क्वचिन्मन्त्रभिन्ना स्तप्रयुक्ता देवता यद्देवतास्ते मन्त्रा भवन्तीति मन्त्रव्यतिरिक्तदेवताप्रतिपादनात्, क्वचिन्मन्त्राणामेव देवतात्वोपन्यासात्, क्वचिच्च छन्दसां दैवतत्वाभिधानात् मिथोमूलविरुद्धत्वाच्चायुक्तमेव। किंच 'ताः त्रुत्यस्त्रिविधाः

अज्ञान का विलास है। आगे चलकर फिर लिखमारा है कि "ऋचा" ही देवता हैं। मालम होता है कहीं स्वामी जी ने सुनलिया होगा कि शब्दमयी देवता होती है। और ऐसा मीमांसकों का सिद्धान्त भी है पर स्वामी जीने यह विचार नहीं किया कि विचारी शब्दमयी देवता मीमांसकोंने कैसेमानी है ? और यह बात भी नहीं है कि किसी चेतनदेवता को मीमांसक न मानते हों सुनने मात्रसे सन्तुष्ट होकर किसी के सिद्धान्त को लेभागना अच्छा नहीं इसी लिये आगे चलकर आपने अपने लेखके विरुद्ध, मंत्रभिन्न देवता को मान लियाहै०.०००यदि मंत्रभिन्न कोईदेवता न मानेंतो लिङ्ग किसका खोजा जाताहै। आगे चलकर निरुक्त वाक्य का अर्थ विद्वद्विनोदकेलिये रक्खाहै-वह पण्डितों को इलधिकार ग्रन्थमें ही देखना चाहिए। जिस देवता के उद्देश्य से यज्ञका विधान किया जाय और जिसके उद्देश्य से हवि प्रक्षिप्त हो वही

त्रिप्रकारकाः सन्ती'त्यादिना 'एतएव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्थाः सन्तीति विज्ञेयमि'त्यन्तेन 'तास्त्रिविधा ऋचः इति निरुक्तवाक्यमादाय प्रवृत्तेन ग्रन्थेनापि देवतात्वं ऋचामेव प्रतिपादितम् । प्रत्येमि- कदाचित्स्वामिभिः श्रुतमिदं कुतश्चित् स्यात्- यद्देवताशब्दमयी भवतीति । अस्ति हि मीमांसकानामयं परमः सिद्धान्तः । नचालोचितं चारु दयानन्देन- कथमियं वराकी शब्दमय्येव देवतामीमांसकसिद्धान्ततां भजत इति । यतस्तन्मतमेव क्वचित् प्रत्याख्यायतेऽपि । नच मीमांसकानामभिमता काचिच्चेतनादेवतास्तीति । एवं च यतः कुतोऽपि तन्मतश्रवणमात्रेण तुष्टिमात्मनोलभमाने व्याजहारोक्तं सिद्धान्तमिति साधुभाति । अतएव 'तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु' इत्यादि निरुक्तवाक्यमुद्धृत्य तदर्थप्रतिपादनावसरे मन्त्रव्यतिरिक्तां देवतामङ्गीकुर्वन् स्वाभिमतव्याहतार्थमेवोदाजहार । तथाहि:-"ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थात्न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्यत्रोच्यते-" इत्ययं भूमिकाग्रन्थः । तत्र 'अनादिष्टदेवता मन्त्रा' इति वाक्यस्य न आदिष्टा साक्षान्निर्दिष्टा देवता देवतालिङ्गं यत्र मन्त्रे ते अनादिष्टदेवता मन्त्रा इत्येष एवार्थः 'न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थोवा येषु दृश्यते' इत्याद्युत्तरग्रन्थबलमादाय शक्यते कर्त्तुम् । किंच श्रियायुक्तो निरुक्ताचार्यो दुर्गाचार्योपि वृत्तावमुमेवार्थमुपाचख्यौ । एवंच यदि मन्त्रव्यतिरिक्ता काचन देवता न स्यात् कस्य तर्हि लिङ्गं तत्रान्वेष्यते दयानन्दस्वामिना । मन्त्रास्तु साक्षान्निर्दिष्टा एव, न तत्र लिङ्गान्वेषणमपेक्षते ति ।

इस यज्ञकी देवता और वही अनादिष्ट देवतालिंग मन्त्रों की देवताहै, यही बात यज्ञांग में है इस सुस्पष्ट अर्थ को भी स्वामी जी न समझ कर बहक गये ! इस बातको विद्वान्‌लोग विचार करें । "ये खलु इत्यादि से जानन्ति तक" स्वामी जी का पाण्डित्य टपका पड़ता है । ये ही महात्मा वेदभाष्यकार अपने को मानते हैं ! जो निरुक्तवाक्यार्थ निरूपण में भी जगह २ ठोकरें खाते हैं । स्वतन्त्रते ! तुमने अच्छा स्थान प्राप्त किया ? अधिक क्या कहें ? परिष्कृत बुद्धि विद्वान्‌लोग ही इस विषय में प्रमाण होसकते हैं । " निरुक्तवाक्यार्थनिरूपणेऽपि, पदे पदे यः स्खलनं चकार ॥ निगूढवेदार्थविधानशक्तः कथंभवेत्सेति विचारणीयम् ,, अनुवादक । आगे दृष्टिदीजिये "मायोदेवता यहां से लेकर विज्ञायते तक ,, यहां मनमानी व्याख्या करके

तथाचोक्तो बहुव्रीहिरपि संगच्छते । किंचैतन्निरुक्तवाक्यार्थोऽपि स्यादेव विदुषां विनोदायेति सम्भावयामि । तथाच विद्वज्जनविनोदपरवशत्वात् कानिचिदिहैवोदाह्रियन्ते वाक्यानि । तथाहिः- 'यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति' इति निरुक्तवाक्यं 'यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता यज्ञाङ्गं वा इत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते" इति व्याख्यातम् । तच्च यज्ञयज्ञाङ्गयोरपि देवतात्वप्रतिपादनात् स्वोक्तविरोधि अयुक्तञ्चेति । 'यद्देवतः' इति पदमनाकलय्य विहितोऽर्थ इति प्रतीयते तदनाकलनकारणं तु न किञ्चित्पश्यामः । तथाच यद्देवतोद्देश्यकं यज्ञस्यविधानं, यां देवतामुद्दिश्य हविः प्रक्षिप्यते सा देवता तस्य यज्ञस्य, सैवचतत्र विनियुक्तानामनादिष्टदेवतालिङ्गानां मन्त्राणां देवता, एवं यज्ञाङ्गेऽपि योज्यम् । इति सुस्पष्टेऽपि वाक्यार्थे कथमयं बभ्राम इति विद्वांस एव विचारयन्तु । एवमग्रिमेऽपि ग्रन्थस्तद्वस्थ एव । तथाहिः- "ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते तेऽपि प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते । अत्रैवं विकल्पोऽस्ति नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति । तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति" । अहो पाण्डित्यं दयानन्दस्य, यस्स्वात्मानं वेदभाष्यकारत्वेनाभिमन्यते । यो हि निरुक्तवाक्यार्थनिरूपणेऽपि पदे पदे निपतति । अयि ! कामचरते ! साधुपदमवाप्तासि । अथवा किमनल्पजल्पनेन उक्तार्थसाधुतायां शास्त्रपरिशीलनप्रक्षालितशेमुषीका विद्वांस एव प्रमाणम् । एवमग्रेपि दीयतां दृष्टिः । "प्रायो देवता वा अस्तित्याचारो बहुलंलोके" इति निरुक्तवाक्यमादाय भूयोऽपि तमेवार्थ-

---

उपकारक कोई देवता माना है, कहीं द्योतक को देवता माना है, ऐसीदशामें उपकारकत्व और द्योतकत्व दोनों धर्म तो प्रवृत्तिनिमित्तहोनहींसकते, क्योंकि अनेकों को प्रवृत्तिनिमित्त मानने में व्यभिचार दोष आता है । "याज्ञदैवतो मंत्र ,, इस निरुक्त वाक्य के अर्थ प्रति पादन में भी दयानन्द ने बहुत जंभाई ली हैं । इस वाक्य की व्याख्या में लिखा है " मंत्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये० ,, इत्यादि अर्थात् यज्ञसिद्धि के लिये मंत्रों को मुख्यहेतुता है इसी लिये ये " याज्ञदैवत ,, कहलाते हैं, ये सब परस्पर विरुद्ध कथन है, यज्ञमें मंत्र किस लिये बोले जाते हैं । ऐसी आशंका कर के आपने स्वयं ही जवाब दिया है कि यज्ञ के समय जैसे अन्य२ इंद्रियां अन्य २

मतिदिशन्निवाह- "एवं देवताविकल्पस्य प्रायेणलोके बहुलमाचारोऽस्ति। क्वचिद्देवदेवत्यं कर्म मातृदेवत्यं विद्वद्देवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यंचैतेऽपि पूज्याः सत्कर्त्तव्याः सम्यतस्तेषामुपकारकर्तृत्वमात्रं देवतात्वमस्तीति विज्ञायते' इति। अत्रहि उपकर्तृत्वमेव मात्रादीनां देवतात्वे प्रयोजकमुक्तम्। अग्रे तु द्योतकत्वम्, नोभयोरेकत्वम्, न प्रवृत्तिनिमित्तद्वैतं कस्यचित्सम्भवति, अन्यथा व्यभिचारप्रसंगात्। एवं 'याज्ञदैवतो मन्त्रः' इति वाक्यार्थप्रतिपादनेऽप्यनल्पं जृम्भायितं दयानन्देन। तथाहि- 'मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद्याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते' इति तदर्थोऽभ्यधायि, तच्चमिथो नूतविरोधित्वादयुक्तम्, तत्र मिथोविरोधिता तावत् यज्ञे मन्त्रोच्चारणं किं प्रयोजनकमित्याशंक्य यथा यज्ञानुष्ठानकालेऽन्यैरिन्द्रियैरन्यत्कार्यं क्रियते तथा वाचा वेदमन्त्रोच्चारणत्वेन निष्प्रयोजनत्वस्य वेदरक्षणेश्वरस्तवनाद्यर्थत्वेन तदनङ्गतायाश्च भवतैवोक्तत्वात्। अंगत्वं हि प्रकृतोपकारकत्वम्। नहि यज्ञोपकारकता मन्त्राणां क्वाप्यभिमता भवता। तथाच निगदेनैवशब्द्यतेऽधुना- 'यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वादिति'। अतएव 'याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते' इत्यप्ययुक्तम्। यज्ञएव देवता येषां मन्त्राणामित्यर्थे याज्ञदैवतापदस्य साधुत्वमपिचिन्त्यम्। किञ्चाभिमतार्थे भवन्नयेन पुनरुक्ततापत्तिरपि, 'स याज्ञो वा' इत्यत्रापि यज्ञस्यैव भवता देवतात्वप्रतिपादनात्।

कार्य करती हैं तो वाणी वेद मंत्रों का उच्चारण करती रहे, निष्प्रयोजनता इस लिये नहीं है कि वेद रक्षा, और ईश्वर स्तुति आदि कार्य होते हैं। इस उत्तर से पाया जाता है कि आप यज्ञ का उपकारक वेदमन्त्रों को नहीं मानते। उपकारकता ही अङ्गता है। सो आप अन्यत्र कहीं मानते ही नहीं "याज्ञदैवताः,, यह पद भी " यज्ञ ही है देवता जिन मंत्रों का, वे मन्त्र याज्ञदैवत हैं,, इस अर्थ में चिन्तनीय ही है। और इस अर्थमें आपके मतमें "पुनरुक्ति,, दोष भी है क्योंकि "स याज्ञो वा,, यहां पर भी आपने यज्ञ को ही देवता माना है। 'याज्ञदैवतो मन्त्रः,, इस वाक्य का वस्तुतः अर्थ यह है कि "जिस मन्त्रमें कोई देवतालिंग आदिष्ट नहो वह मन्त्र, यज्ञदेवताक है अर्थात् उस मन्त्र का विष्णु देवता है, विष्णु शब्द से नैरुक्त लोग आदित्य-सूर्य का ग्रहण करते हैं। अथवा वैसामन्त्र "दैवत" समझना चाहिये अर्थात् अग्निदेवताक समझना चाहिए। आगे चल कर स्वामी जी देवताओं की

'याज्ञदैवतोमंत्रः' इति निरुक्त वाक्यस्य परमार्थस्तु अनादिष्टदेवतालिंगो मन्त्रो याज्ञो वा स्यात् दैवतो वा इत्ययमेव । यज्ञो देवानायस्य मन्त्रस्येति याज्ञः । यज्ञश्च विष्णुः । "विष्णुर्वै यज्ञः" इति विज्ञानात् । विष्णुश्च 'यच्च किञ्चित् प्रवल्हितमादित्यकर्मैवतत्' इति वक्ष्यमाणत्वात् आदित्यएव द्युस्थान समाम्नातो नैरुक्तानाम् । तथाचादित्यदेवतो मन्त्रः स इत्यर्थः । एवं दैवतोऽपि । देवता एव देवता अस्य मन्त्रस्यासौ दैवतो मन्त्रः । देवता पुनः सर्व देवेषु प्रधानत्वात् सर्वदेवतात्मत्वाच्चाग्निरेव । "अग्निर्वै सर्वा देवताः" इत्युक्तेः । तस्मादाग्नेयः स मन्त्रो वास्य दित्यर्थः । किञ्च यज्ञसम्बन्धिनीनां देवतानां परिगणनमपि 'अत्र परिगणनं' इत्यादिग्रन्थेन क्रियते । तथाहि—'गायत्र्यादिछन्दोऽन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञा यज्ञः यज्ञांगं प्रजापतिः परमेश्वरः नराः कामः विद्वान् अतिथिः माता पिता आचार्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवताः सन्ति । परंतु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदेवते भवत इति निश्चयः'। इति बृहद्देवतादिप्राचीनग्रन्थेषु नैताः क्वचिदप्यस्माभिरवलोकिता देवताः । दयानन्दस्यैवापूर्वेयमाविष्कृतिरिति प्रतीमः । तत्र तावत् 'गायत्र्यादि छंदोन्विता मंत्रा' अपि देवताः सन्तीति ब्रुवाणः प्रतिवचनीयः, कस्येमे देवताइति मंत्राणामेव ? उतान्यस्य ? नान्त्यः, निर्वचनासम्भवात् । देवतानां मंत्रसम्बंधप्रतिपादकवाक्यविरोधाच्च । आद्ये कथं नात्माश्रयः ? । नहि सम्भवति

गिनती करते हुए लिखते हैं "गायत्री आदि छन्दोंसे युक्त मन्त्र, ईश्वराज्ञा, यज्ञ, यज्ञांग, प्रजापति, परमेश्वर, नर, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता, आचार्य, ये सब कर्मकाण्डादिकों में देवता हैं । परन्तु मन्त्र और ईश्वर, यज्ञ देवता हैं यह निश्चय है" "बृहद्देवता" आदि प्राचीन ग्रन्थों में तो ये देवता कहीं देखे नहीं गये, केवल दयानन्द की ही यह नई ईजाद है । इनसे पूछना चाहिए कि जब तुम गायत्री आदि छन्दों से युक्त मन्त्रों को देवता मानते हो तो तादृशमन्त्र किसके देवता हैं ? मन्त्रों के ही हैं वा अन्य किसी के ? अन्य किसी के तो कह ही नहीं सकते क्योंकि अन्य पदार्थान्तर कथन ही नहीं किया । और देवताओं का मंत्रों के साथ सम्बंध है, ऐसे २ अपने वाक्यों का भी विरोध आवेगा । यदि पूर्वपक्ष माना जाय तो 'आत्माश्रय' दोष आता है । यह कैसे हो सकता है कि मंत्रों के देवता मंत्र ही हों ? अत्यंत चतुर नट भी अपने कंधे पर नहीं चढ़ सकता । (शङ्का)

मन्त्रा एव देवता मन्त्राणामिति नहि निपुणतरोऽपि नटवरः स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवेदिति । ननु यदि कस्यचिन्मन्त्रस्य प्रतिपाद्यो विषयो मन्त्रस्वरूपनिरूपणमेव स्यात् अस्त्येव तस्य मन्त्रस्य तदतिरिक्तमन्त्रदेवताकत्वमिति नोक्तदोष इति चेन्न । नैष निश्चयो भवतां, यत्तदतिरिक्तमन्त्रस्वरूपनिरूपकपरत्वमस्य मन्त्रस्य । तथा च मन्त्रसामान्यस्वरूपप्रतिपादकत्वात्, तस्यापि च मन्त्रान्तर्गतत्वात् प्रस्फुट एवात्माश्रयो दोष इत्यलं पल्लवितेन । इतः परं 'अन्यच्चे'त्यारभ्य प्रकरणपरिसमाप्ते र्यथाकथञ्चिदुचितप्रायमेव सर्वमुक्तमिति न तु साम्प्रतं समीक्षामर्हति । परं तत्र तत्र दर्शनविरोधः, यत्किमपि प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये यतः कुतश्चित् प्रमाणोद्धरणसाहसः वेदव्याख्यावसरेऽनुपदं विनिपातः, व्याकृतितन्त्रीत्यतिक्रमः क्वचित्, क्वचिच्च सर्वथानर्थकपदविन्यासः, इत्यादयो दोषास्तु यथास्थानं स्वयमेव विद्वद्भिर्विचारणीया एव ॥

अथ वेदसंज्ञा विचारः ।

"अथ कोयं वेदो नाम ? मन्त्रभागसंहितेत्याह । किंच मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम-

यदि किसी मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय, मन्त्र के स्वरूप का निरूपण करना ही हो तो तद्‌गतनिरूपण, मन्त्रभिन्न ही है इस लिये आत्माश्रय दोष नहीं आसकता । (उत्तर) यह निश्चय आपका है ही नहीं कि इस मन्त्र को देवतातिरिक्त मन्त्रस्वरूप निरूपकता है । किन्तु मन्त्रसामान्यस्वरूप प्रतिपादकता ही माननी पड़ेगी ऐसी दशा में आत्माश्रय दोष स्पष्ट ही है क्यों कि मन्त्रसामान्यस्वरूप-मन्त्रान्तर्गत ही है । इस से आगे स्वामी जी ने "अन्यच्च" यहां से प्रारम्भ करके प्रकरण समाप्तिपर्यन्त प्रायः ठीक ही लिखा है- इस लिए समीक्षा करने की आवश्यकता नहीं, पर लिखते २ कहीं दर्शनों का विरोध, व्याकरण की रीति का उल्लङ्घन आदि और निरर्थक पदोंका रखना आदि बहुत से दोष हैं जिन्हें विद्वान् लोग स्वयं विचार सकते हैं ।

वेद संज्ञा विचारः-

"अथ कोऽयं वेदोनाम- यहां से लेकर, रचितत्वाच्च यहां तक" दयान-

धेयमिति कात्यायनोक्तेः ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति। नैवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति । कुतः पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्, वेदव्याख्यानात्, ऋषिभिरुक्तत्वात्, अनीश्वरोक्तत्वात्, कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिः वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्, मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति" एतावता भाष्यभूमिकाग्रन्थेनहि दयानन्दो ब्राह्मणग्रन्थानामवेदतां साधयितुं प्रवर्त्तते । षड् हेतवोऽप्यत्रार्थे निरूपिताः । हेतुत्वमप्येषां सम्भवति न वेत्यनुपदमेवास्माभिः निरूपयिष्यते । इदमेव तावदत्र वक्तव्यम्-यत्कोयं वेदो नामेति प्रश्नमुत्थाप्य यदिदमुत्तरितं दयानन्देन-मन्त्रभागसंहितेत्यादि" किमस्य तात्पर्यमिति ? यद्यपि 'मन्त्रभागसंहिता' इति पदस्य साधुत्वमपि चिन्त्यं, तथापि किमनेनेति कृत्वा एतदेव विचार्यते- अत्रपदे योऽयं भागशब्दः स कमर्थमाह इति । भागः, अंशः, अवयवः, इत्येतेपर्याया एव, तथासति 'मन्त्रभागो वेदः' इत्युक्ते कस्य भागः इत्याकांक्षा जायते, सांशिनमन्तराऽनुपपद्यमाना कमप्यंशिनमवयविनं वा कल्पयति । तस्य च मन्त्रात्मकभागं विहाय कश्चिदन्योऽपि भागोऽस्ति इति स्पष्टमेव विज्ञायते । सच ब्राह्मणात्मकएव । एवं दयानन्दः स्वमुखेनैव ब्राह्मणानां वेदत्वमाह । अन्यथा सर्वेऽपि तन्मतानुयायिनो यथाकथमपि निरुक्तपदस्थभागशब्दस्य प्रयोजनं प्रदर्शयन्तु वर्षसह-

---

न्द ने ब्राह्मण ग्रन्थों की अवेदता सिद्धि के लिये यत्न किया है। और इस विषय में ६ छः हेतु दिये हैं, ये हेतु कैसे हैं ? इसकी सफाई अभी आगे चल कर होजायगी । अभी तो हमें यही कहना है कि "वेद क्या है ?, इस प्रश्न के उत्तर में ' मन्त्र भाग संहिता ' ऐसा लिखा है, यह सर्वथा अपने मत के ऊपर ही कुठाराघात है । विचारिये- इस उत्तर का क्या तात्पर्य है ? इस उत्तर में जो भाग शब्द है, वह अंश वा अवयववाची ही माना जासकता है, अच्छा तो "वेद-मन्त्रभाग है" ऐसा कहने से किसका भाग है ? यह अवश्य आकांक्षा होगी । और उस आकांक्षा की पूर्ति के लिये अवश्य कोई अवयवी मानना पड़ेगा तो यह सिद्ध हो जायगा कि मन्त्रभाग से अतिरिक्त भी कोई भाग है और वह ब्राह्मणभाग ही तो है, बस इस प्रकार से दयानन्द ने अपने मुख से ही ब्राह्मणों को वेद मान लिया । अन्यथा दयानन्दी लोग भाग शब्दका प्रयोजन हज़ार वर्ष लगाकर भी बतावें- उसे हम सम्मानपूर्वक मान लेंगे । "ब्राह्मणों को वेदत्व नहीं है" इसके साधन के लिये जो आप

हस्तेनापि इति स बहुमानमस्माभिरुद्घोष्यते। किंच ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाभावसिद्धये प्रदर्शिता हेतवोऽपि साध्यमर्थं यथार्थं साधयन्ति नवा इत्यपि सांप्रतं विवेचनीयम्। तत्रादिमो हेतुः- 'पुराणेतिहाससंज्ञकत्वमिति'। अनुमानप्रयोगश्चेदृशः- ब्राह्मणग्रन्था वेदसञ्ज्ञकत्वाभाववन्तः पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्। एतच्चायुक्तम्— ब्राह्मणानामैतरेयादीनां वेदसंज्ञकत्वाभावं सिषाधयिषुर्भवान् कथमिव तेषामसिद्धमेवाद्यावधि पुराणेतिहाससंज्ञकत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्येत्? अथ पुरातनार्थप्रतिपादकत्वात् ऐतिहासिकार्थप्रतिपादकत्वाच्च पुराणेतिहाससंज्ञकत्वं सिद्धमेव ब्राह्मणानामेवेति चेत्-नैतादृशपुराणेतिहाससंज्ञकत्वं वेदसंज्ञकत्वविरोधि। निरीक्षितश्चेत् क्वचिदनयोः संज्ञयोर्विरोधो भवता, तर्हि व्याचष्टाम्, यदि चेतिवृत्ताभिधेषु भारतादिषु पुराणाभिधेषु पाद्मादिषु च वेदव्यवहाराभावात्पुराणेतिहाससंज्ञकत्वं भवत्येव वेदसंज्ञकत्वविरोधीति चेत् तर्हि पाद्मभारतादीनां पुराणेतिहाससंज्ञकत्वममन्वानो भवान् कथमिदमुद्भावयितुं शक्नुयात्। एवं च न पुरातनार्थप्रतिपादकत्वमात्रं वेदसंज्ञामपाकर्तुमर्हति। वेदानां त्रैकालिकार्थप्रतिपादकत्वं तु सर्वास्तिकतंत्राङ्गीकृतमेव। किञ्च त्रैकालिकमर्थमभिदधतो वेदाः पुरातनार्थमपि प्रति-

---

ने हेतु दिये हैं—वे भी विचारणीय हैं। (१) पहला हेतु यह है कि "पुराणेतिहाससंज्ञकत्वमिति। यहां ऐसा अनुमान प्रयोग होगा— ब्राह्मणग्रन्थ वेदसंज्ञक नहीं हैं, पुराण वा इतिहास संज्ञा होने से, परन्तु पुराणेतिहाससंज्ञकत्व हेतु का उपन्यास अयुक्त है क्योंकि ऐतरेयादि ब्राह्मणों की पुराण वा इतिहास संज्ञा अभी तक सिद्ध ही नहीं हुई। यदि कहैं कि पुराने अर्थ के प्रतिपादक होने से पुराणत्व और ऐतिहासिक अर्थ के प्रतिपादक होने से इतिहासत्व ब्राह्मणग्रन्थों का सिद्ध ही है, तौ ऐसा पुराणत्व वा इतिहासत्व वेदसंज्ञा होने का विरोधी नहीं होसकता। ब्राह्मणग्रन्थ वेदसंज्ञक भी रहैं और पुराणेतिहाससंज्ञक भी, दोनों संज्ञाओं का कहां विरोध आपने देखा है? कहीं देखा हो तो बताइये!। यदि कहैं कि महाभारत, पद्मपुराणादिकों में इतिहासत्व, पुराणत्व प्रसिद्ध हैं और वेदसंज्ञकत्वाभाव प्रसिद्ध है तौ यह भी आप नहीं कह सकते क्योंकि आपतौ उन्हें इतिहास या पुराण मानते ही नहीं! आप न मान कर यह कैसे कह सकते हैं? इस लिये पुरातन अर्थका प्रतिपादक होना—वेदसंज्ञा का विरोधी नहीं है। वेद

पादयन्तीति तेषामप्युक्तहेतु नाऽऽर्दत्वमेवस्यात्। तस्मात्पुराणेतिहाससंज्ञकत्वादित्ययंहेतुर्हेत्वाभासएव किञ्च ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाभावे हेतुत्वेनोपन्यस्तस्य पुराणेतिहाससंज्ञकत्वस्य ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाभावेऽहेतुत्वादपि नोक्तंसाधीयः। नह्येकस्यवस्तुनो नानानामधेयत्वं कस्याप्यनुभवविरुद्धम्। एकएव कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थो घटः कलशो द्रव्यमित्येवं व्यवह्रियत इत्यस्ति आभिधानिकानामनुभवः। तस्मादितिहासादिसंज्ञकत्वेनवेदसंज्ञकत्वाभावसाधनमाशामोदकमात्रम्। वेदव्याख्यानादित्यपरोहेतुरपिन ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाभावसाधकः। तथाहि–अत्रब्राह्मणानि न वेदाःवेदव्याख्यानरूपत्वात्इत्येव न्यायाकारःसंभवति। हेतुश्चायमनैकान्तिकः। वेदपदव्यपदेश्यवाक्यकलापस्य पदान्तरेणार्थकथनंहिवेदव्याख्यानं नाम। तच्चेदं वेदमन्त्रे ष्वप्युपलभ्यते।–

"प्रजापतेनत्वदेतान्यन्यो विश्वारूपाणि परिताबभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तुवयथंस्यामपतयो रयीणाम्" इति याजुषोमन्त्रः। अ० २३म०६५

"प्रजापतेनत्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परिताबभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयंस्याम पतयो रयीणाम्" इत्यृचः।

"नवोनवो भवसिजायमानोऽन्हाङ्केतुरुषसामेष्यग्रम्। भागं देवेभ्यो विदधास्यायन्प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः" इत्याथर्वणः

तीनों कालों के अर्थ को बतलाने वाले हैं- यह बात सब आस्तिक मानते हैं तीनों कालों के अर्थों को कहने वाले वेद पुरातन अर्थ को भी प्रतिपादन करते ही हैं इसलिये आप के दिये हेतु से वेदभी वेद नहीं रहेंगे। इस लिये पुराणेतिहाससञ्ज्ञत्वात् यह हेतु नहीं हेत्वाभास है। .... ब्राह्मण यदि वेदसंज्ञक भी और पुराणादि संज्ञकभी रहें तो क्याक्षति है? एक वस्तु केअनेक नाम संसार में देखेहीजाते हैं। जैसे एकही घड़ेको कलश घट, द्रव्य, इत्यादि अनेक नामों से पुकारते हैं। बस,उक्त हेतुसे ब्राह्मणों को अवेदत्व सिद्ध करना आशा मोदकमात्र है। ब्राह्मणों के वेद न होने में दूसराहेतु आपने यह दिया है कि 'वेदव्याख्यानात्, यह भीहेत्वाभास है क्यों कि व्यभिचारी है। यहां पर न्याय प्रयोग इसप्रकार रहेगा। ब्राह्मण, वेद नहीं हैं, वेदों के व्याख्यान रूप होने से। अब विचारिये – वेदों का व्याख्यान क्या हैं? वेदशब्दों का दूसरेपदोंसे अर्थबतलाना ही'वेदव्याख्यान

"नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् । भागं देवेभ्यो विदधात्यायं प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः" इ यृ चः ॥ प्रथमयोर्मन्त्रयो विश्वारूपाणीतिपदघटिताद्यमन्त्राद्विश्वाजातानीतिपदघटितस्य द्वितीयमन्त्रस्य चरमयोश्च भवतिजायमान इतिउषसाकेत्वग्रमिति विदधात्यायन्निति च विलक्षणपदघटिताद्यमन्त्राच्चतुर्थस्य मन्त्रस्यभवति जायमान इति उषसामेत्यग्रमिति विदधात्यायमितिच विलक्षणपदघटितत्वेन भिन्नतयावेदपदानां पदान्तरेणार्थकथनरूपस्यवेदव्याख्यानत्वस्यदुरपह्नवतया तदन्तर्भावेनैवानैकान्तिकम् । अयञ्चहेतुःस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्योपाधेर्विद्यमानत्वात् सोपाधिकोऽपि । तथाहि—यत्रयत्र वेदत्वाभावो महाभारतादिग्रन्थे तत्रतत्र स्मर्यमाणकर्तृकत्वमितिसाध्यव्यापकत्वम् । वेदव्याख्यानरूपत्वं हेतुस्तुपूर्वोक्तेष्वमीषु वेदमन्त्रेष्वपि, नचतत्रस्मर्यमाणकर्तृकत्वमितिसाधनाव्यापकत्वम् । तस्माद्भवत्येवोपाधिःस्मर्यमाणकर्तृकत्वमिति । अतो न्यायप्रयोगापरिचितस्य पदवाक्यप्रमाणक्रमानभिज्ञस्याधिकप्रत्याख्यानेन ऋषिनिरुक्तत्वादित्ययमपि हेतुर्नोक्तार्थसाधकः । अत्रहि ब्राह्मणानि नवेदा ऋषिभिरुक्तत्वादित्ययमेवन्यायाकारः। ऋष्युक्तत्वस्य ऋगादिसाधारणत्वादसाधकोऽयं हेतुः । ऋगादीनप्यपाठिषुरेवमहर्षयो नतावता तेषांवेदत्वव्याघातः। यदि ऋष्युक्तत्वपदेन ऋषिप्रणीतत्वमेवाभिप्रेयते भवता

कहा जासकता है, सो ऐसा व्याख्यान तो स्वयं वेदमन्त्रों में भी विद्यमान है- देखिये "प्रजापते०" यह मन्त्र यजुर्वेद अ०२३म०६१ का है। और ऐसा ही मन्त्र ऋग्वेद का है। "नवोनवो०" यह मन्त्र अथर्ववेद वेदमें है और ऐसा ही ऋग्वेद में। इन मूलग्रन्थोक्त मन्त्रों में कहीं २ समानार्थक पदों काही भेद है। अर्थात् तत्तत्पद व्याख्यान स्वरूप ही हैं। इसलिये "वेदव्याख्यानात्" यहहेतु व्यभिचारी है। और यहहेतु व्याप्यत्वासिद्धभी है क्यों कि इसमें स्मर्यमाणकर्तृकत्व रूपउपाधि विद्यमान है। इसलिये कि भारतादि मेंजहांवेदत्वइष्ट नहीं वहां स्मर्यमाणकर्तृकता (जिनके कर्तास्मरण किये जायं) है और वेदव्याख्यान रूपहेतु, पूर्वोक्तमन्त्रों में है, वहां स्मर्यमाण कर्तृकता नहीं है। जो न्याय प्रयोग को जानते ही नहीं उनकेग्रन्थ का अधिक खण्डनकरना व्यर्थ है। आप का तीसरा हेतु ऋषिभिरुक्तत्वात् ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थ बनाये हैं, यहअर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ वेदनहीं क्योंकि ऋषियों नेबनाये हैं यह न्यायका आकार है। इसन्याय में ऋष्युक्तत्वहेतुसाधक नहीं है क्योंकिऋष्युक्त

तदा ब्राह्मणानामपिनऋषिप्रणीतत्वमिति "ऋषिप्रणीतत्वा" दित्ययं हेतुः स्वरूपासिद्ध एव । यदि च भारद्वाजाङ्गिरोयाज्ञवल्क्यजनकादि संवादानां तत्र तत्र दर्शनादृषिप्रणीतत्वभ्रान्तिस्तेऽस्त्येव ब्राह्मणग्रन्थेषु, तदाऽनवगतवेद-वर्त्माऽनधिगतशास्त्रसम्प्रदायोऽनुपलब्धग्रन्थस्फूर्त्तिरकृतगुरुकुलवासः सर्वथापि भवानित्येवास्माकं चरमोनिश्चयः। यतोहिवेदानां वेदत्वमिदमेवतावद्, यदिमेऽतीतानागतवर्त्तमानसन्निकृष्टविप्रकृष्टसकलवस्तुसाधारण्येन सर्वंविदन्ति वेदयन्ति चाखिलपुरुषान्। अर्थपूर्वकोहिलौकिकपदप्रयोगः। वैदिकानां पुन-र्वाक्यानां नित्यानां नार्थपूर्वकः प्रयोगः संगच्छते, वैदिकवाक्यार्थानां केषा-मपिसृष्टिप्रलयादीनामनित्यत्वात्। अतएव प्रातिशाख्ये कात्यायनोऽपि प्रणि-जगादः—लौकिकानामर्थपूर्वकत्वादिति । ततश्च वस्तुसद्भावमनपेक्ष-माणा वेदा लोकवृत्तमवगमयन्तो यदि याज्ञवल्क्यजनकादिसंवादमप्यभिदध्यु-स्ततस्ते का क्षतिः। अन्यथातु "सूर्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्या-दिसंहिताभागस्याप्यवेदत्वापत्तिः स्यादेव। यथाहि जनकादिसंवादस्य ब्राह्म-

रणों ऋगादि वेदों में भी है परन्तु उनमें वेदत्व आपको भी संमत है यदि ऋष्युक्तत्व शब्द का पूर्वनिर्दिष्ट अर्थ अभिप्रेत हो अर्थात् ऋषियों केबनाये यह अर्थ माना जाय तौभी ऋष्युक्तत्वहेतुस्वरूपासिद्ध है क्योंकि ब्राह्मणों को भी ऋषियों ने बनाया नहीं किन्तु संहिता भागवत् पढ़ा है। यदि याज्ञवल्क्य जनकादि का संवाद देखने मात्र से आप को यह भ्रान्ति है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं तो सचमुच आपवेदमार्ग को नहीं जानते, शास्त्र का सम्प्रदाय मालूम नहीं, तुम्हें वेद स्फूर्त्ति मिली ही नहीं, तुमने किसी गुरुकुल में रहकर पढ़ा ही नहीं। क्योंकि वेदों का 'वेदत्व'वेदपनहीं यह है कि वे भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, दूर, समीप सबवस्तुओं को जानते हैं और सब पुरुषों को जनाते हैं। संसार में लौकिक पदों का प्रयोग अर्थपूर्वक होता है सही, परन्तु नित्य वेद वाक्यों का प्रयोग अर्थपूर्वक नहीं होता, वैदिक वाक्यार्थ सृष्टि प्रलयादि कोई हों सब अनित्य ही होंगे। इसीलिये कात्यायन मुनिने प्रतिशाख्य में कहा है "लौकिकानामर्थपूर्वकत्वादिति" अर्थात् लौकिक वाक्यों कोही अर्थ पूर्वकता है। ऐसी दशा में वस्तुसत्ता की अपेक्षा नरखते हुए-लोकवृत्त को बोधन कराते हुए यदि याज्ञवल्क्य जनकादि के संवाद को भी वेद

तेषु दर्शनाज्जनकादिकालानन्तरं तत्कृत्युत्पत्तिमत्त्वं ब्राह्मणानामुत्प्रेक्षते, तथा सूर्याचन्द्रमसाविति श्रुतेरपि सूर्याचन्द्रमसोः सृष्ट्यभिधायकत्वेन तदुत्पत्तिकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वेनानित्यत्वं स्यादिति वृद्धिमिच्छतस्ते मूलस्यापि हानिरिति महदनिष्टमेतत्प्रसज्येत। तस्मात् सूर्याचन्द्रमसोः सृष्ट्यभिधायकोऽपि वेदो न तदुत्पत्तिकालानन्तरकालोत्पत्तिको वेदवाक्यानामर्थपूर्वकत्वविरहादित्यनायत्याऽपि दधानो भवान्कस्मादकस्मादेव ब्राह्मणानां वेदतामपलपते। तथा च याज्ञवल्क्यजनकादिनामदर्शनमात्रं नावेदत्वसाधकं ब्राह्मणानामिति ध्रुवम्। इतः परं "अनीश्वरोक्तत्वा" दिति हेतुस्तु सर्वथाप्युपेक्षणीय एव। यतोहि-'अनीश्वरोक्तत्वम्' ईश्वर-भिन्नोक्तत्वमेव ग्राह्यम् तच्च ऋष्युक्तत्वसाधारणमिति पूर्वोक्तहेतोरनतिरिक्तत्वात् पुनरुक्तताख्यनिग्रहस्थानापत्तिः। एवं निरुक्तहेतुप्रत्याख्यानप्रक्रियाऽत्राप्यतिदेश्या विद्वद्भिरित्युपरम्यतेऽस्माभिः।

बतलावें तो तुम्हारी क्या हानि है? यदि ऐसा न माने तो "सूर्याचन्द्रमसौ०" इत्यादि संहिताभाग को भी अवेदत्व मानना पड़ेगा। क्योंकि जैसे जनक याज्ञवल्क्य आदि के संवाद आजाने से जनकादि के समय के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों को माना जाता है वैसे ही सूर्य चांद की उत्पत्ति के बाद ही वेदों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी-इस प्रकार मानने से वेदों को अनित्यतापत्ति होगी। इस तरह मूल वेद भी उड़ जायंगे-यह बड़ा अनिष्ट होगा। इसलिये सूर्य चांद आदि की सृष्टि बतलाने वाला भी उनकी उत्पत्ति के बाद नहीं मानना चाहिये, क्यों कि वेद वाक्य अर्थ पूर्वक नहीं होते "ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति" यह बात अगत्या आपको भी स्वीकार करनी पड़ेगी। इससे सिद्ध होता है कि याज्ञवल्क्य जनकादि का नाम आजाना मात्र, ब्राह्मण ग्रन्थों की अवेदता का साधक नहीं। इसके बाद चौथा हेतु "अनीश्वरोक्तत्वात्" यह भी उपेक्षणीय है, क्योंकि 'अनीश्वरोक्तत्व' क्या वस्तु है! इस का विचार करने पर यही कहा जा सकता है कि जो ईश्वर से भिन्न ऋषियों से कहा गया हो सो यही बात "ऋष्युक्तत्वात्" इस पूर्व हेतु से प्रसिद्ध है इसलिये यह पुनरुक्ति रूप निग्रहस्थानापत्ति है। जो बातें पूर्व हेतु के खण्डनार्थ पेश की हैं वे सब बातें यहां भी उद्भावनीय हैं।

अथ "कात्यायनभिन्नै ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्" इत्ययं पञ्चमोहेतु ब्राह्मणानां वेदत्वाभावसाधकः । वस्तुतस्त्वियं साहसोक्तिरेव केवलं दयानन्दस्य । कात्यायनभिन्नेनापस्तम्बेनापि "मन्त्रब्राह्मणयो र्वेद-नामधेयम्" इत्यादि यज्ञपरिभाषासूत्रेषु ब्राह्मणानां वेदत्वस्य स्पष्टमुक्तत्वात् किञ्च सर्वाऽऽस्तिकशिरोधार्ये जैमिनीयदर्शने द्वितीयाध्यायान्तर्गतप्रथमपा-दस्य द्वात्रिंशत्तमे सूत्रे मन्त्रं लिलक्षयिषुराचार्यो जैमिनिरेवं प्रतिपादयामास,— "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" 'शेषे ब्राह्मणशब्दः" इति । अत्रहि "शेषे ब्राह्मण-शब्दः" इति द्वितीय सूत्रोक्त्या शेषेमन्त्रभागादवशिष्टे वेदैकदेशे ब्राह्मणशब्द इत्यर्थाद् वेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकप्रभेदद्वयवत्वसिद्धिः । यद्याचार्यो वेदैकभा-गत्वेनावागमिष्यद् ब्राह्मणस्य, कथमसौऽवधास्यत "शेषे ब्राह्मणशब्द" इति नहि महाभारतस्य रामायणं शेष इत्युन्मत्तः कदाप्याचक्षीत । तस्मादवश्यं शेषशब्दमहिम्नाऽऽचार्यस्य ब्राह्मणे वेदभागत्वमभिमतमित्यवगम्यते । अत एव ब्राह्मणस्वरूपनिर्वचनप्रकरणे शबरस्वामिनोऽपि "अथ किंलक्षणं ब्राह्म-णम् । मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः । तत्र मन्त्रलक्षण उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद्ब्रा-ह्मणलक्षणमवचनीयम् । मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिद्धं यस्यैतल्लक्षणं न सम्भवति

"कात्यायन से भिन्न ऋषियों ने ब्राह्मणों की वेद संज्ञा नहीं मानी" यह पांचवा हेतु है। वस्तुतः यह भी दयानन्द का साहसमात्र है। क्योंकि कात्यायन से भिन्न आपस्तम्ब ऋषि ने "यज्ञपरिभाषा सूत्रों" में "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस प्रकार स्पष्ट ही ब्राह्मणों को वेदत्व माना है। और देखिये- महर्षि जैमिनि ने अपने मीमांसा सूत्रों में लिखा है "शेषे ब्राह्मणशब्दः" अ० २ पा १ सू० ३२। यहां पर अर्थ किया है कि मन्त्रभाग से बचे हुए वेदैकदेश में ब्राह्मण शब्द आता है अर्थात् वेद के दो भेद हैं १ मन्त्र, दूसरा ब्राह्मण (यदि जैमिनि आचार्य वेदैकदेश, ब्राह्मणों को न मानते तो "शेषब्राह्मणशब्दः" ऐसा न कहते। महाभारत का रामा-यण ग्रन्थ "शेष" है ऐसा कोई भी समझदार नहीं कह सकता- इस लिये अवश्य मानना चाहिये कि जैमिनि आचार्य, ब्राह्मणों को वद मानते हैं। इसी लिये जैमिनि सूत्रों के भाष्यकार शबरस्वामी लिखते हैं "अथ किं लक्षणं ब्राह्मणमित्यादि,, तात्पर्य यही है कि ब्राह्मणों को वेदत्व है। ऐसी स्थिति में "कात्यायनसे भिन्न ऋषियों ने ब्राह्मणों की वेद संज्ञा नहीं मानी,, ऐसा

तद्ब्राह्मणमितिपरिशेषसिद्धं ब्राह्मणमितिव्याचक्षुस्तस्मात् कात्यायनभिन्नै-र्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायाऽस्वीकृतत्वात्. इति मुधैवप्रलपन् सतांशोचनीयो लोका-नांचोपहसनीय एव। किञ्चायं दुराग्रहग्रहिलो "ब्राह्मणं नवेदः" इत्येतादृशं नपुनर्ऋषेरेवापितुप्रामाणिकस्यकस्यापि वाक्यं दर्शयेत्तदासौ "कात्यायन-भिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञाया अस्वीकृतत्वा, दितिवक्तुं समेतापीत्यलं पल्लवितेन। 'मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्, इत्ययमन्तिमोहेतुः। अत्रहि 'ब्राह्मणानि वेदानभ-वन्तिमनुष्यबुद्धिरचितत्वात्, इत्येवन्न्यायप्रयोगः सम्भवति। सचसर्वथाऽप्यन-वगतन्यायप्रयोगस्य प्रयोगः। मनुष्यबुद्धिरचितत्वसिद्ध्यनन्तरमेव ब्राह्मणेषु वेदत्वाभावः साधयितुं शक्यते, तत्तुनाद्यापिसिद्धम्। अपिचमहर्षिर्गौतमो वेदप्रामाण्यनिरूपणावसरे स्थूणानिखनन न्यायेनवेदस्यैव प्रामाण्यं द्रढयितुमा-शशङ्के "तदप्रामाण्यमनृतव्याघात पुनरुक्तदोषेभ्यः" इति। तत्रानृतादीनां यान्युदाहरणान्युपात्तानि वात्स्यायनमुनिना तानिसर्वाणि ब्राह्मणग्रन्थानामेव अतएवोभयोरप्यनुमतं ब्राह्मणानां वेदत्वमिति। यत्तु "यथाब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिकाइतिहासाः सन्तिनचैवं मन्त्रभागे" इति तन्न, विचारासहत्वात्। तथाहि-लौकिकेतिवृत्तप्रदर्शनं ब्राह्मणग्रन्थेषु किंतेषां वक्तृकर्तृ चितत्वपरिचायकमुताऽपौरुषेयत्वाभावप्रयोजकमथादिमत्ताप्रयो-

व्यर्थ कहने वाला, सत्पुरुषों को शोचनीय है और हंसी का पात्र है। यह दुराग्रही महात्मा "ब्राह्मण, वेद नहीं है" ऐसा-ऋषिका वा किसी प्रामाणिक का भी यदि वचन दिखादेता तो उपयुक्त वचन कहभी सकता था। अस्तु क्या अधिक विस्तार किया जाय। सबसे अन्त में, ब्राह्मणों के वेद नहोने में यह हेतु दिया है कि "मनुष्य बुद्धिरचितत्वात्" अर्थात् ब्राह्मण मनुष्यों की बुद्धि से रचित हैं। यहां ऐसा न्यायाकार होगा "ब्राह्मण, वेद नहीं है, मनु-ष्यबुद्धिरचित होने से,। पर ऐसा प्रयोग न्यायशास्त्रानभिज्ञकाही होसकता है क्यों कि मनुष्यबुद्धिरचितत्वरूप- हेतु की सिद्धि होने के बाद ही इसहेतु से ब्राह्मणों में वेदत्वाभाव सिद्ध किया जासकता है, सो अभीवह हेतु सिद्ध ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि महर्षि गौतम ने वेदों का प्रामाण्यनि-रूपण करने के अवसर में वेद की प्रमाणता को दृढ करने के लिये आशङ्का की है कि "तदप्रामाण्यमित्यादि" इस सूत्रमें अनृतादिकों के वात्स्यायन मुनिने जितने उदाहरण दिये हैं वेसब ब्राह्मणग्रन्थो के हीदिये हैं। इससे

अक्तमिति ? नाद्यः- ग्रन्थेलौकिकेतिहासदर्शनस्य वञ्चकरचितत्वाव्यभिचारित्वात् । नहिसर्वोऽपीतिहासो लोकवञ्चकैर्विरचितइत्युत्पश्यामो लोकवञ्चकैर्द्वितोऽपि कश्चिददिति । नद्वितीयः-वेदानां सर्वविद्यास्थानतया सृष्ट्युत्पत्त्यादि क्रमाभिधानवत् प्राकृतजनसौकर्याय याज्ञवल्क्यप्रभृतिनामपुरःसरं ब्रह्मविद्याद्युपदेशस्यापिवेदेषूपपन्नत्वात् । अपौरुषेयत्वमपि वेदस्यतदवस्थमेव । नतृतीयः नादिमतामृषीणां नाममात्रदर्शनेनब्राह्मणेषु सादिमत्वशङ्का इत्यस्यान्यत्रोक्तत्वात् । किञ्च "तथा ब्राह्मणग्रन्थानामपिच पुराणेतिहासादिनामास्तीत्यादिना कुतः ? ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् इत्यन्तेनग्रन्थेन यत्प्राह तदिदं सर्वमपि समस्तशास्त्रानवबोधनिबन्धनविडम्बनामात्रम् । वात्स्यायनमुनिनाहि 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते इत्युक्तम् । तत्प्रामाण्यमङ्गीकुर्वाणश्चाय' कथमितिहासपुराणात्मकतां ब्राह्मणस्याभ्युपगच्छेत् । तथात्वेनहि ब्राह्मणेनब्राह्मणप्रामाण्यव्यवस्थापनं युक्तं स्यादिति । अपिच "तद्देवासुराः संयत्ताआसन्नित्यादिना 'जगतःपूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणिवचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानिगृह्यन्ते' इत्यन्तेन ग्रन्थेन यत्प्रलपितमप्ययं मुग्धो, तदिदमस्याप्यत्यनिष्टापादकम् । सिद्ध है कि महर्षि गोतम और वात्स्यायन मुनि दोनों ब्राह्मणों को वेद

मानते हैं । और गोतम सूत्रतथा वात्स्यायन भाष्य को स्वामी दयानन्दने अपने बनाये सत्यार्थप्रकाश में भी प्रमाण कोटि में माना है आगे चलकर स्वामी जीने लिखा है कि "ब्राह्मण ग्रन्थों में मनुष्यों के नामोल्लेखपूर्वकजैसे इतिहास पायेजाते हैं, वैसे मन्त्र भाग में नहीं" यह भी उनका लेख,अविचार से है, देखिये- लौकिक इतिहासों का ब्राह्मणग्रन्थों में आना क्या इस बातका परिचायक है कि (१) वेधूर्तों के बनाये हैं ? अथवा इतिहास आने से वे(२)पौरुषेय होगये ! अथवा (३) अनादि नहींरहे ! यह १ लापक्ष इस लिये ठीक नहीं कि लौकिक इतिहासों का दिखाना धूर्त रचित होने का प्रमाण नहीं क्योंकि इतिहास ग्रन्थोंके कर्ता धूर्तहोते हैं- इस बातको कोई भी समझदार नहीं मान सकता । द्वितीय पक्षभी ठीक नहीं क्यों कि वेदों को सब विद्याओं का स्थान बतलाया है सृष्टि की उत्पत्ति आदि के क्रम के कथन की तरह साधारण मनुष्यों को समझाने लिये याज्ञवल्क्यादिनाम लेलेकर ब्रह्मविद्या का उपदेश देना सुसंगत है । इससे वेदकी अपौ-

यतस्तथासति "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" ऋ० ७ अ० ७ व० मं० ३॥ "अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः" अष्ट० ३ अ० ३ अ० ६ व० १६ म० ॥ इत्यादिसंहिताभागस्यापि ऐतिहासिकार्थप्रतिपादकतया पुराणत्वापत्तिर्दुर्वारैवस्यात्। निरुक्तसंहितामन्त्रस्य सृष्टिपूर्वकालीनार्थप्रतिपादकत्वेन निरुक्तमन्त्रस्मितेतिहासपदार्थतायाः अवर्जनीयत्वात्। यच्चायंब्रूते "यस्माद्ब्राह्मणानीति सञ्ज्ञीपदमितिहासादिस्तेषां सञ्ज्ञेति, तद्यथा ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति"। तदिदमस्य कथनं हास्यायैव केवलम्। प्रमाणमन्तरेणैव ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् इतिवदन्कथं देवानांप्रियो हास्यास्पदीभूतोन स्यात्। किञ्च 'सञ्ज्ञीपद' मित्यत्र 'सञ्ज्ञिनद' मितिवक्तव्येदीर्घो करणमव्युत्पन्नतामेवास्य द्रढयति। यत्तूक्तं-" अन्यद्प्यत्र प्रमाणमस्तिन्यायदर्शनभाष्ये 'वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्' अ० २ आ० २ सू० ६० । अस्योपरिवात्स्यायनभाष्यम्-' प्रमाणं शब्दो यथालोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः'। अयमभिप्रायः-

कृषेयतानष्ट नहीं होती। तृतीयपक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि ऋषियों के नाम मात्र आजाने से ब्राह्मण ग्रन्थों के सादिमत्त्व की शङ्का नहीं हो सकती, यह अन्त स्थानान्तर में सुस्पष्ट निरूपित है। आगे चलकर "तथा ब्राह्मण ग्रन्थानामेवे त्यादि,, ग्रन्थसे जो ब्राह्मण ग्रन्थों का ही पुराण, इतिहास, नाम बतायाहै, वहभी शास्त्रानभिज्ञताका बोधकहै! क्योंकि जिसवात्स्यायन मुनि के भाष्य को वे प्रमाण कोटि में मानते हैं वेही वात्स्यायनमुनि लिखते हैं "प्रमाणेन खलु०" इत्यादि। अर्थात् प्रमाणभूत ब्राह्मण ग्रन्थों से ही इतिहासपुराणों का प्रामाण्य सिद्ध है, वात्स्यायन को प्रमाण मानते हुए ब्राह्मणों को इतिहास पुराण नाम कैसे दे सकते हैं? ब्राह्मणसे ही ब्राह्मण का प्रामाण्य व्यवस्थापितकरना अयुक्त है। "आगे चलकर "तत्रदेवासुरा इत्यादि ब्राह्मणानि" इत्येतत्पर्यन्त जो कुछ मुण्डी ने प्रलाप किया है, वो यह उसके लिये भी अनिष्टापादक है क्योंकि "हिरण्यगर्भः० अहं मनुरभवं" इत्यादि मन्त्रों को ऐतिहासिक अर्थका प्रतिपादक होने से संहिता भाग को भी दुर्निवार पुराणता प्राप्त होगी। पूर्वोक्त मन्त्र, जबकि सृष्टि से भी पूर्वकालीन अर्थका प्रतिपादक है तो आपके कथनानुसार उसमें भी इतिहासों बधकता आगई। "यस्माद् ब्राह्मणानि" इत्यादि ग्रन्थ से ब्राह्मणों

ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिका इति" तदस्य दुर्भावतोऽनवबोध-यति । तथाहि-"प्रमाणं शब्दो यथालोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः" इति वात्स्यायनग्रन्थस्य यदसौ "अयमभिप्रायः-ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिकाः" इत्यर्थमाचष्टे तदत्यन्तं स्वकीयःताहगर्थप्रतिपिपा-दयिषायां वात्स्यायनो महर्षिः "प्रमाणं शब्दोलोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्या-नां त्रिविधः" इति यथापदरहितमेवाकथयिष्यत् । ननु प्रमाणं शब्दो यथालोके' इति ताहग्र्यार्थकयथापदघटितम् । पठतिचतथैवेति यथालोके शब्दः प्रमाणं तथावेदेऽपीत्यध्याहर्तव्यम् । वेदे ब्राह्मणसंज्ञकानां च वाक्यानां विभागस्त्रिविध इत्यर्थस्य तात्पर्यविषयत्वात् । यत्तु " नचत्वार्येव प्रमाणानि किन्तर्ही त्या" द्युक्तम् ' तत्तुकृतव्याख्यानं पुरस्तादिती-हनोच्यते । यच्चोक्तं-" अन्यच्चब्राह्मणानितु वेदव्याख्यानान्येवसन्ति नैव वेदाख्यानीति । कुतः ' इषेत्वोर्ज्जेत्वेति ' शतपथ काण्डे १ अध्या० ७ इत्यादीनि मन्त्रप्रतिकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकारणात् "

को संज्ञी और इतिहास संज्ञा बतलाई है । ये सब इनका कथन हंसी पैदा करता है । बिना प्रमाण के अन्ट संट बकवाद करना सर्वथा अनुचित है " संज्ञी-पदम् ,, ऐसा लिखने में व्याकरण की मोटी अशुद्धि है । ऐसी अशुद्धियां स्वामी जी की दुर्बुद्धता का डंका पीट रही हैं । आगे लिखा है " अन्यपदमप्यत्र प्रमाणमस्तीत्यादि ,, इस वात्स्यायन भाष्य को लिखकर अभिप्रायनिकाला है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के शब्द लौकिक ही हैं, वैदिक नहीं । बलिहारी बुद्धि की । इसदुर्भावका क्या ठिकानाहै । बुद्धि की स्थूलता से इतना भी न सूझपड़ा कि यदि भाष्यकार को वैसा अर्थ अभिमत होता तो अपने उक्त भाष्य में "यथा पद " रहित ही पाठ बनाते । भाष्यकार का अभिप्राय तो यह है कि जैसे लोक में शब्द प्रमाण है वैसे वेद में भी इत्यादि । " नचत्वार्ये व०,, इत्यादि ग्रन्थ के विषय में पूर्व ही लिखचुके हैं कि यह सर्वथा असंगत है । फिर यहां पिष्ट पेषण की आवश्यकता नहीं । आगे लिखा है "ब्राह्मण ग्रन्थ वेद व्याख्यानरूप हैं, वेदसंज्ञक नहीं, क्यों कि मन्त्रों की प्रतीकों को लेकर ब्राह्मणों में वेदों का व्याख्यान विद्यमान है यह सब अज्ञान का विलास है, क्योंकि यहां न्यायशास्त्रानुसार न्याय प्रयोग

इतितत्सर्वमज्ञानविजृम्भितमात्रम्। एतोत्रब्राह्मणानिनवेदाःवेदवाक्यधारणपूर्वक-वेदव्याख्यानरूपत्वात्। इत्यादिरेवानुमानप्रयोगःसम्भवति। एवमस्मर्यमाणक-र्तृकत्वस्य रागवत्पुरुषकर्तृकत्वस्य चोपाधे रुद्भावलेनापाकरणीयइति न किञ्चिदेतत्। पुरस्ताच्च कृतव्याख्यानमेतदिति। नच 'इषेत्वोर्ज्जेत्वे' त्यादि-प्रतीकमुपादाय ब्राह्मणेषु व्याख्यानदर्शनात् स्फुटन्तेषां तदनन्तरकालिकत्व-मिति कथं ब्राह्मणानां वेदतेतिवाच्यम्। क्रमिकेषु संहितामन्त्रेष्वपि पूर्वोत्तर-भावस्यावर्जनीयतया वेदत्वव्यवस्थितौ पूर्वोत्तरभावस्याकिञ्चित्करत्वात् इति॥ यत्तुब्रूते मुण्डी-,'अन्यच्च महाभाष्ये केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च तत्र लौकिकास्तावत् गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति वैदिकाः खल्वपि 'शन्नो देवीरभिष्टये' 'इषेत्वोर्जेत्वा' अग्निमीले पुरोहितं, 'अग्न आ-याहिवीतये' इति। यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसञ्ज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषाम-प्युदाहरणमदात्। अतएव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि" इति, सोऽस्य महामोहः। प्रतीकानिति वक्तव्ये नपुंसकोक्तिर्वक्तुर्वैदुष्यस्तैव्यमेव सूचयति। किञ्च नहि वैदिकोदाहरणतया भाष्यकारेण न धृतानि ब्राह्मणवाक्यानीत्येतावतैव तेषा-

यही होगाकि "ब्राह्मण ग्रन्थ, वेद नहीं हैं, वेदवाक्यों को धरके व्याख्यान रूप होने से" सो यह हेतु भी व्याप्यत्वासिद्ध है क्योंकि इस में स्मर्यमाण कर्त्तृकत्व और रागवत्पुरुषकर्तृकत्व (रागी पुरुषका बनाया हुआ होना) ये दो उपाधियां विद्यमानहैं ऐसा हेतु साध्यसाधक नहींहोता यहपूर्वभी कहचुकेहैं यह शङ्का हो सकती है कि "जब वेदमन्त्रों की प्रतीकें धरके ब्राह्मणों ने व्याख्यान किया है तो ब्राह्मणों को वेदों के पीछे ही कालमें मानना चाहिये अर्थात् जो वेदों से पीछे बने हैं तो वेद नहीं हो सकते,, परन्तु यह शङ्का निर्मूल है- क्योंकि संहिता मन्त्र भी तो क्रम से ही एक दूसरे के बाद ही उच्चरित होते हैं- उन में भी पूर्वापर भाव लगा हुआ है तो क्या वेद व्यवस्था करते हुए यह कहियेगा कि पीछे के मन्त्र वेद ही नहीं?। आगे मुण्डी महात्मा लिखते हैं "महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने वैदिक शब्दों के उदाहरण देते समय चार वेदों के ही प्रतीक-मन्त्रभाग दिये हैं, ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य नहीं, यदि भाष्यकार ब्राह्मणों को भी वेदसंज्ञा मानते हैं तो अवश्य उनके भी आदि वाक्य लिखते" यह भी मुण्डी का व्यामोह

मवेद त्वसिद्धिः । अन्यथा संहितास्थानामप्यन्येषामनिर्दिष्टवाक्यानां वेदत्वानुपपत्तेः । न च संहितानामाद्यमन्त्रस्य प्रतीकत्वेनोपस्थापितत्वात् तद्घटितानां तासामनन्वयेन वेदत्वसिद्धौ ब्राह्मणेषु कस्यापि वाक्यस्यानिर्देशात् कथमिवतेषां वेदत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । निखिलब्राह्मणस्य तत्तत्संहितोत्तरभागरूपतया संहितासन्दर्भारम्भेण विशिष्टायाः सब्राह्मणोपनिषत्कायाः संहितायाः प्रदर्शनस्य सिद्धत्वादिति । यच्च प्राह पुण्यपुरुषः-"किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव घटन्ते कुतः तेष्वीदृशपाठव्यवहारदर्शनात्" इति तदसारम् । यजुःसंहितायाश्चतुर्विंशतितमेऽध्याये 'उक्ताः सञ्चरा एताः शुनासीरीयाः' इत्यादि पशूनां बहूनां सर्प, व्याघ्र, मृगादीनां अन्येषां पक्षिणाञ्च नामोत्कीर्तनस्याऽसकृद्दर्शनात् । सर्वथाप्ययं स्वातन्त्र्यमेव बिभर्ति लुब्धो । यदप्युक्तम्- " 'द्वितीया ब्राह्मणे' अ० २ पा० ३, 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' अ० २ पा० ३ 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' अ० ४ पा० ३, इत्यष्टाध्यायीसूत्राणि । अत्रापि पाणिन्याचार्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदनैव प्रतिपादनं कृतम् । तथा पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्मादृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति, अतएवैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञाकृतास्ति

है, एक अर्थव्यामोह ही नहीं किन्तु लिखते २ शब्द में भी गड़बड़ी कर जाते हैं "प्रतीकान्" ऐसा पुंल्लिङ्ग शब्द कहना चाहिये था पर आप "प्रतीकानि" नपुंसक लिखकर अपनी पण्डिताई की नपुंसकता दिखा रहे हैं । अस्तु । विचारने की बात है-क्या ब्राह्मणग्रन्थों के वचन, भाष्यकार ने उदाहरण में नहीं रक्खे- इसी लिये ब्राह्मण अवेद होजायंगे । जिन वाक्यों को भाष्यकार बतलावें, वही वेद होते हैं ऐसा मान लिया जाय तो अन्य संहितास्थ वाक्य भी अवेद होजायंगे ? । यह कहना अयुक्त है कि "संहिताओं के पहले २ मन्त्रवाक्य भाष्यकार ने दिये हैं— इस लिये उन मन्त्रवाक्यों से घटित संहिताभाग को तो वेदत्व सिद्ध ही है परन्तु ब्राह्मण भाग को नहीं" क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ, सब संहिताओं के उत्तरभागरूप हैं- इस लिये संहिता मन्त्रप्रतीक रख देने से ब्राह्मण, उपनिषत् सहित-समग्र संहिता का बोध सिद्ध होजाता है । आगे महात्मा ने लिखा है कि "गौरश्वः" इत्यादि भाष्यकार प्रदर्शित उदाहरण ब्राह्मण ग्रन्थों में ही घटते हैं" यह भी निःसार लेख है क्योंकि यजुर्वेद के २४वें अध्याय में बहुत से पशु, पक्षी, सर्प, व्याघ्र आदि

यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽभीष्टा भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्। कुतः द्वितीया ब्राह्मणे इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात्। अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञाऽस्तीति।" इति, तत्सर्वंपाणिनव-गतव्याकृतितत्त्वस्यैव चेष्टितम्। तथाहि 'द्वितीया ब्राह्मणे' ब्राह्मणविषये प्रयोगे व्यवहृपणिमनात्वर्थस्य दीव्यतेः कर्मणि द्वितीया विभक्तिर्भवति। 'गामस्यतदहः सभायां दीव्येयुः' इत्यत्र शतस्य दीव्यतीत्यादिवत् "दिवस्तदर्थस्य" इति सूत्रेण गास्स्येति षष्ठीप्राप्तौ गामस्येति द्वितीया विधीयते। अत्र ब्राह्मणात्मकवेदैकदेश एव द्वितीयेष्टा, ननु मन्त्रब्राह्मणात्मके त्वदभिमतश्रुतिच्छन्द आम्नाय निगमवेदादिपदव्यपदेश्ये सर्वत्रेति युक्तमुत्तरसूत्रे "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसी"त्यत्र मन्त्रब्राह्मणरूपे छन्दोमात्रविषये चतुर्थ्यर्थे षष्ठीविधानम्। 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसः, पुरुषमृगश्चन्द्रमसे' इति अत्रहि छन्दसीत्यभिधानेनाचार्यः सङ्गृह्णाति मन्त्रब्राह्मणरूपं सकलमेव वेदमिति। यच्चोक्तं-"अन्यच्च कात्यायनेनापि ब्राह्मणावेदेन सहचरितत्वात् सहचरोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा स्क्रियतेति विज्ञायते। एवमपि न सम्यगस्ति; कुतः, एवं तेनानुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्। अनेनापि न ब्राह्मणानां

बार २ गिनाये हैं। क्या कहें! स्वामी जी सर्वथा स्वतन्त्र ही विना विचारे लिख देते हैं। आगे आप कुछ अष्टाध्यायी के सूत्र लिख कर लिखते हैं कि "इन सूत्रों में भी पाणिनि आचार्य ने वेद और ब्राह्मण को भिन्न २ ही माना है, यदि छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेदसंज्ञा इष्ट होती तो "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" इस पाणिनि सूत्र में छन्दोग्रहण व्यर्थ होता, क्योंकि "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र से ब्राह्मण शब्द चला ही आता, इस से जाना जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं है,, यह सब व्याकरणशास्त्र के तत्त्व को न जानने वाले स्वामी की चेष्टा है। क्योंकि 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' इस सूत्रमें छन्दोग्रहण से मन्त्र ब्राह्मण दोनों लिये जाते हैं और 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में केवल ब्राह्मण का ग्रहण है इत्यादि- बातें वैयाकरण लोग जानते हैं। आगे लिखा है कि "कात्यायन मुनि ने भी वेद सहचारी होने से ब्राह्मणों को वेद माना है अर्थात् सहचार उपाधि से ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा की है- परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि उसने ऐसा कहा ही नहीं तथा अन्य ऋषियों ने इस प्रकार ग्रहण नहीं किया०

वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादि बहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम्,, इति तदस्य गगनकुसुमायितम् । क एवं वैदिकः प्रतिपादितवान्, यत् कात्यायनोऽभिधत्ते—"सहचारोपाधिना ब्राह्मणानां वेदसंज्ञासम्मता,, । इति किञ्च यदयं सर्वथाप्यनधिगतशास्त्रतत्त्वोऽननुष्ठिताचार्यकुलवासोऽभिधत्ते "अन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्,, इति तदप्यस्य वैदुष्यं स्पष्टमेव प्रकटयति । ब्राह्मणानां वेदभावस्य सर्वर्षिसम्मतत्वं निरूपितमस्माभिः प्रागेव । एवञ्च "किञ्चभोः । ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नेति । अत्र ब्रूमः । नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावात् तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति । परन्तु सन्ति तानि परतःप्रमाणयोग्यान्येव,, इत्यस्य सर्वशास्त्रविपरीतोऽयमुपसंहारोहास्यास्पदतायामेनमेवोपसंहरति । ब्राह्मणप्रमाणस्य मन्त्राविशेषेणाऽसकृद्दर्शितत्वात् । अतएव पुराणप्रामाण्यव्यवस्थापनप्रसङ्गेन "प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते,, इत्याहस्मवात्स्यायनः । ब्राह्मणानां स्वतः प्रामाण्यविरहे कथमिव परकीयप्रामाण्यबोधकता सम्भवस्तेषामिति । तस्मात् श्रुतिवेदशब्दाम्नायनिगमपदानि मन्त्रभागमारभ्योपनिषदन्तानां बोधकानीतिशास्त्रविदां परामर्शः इति ॥

इति वेदसंज्ञाविचारः ॥

इत्यादि,, यह भी आकाश में कुल्ला किया है अर्थात् व्यर्थ की बकवाद है। किस वैदिक ने यह प्रतिपादन किया है कि कात्यायन यह कहता है कि सहचारोपाधि से ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा संमत है? शास्त्रतत्त्व को न जानने वाले और आचार्यकुल में दीक्षा प्राप्त न करने वाले स्वामी का यह कथन कि 'अन्य ऋषियों ने ब्राह्मणों का वेदत्व नहीं माना' इसकी विद्वत्ता को स्पष्ट प्रकट कर रहा है। ब्राह्मणों का वेदभाव सब ऋषियों को संमत है यह बात हमने पहले ही बतलादी है। अगले ग्रन्थका उपसंहार तो स्वामी जी अपनी हँसी के लिये अपना ही उपसंहारक है। क्योंकि ब्राह्मणों की प्रमाणता निराबाध है-यह पूर्व बार २ दिखा चुके हैं। इसी लिये पुराणों की प्रमाणता व्यवस्थापन के प्रसङ्ग में वात्स्यायन मुनिने कहा है कि "प्रमाणभूत ब्राह्मणग्रन्थों से ही इतिहास पुराणों को प्रमाणता है,, यदि ब्राह्मणों को स्वतः प्रमाणता न होती तो पुराणादिकों की प्रमाणता के बोधक वे कैसे

समझे जाते । इस लिये शास्त्रोंका विचार यही है कि "श्रुति, वेद, आम्नाय निगमादि पद, मन्त्रभाग से लेकर उपनिषद्पर्यन्त ग्रन्थों के बोधक हैं ।

इति शिवम् ।

इति भूमिकाभाष्यस्य पूर्वभागः समाप्तः ।

शुभम्

❀ श्रीहरिश्शरणम् ❀

भूमिकाभासस्योत्तरभागः

अग्रिमप्रकरणद्वयेन ब्रह्मविद्यावेदोक्तधर्मश्चनिरूपितः। तत्रनास्त्यस्माकं किञ्चिद्विशिष्टं वक्तव्यम्। नास्त्येतद् विवादास्पदीभूतं, यद्वेदेषुब्रह्मविद्यास्तिनवेति। नापिवेदोक्तधर्मनिरूपणं निरुद्ध्यतेकेनापि। परंतत्रतत्रशास्त्रसिद्धान्तं सर्वथाप्युपेक्ष्य स्वकल्पितार्थनिरूपणमेव शास्त्रैकसन्मार्गप्रवृत्तानांविदुषांदुनोतिचेतांसि। खिन्नमनस्कैरस्माभिरप्यत एवदूरतःपरिहर्तव्यो दुर्जनस्यसमागमः, इतिन्यायमनुसरद्भिरापाततएवकानिचिद्वाक्यानिततः समुद्धृत्य प्रकृतएवार्थोऽनुसरिष्यते। तथाहि—"समानीव आकूतिः" इतिऋचोव्याख्यानावसरे(समानमस्तुवोमनः) इतिप्रतीकं धृत्वा"अत्रप्रमाणम्—"कामः संकल्पो विचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मनएवतस्मादपिपृष्ठत उपस्पृष्टोमनसा विजानाति" इत्युक्तम्। अत्रोच्यते— कस्मिन्नर्थे समुपन्यस्तमिदं प्रमाणम् मनसःसाम्ये? मनसिवा। नाद्यः, अत्रवाक्येतस्यार्थस्यानिरूपणात्। नान्त्यः,प्रकरणविरोधात्। नहिमनः स्वरूपनिरूपणमत्र प्रक्रान्तमस्ति। अपिच 'शुभगुणानामिच्छाकामः, इत्युक्तमपिनयुक्तम्। शुभेतरगुणानामि-

आगे के दो प्रकरणों से ब्रह्मविद्या और वेदोक्तधर्म का निरूपण किया है। इस विषय में हमें कुछ विशेष नहीं कहना है। यह कोई विवादास्पद बात नहीं है कि वेदों में ब्रह्मविद्या है या नहीं? वेदोक्तधर्म निरूपण के लिये भी कोई रुकावट नहीं है। पर इतना ज़रूर है कि स्थले स्थले शास्त्र सिद्धान्तकोछोड़ दिया और अपने कल्पित अर्थको बतलाया यही बातशास्त्रानुसारी विद्वानों के चित्तों को दुखाती है। इसी लिये हमें भी खेद होता है अतः स्वामी दयानन्द के कछवाक्यों का उद्धरण करके प्रकरण परिप्राप्त अर्थ का अनुसरण किया जायगाः—

"समानीव आकूतिः" इस ऋचा के व्याख्यान के समय "समानमस्तुवो मनः,इस प्रतीक को धरके" कामः संकल्पो०"इत्यादि प्रमाण लिखा है। इनसे पूछना चाहिये कि यह प्रमाण किस विषय में दि ा है! मनकी समता में या मनमें? पहलापक्ष इस लिये ठीक नहीं कि उसवाक्य में मनकी समता का निरूपण ही नहीं किया गया द्वितीयपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि प्रकरण का विरोध है। यहां पर मनके स्वरूप का निरूपण उपक्रान्त नहीं है। काम

च्छायाअकामत्वापत्तेः । इच्छामात्रंकामपदाभिलप्यमभिमतं शास्त्रविदाम् । किञ्च 'पूर्वंसंशयं कृत्वापुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो विचिकित्सा" इति विचिकित्सालक्षणं तु दयानन्दस्यैव शोभते । पश्यन्तुसुधियोऽपि ! तत्रैवविकया चनिभालयन्तुयत् 'ईश्वरधर्माद्युपरि सदैवनिश्चयरक्षणं" इति कीदृशोऽयं-लोकभाषायाः साधीयाननुवादः । किंबहुना पदवाक्यप्रयोगपरिपाट्यनभि-ज्ञस्याधिकप्रत्याख्यानेन । किञ्चयदुक्तम् "अन्यच्च- चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्मः ॥ अनयोरर्थःवेदद्वारायासत्यधर्मविरक्षस्य प्रेरणास्ति तयैवसत्यधर्मोलक्ष्यते । योऽनर्थादधर्माचरणाद् बहिस्त्यक्तो धर्मा-दर्थात्लब्धार्थोभवति" अत्रवाक्ये 'धर्मादर्थालब्धाऽर्थौभवतो, इत्यस्याभिप्रायो नाऽस्माभिरवगतः । इयमेवग्रन्थादौ प्रतिज्ञाता दयानन्दस्य पुरातनीव्याख्याशैली किञ्चइष्टसुखंसम्यक्प्राप्तंभवत्यत्रसुखस्यइष्ट तिविशेषणंकिम्प्रयोजनकम्? अनिष्ट-मपिकिञ्चित्सुखमभिमतं किंदयानन्दस्य? अलंपल्लवितेन, दिग्दर्शनमात्रमस्मा-कमेतत् विद्वांसःसदसद्विवेकशालिनः स्वयमेवविवेचयितुं प्रभवन्ति इति ।

का यह लक्षण कि "शुभगुणानामिच्छा कामः" अर्थात् शुभगुणों कीइच्छा का नाम काम है, इस लिये ठीक नहीं कि अशुभगुणों की इच्छा का नाम काम, ही न रहेगा ? शास्त्रवेत्ता लोग इच्छामात्र को काम समझते हैं । आगे आपने विचिकित्सा का बहुत बढ़िया लक्षण किया है आप फर्माते हैं पूर्व संशय करके निश्चय करने की इच्छा ही संशय वा विचिकित्सा है ऐसालक्षण दयानन्द को ही शोभा देता है ! विद्वान् लोग विचारें जरा गहरी निगाहसे देखें आगे कैसा लेख है "ईश्वरधर्माद्युपरिसदैव निश्चयरक्षणम्" यह कैसा लोकभाषा का सुन्दर अनुवाद है ! पदवाक्यों के प्रयोग की परिपाटी को नजानने वाले का कहां तकखण्डन किया जाय ।

"चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः- यहां से लेकर भवति" तक संस्कृत वाक्यावलि है उसमें 'धर्मादर्थं लब्धाऽर्थौ भवति, इसवाक्य का अर्थ लाख कोशिश करने परभी हमारी समझमें नहीं आया । यही ग्रन्थ के आदि में प्रतिज्ञात स्वामीजीकी पुरानी शैली है ! अफसोस !! "इष्टसुखं सम्यक् प्राप्तम्" इसवाक्य में सुखका विशेषण 'इष्ट, पद किसलिये संनिविष्ट है क्या स्वामी जी कोई अनिष्ट भी सुख मानते हैं ? अधिक विस्तार करना अनावश्यक है । विद्वान् लोग स्वयं विचारें ।

अतः परं सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतो निरूपितो दयानन्देन। तत्रास्मा-कमपि किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति। तथाहि-" नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् " इत्यादयः कतिचन मन्त्राः समुद्धृताः सन्ति पूर्वम् ततः-" एतेषामभिप्रायार्थः यदिदं सकलं जगद् दृश्यते तत् परमेश्वरेणैव सम्यग्रचयित्वा संरक्ष्य प्रलयावसरे वियोज्य च विनाश्यते पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति। (नासदासी०, यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत् सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत्। कुतः। तद्व्यव-हारस्य वर्त्तमानाभावात्" इत्युक्तम्। अत्रोच्यते-मन्त्रपदे 'न असत् आसीत् तदानीं ' मित्येव प्रतिपादितम्। तत्र ' असदि ' त्यस्य ' शून्यमाकाशमपि नासीत्, इत्यर्थः कुत उपात्तो भवता। किन्तु कारणस्वरूपनिरूपणपरा श्रुति-रियम्। नासदासीदित्यनेन सृष्टेः प्राक्तस्यासत्त्वं निषेधति। सर्वस्या अपि श्रुते-र्यथार्थं तथाग्रे विधास्यते। 'यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत् तदा, इत्युक्तेऽपि, सृष्टेः प्रागिति कथनं निष्फलमेवाभाति, तदेति सर्वनाम्नैव निरुक्तार्थस्य गतत्वात्। तस्माद्वा एतस्मादित्यादिश्रुतिव्याख्यानावसरे स्वग्रन्थेष्वेव बहुत्र गगनस्य पारमार्थिकीं सत्तां नित्यतां चाङ्गीकृत्यात्र तस्यैव प्रकृतमनाहत्य तुच्छतां प्रतिपादयन् 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' तिलोकोक्तिं चरितार्थयति स्वबुद्धिकौशलमविचलितमतिमतां तुच्छतां चात्मनो यथायथं परिचाययति। प्रलयकाले तदसत्त्वे प्रमाणं प्रदर्शयति-' तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभा-वात्' इति। अहो धाष्टर्यम् मुण्डिनः--व्यवहाराभावमात्रेण यदयं वस्तुनस्तुच्छतामभि-

इसके बाद संक्षेपसे सृष्टि विद्या विषय का निरूपण किया है। उस विषय में भी हमें कुछ वक्तव्य है:—

" नासदासीत् ० " इत्यादि कई मन्त्र पूर्व उद्धृत किये हैं फिर उनका अभिप्राय बतलाया है "एतेषाम् - ग्रन्थ से लेकर मावात्" तक सब विचारना चाहिये कि मन्त्रमें न, असत्, आसीत्, तदानीम्, इत्यादि पद हैं। उनमें 'असत्' पद का शून्य या आकाश अर्थ कहां से आगया। देखिये यह श्रुति, कारण के स्वरूपको बताती है, 'नासदासीत्, इससे सृष्टिसे पूर्व जगत् के अभाव का निषेध किया है। सम-ग्रश्रुति का अर्थ आगे किया जायगा। ०००" तस्माद्वा०, इत्यादि श्रुतियों के व्याख्यानावसर में अपने ही सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में आकाश को पारमार्थिक और नित्य मानना और यहां उसे तुच्छ बताना "मुख है इसलिये दश हाथ की हड़ होती है " ऐसी लोकोक्ति को चरितार्थ करना है।

धत्ते । तथा सत्यात्मनोऽप्यसत्त्वं स्यात्, कीदृशस्यापि व्यवहारस्य तदीयस्य तदानीमसत्वात् । किञ्च-"(नो सदासीत्तदानीं) तस्मिन्कालेसत्प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्नावर्त्तत (नासीद्र०) परमाणवोऽपिनासन् (नोव्योमा परोयत्) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोऽपि नो आसीत् किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत (किमावरीवः) यत्प्रातः कुहकस्यवर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति । यथानैतत् जलेन पृथिव्यावरणं भवति नदीप्रवाहादिकं च चलति । अतएवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किंभवति । नेत्याह किंत्वावरीवः । आवरकमाच्छादकं भवति नैव कदाचिदत्यन्तल्पत्वात् तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति तच्छुद्धे ब्रह्मणि किं गहनं गभीरमधिकं भवति । नेत्याह । अतस्तद् ब्रह्मणःकदाचिन्नैवावरकं भवति । कुतः । जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद् ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च ॥ १ ॥ इति प्रथममन्त्रस्य व्याख्यानमुपदर्शितम् । एवंच सर्गात् प्राक् जगन्मूलकारणभूता प्रकृतिरपि नासीत्, परमाणवोऽपिनासन्, विराडपिनाभूत् । केवलं शुद्धं ब्रह्मैवाभूत्, इति मन्त्राशयं प्रदर्शयतो दयानन्दस्याभिमत एव मायावादः, अभिमन्तव्यश्च सः । मान्त्रवर्णिकत्वादिति । किञ्चात्र मन्त्रबलेन प्रलयकाले प्रकृत्यादीनामभावं प्रतिपादयन्नन्यत्र च स्वनिर्मितेषु सत्यार्थप्रकाशादिग्रन्थेषु किमिति

परस्परविरुद्ध लिखना अपनी तुच्छता काही परिचायक है । प्रलय काल में प्रकाश के न होने में-देखिये-क्या अजीबहेतु दिया है " उससमय-आकाश व्यवहार नहीं था ,, स्वामी जी की धृष्टता देखी । व्यवहाराभावमात्र से वस्तु की तुच्छता का प्रतिपादन कर रहे हैं, यदि ऐसाही मान लिया जाय तो उस समय आत्मा का व्यवहार न होने से आत्मा का भी असत्व मानना पड़ेगा । क्योंकि आत्मा का भी उससमय किसी प्रकार का व्यवहार नहीं था ॥

" नो सदासीत्तदानीं ,, यहां से अनन्तत्वाच्च ,, यहां तक संस्कृत देखजाइये । यही इस मन्त्रकी व्याख्या है । इस व्याख्या में यह लिखा है कि सृष्टि से पूर्व जगत् की कारण भूत प्रकृति भी नहीं थी, परमाणु भी नहीं थे, विराट् भी नहीं था, था केवल शुद्धब्रह्म इस आशय का मन्त्रार्थ

नित्यत्वेन महत्या रभस्या निरुक्तान् पदार्थान् न्यरूपयत् । एवं 'मम मुखे नास्ति जिह्वा' 'माता मे वन्ध्या' इतिवद् वदतो व्याघातएव दयानन्दस्य । गौतमकपिलादिमहर्षिप्रणीतानि शास्त्राणि च वेदविरुद्धत्वात् हेयताभुपगतानि, तत्र महता प्रयत्नेन सर्वस्य जगतो मूलकारणभूतानां नित्यानां प्रकृतिपरमाणवादीनां पदार्थानां निरूपणात् । वस्तुत स्वयं मुण्डी तत्त्वार्थमेवोक्तस्य मन्त्रस्य नाधिगतवान् । अतएव (किमावरीवः) इति प्रतीकं धृत्वा 'किमावरीवः कुहकस्ये'ति मन्त्रपदे 'कुहक'मिति एकं पदमभिमत्य तस्मात् षष्ठीप्रत्ययं स्वीचकार । शीतकाले प्रभातपतनीयस्यतुषारस्य 'कुहक' इति संज्ञां निरुक्तार्थवाचकस्य 'कुहरा' इति लोकप्रसिद्धशब्दस्य साम्यमुपादायैव प्रतिपादयामासेति स्थितं प्रतीमः । यतो नक्वाभिधानिकस्य कस्यचित्साहृशं वाक्यमुपलभामहे, येन तुषारापरपर्यायता दयानन्दकपोलकल्पितस्य 'कुहक' पदस्य प्रतीयेत । यदि क्वचित्केनचित् दयानन्दमतावलम्बिनोक्ता कुहकव्याख्या समुपलब्धा स्यात्, तदा तद्बोधनेनावश्यमनुग्राह्या वयम् । यतो हि सप्तद्वीपावसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः इत्यादि भूयसिशब्दविषये सम्भाव्यत

प्रदर्शन करने वाले दयानन्द को मायावाद इष्ट ही है । और वही मन्तव्य है क्योंकि मन्त्राक्षरों से प्रतीत होरहा है । यहां तो मन्त्रबल से प्रलयकाल में प्रकृति परमाणु आदि का अभाव बता रहे हैं और फिर अन्यत्र अपने बनाये सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में बड़ी तूलतवील के साथ क्यों प्रकृत्यादिकों को नित्य बता रहे हैं ? क्या यह "मेरे मुख में जिह्वा नहीं है, अथवा मेरी माता वन्ध्या है" इस लोकोक्ति की तरह वदतो व्याघात नहीं है ? अब तो जिन गौतम कपिलादि महर्षियों के बताये शास्त्रों के प्रमाण मानते थे वे सब त्याज्य होगये । उन शास्त्रों में तो बड़े जोर से परमाणुवाद और प्रधानवाद का नित्यभाव से निरूपण किया है और जगत् का मूल कारण मानाहै । सच पूछो तो स्वामीजी ने उक्त मन्त्र का असली अर्थही नहीं समझा, इसी लिये 'किमावरीवः कुहकस्य' इस मन्त्रपद में कुहक शब्द को एकपद मानकर उससे षष्ठी विभक्तिकी है । शीतकालमें प्रातःकाल पड़नेवाले तुषार की 'कुहक, यह संज्ञा, लोकप्रसिद्ध 'कुहए, शब्द को देख कर ही की मालूम होती है । क्योंकि किसी कोशकार ने 'कुहक' का तुषार अर्थ किया

एवैकेनाऽनुपलब्धस्यार्थस्यापरेण प्राप्तिरिति । तथाच 'यस्मात् कुहकस्यावर्णा-काले०-इत्यारभ्य यावत्तमन्त्र मन्त्रव्याख्याने सर्वं तदज्ञानविजृम्भितमात्रम् । अहो ! महदाश्चर्यकरी सनातनी दयानन्दस्य ग्रन्थादौ प्रतिज्ञाता व्याख्या-रीतिरियम् । सकरोत्त्वपं सुधैवमुनीनामृषीणां चामलस्यमुच्चैः समुद्घोषयति । रे ! येषां कृपाकटाक्षेण अनवरतश्रमेण च जगतां हृदि विराजते भारतधर्मगौ-रवम्, त एव ऋषयो वा मुनयो वा पूर्वाचार्या वाऽपिकिमिति वैधर्मिकैर्देशि-कैश्च हास्यास्पदतां स्वकृत्यैर्नीयन्ते त्वया । किं बहुना-सदसद् विवेकशालि-नो विशालशेमुषीकाः कवय एवात्र विचारयितुमर्हन्तीति ।

मन्त्रार्थस्तु:—'नासदासीदिति'-अग्रे सृष्टिः प्रतिपादयिष्यते; अधुनाततः प्रागवस्था निरस्तसमस्तप्रपञ्चा या प्रलयावस्था सा निरूप्यते— तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतोमूलकारणं तन्नासत् शशविषाणवन्निरुपा-ख्यं नासीत्, नहि तादृशात्कारणादस्य सतोजगत उत्पत्तिः सम्भवति । तथा नो सत् नैव सत् आत्मवत्सत्त्वेन निर्वाच्यमासीत् । यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति, तथापि भावाभावयोस्तु सहावस्थानमपि न सम्भवति कुतस्तयोस्तादात्म्यमित्युभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः । ननु मो

ही नहीं है, जिससे दयानन्दको कपोलकल्पित अर्थ मान लिया जाय। यदि किसी दयानन्दी ने कहीं आकाश वा पातालमें कुहक शब्दकी वैसी व्याख्या उपलब्ध की हो तो कृपा कर हमें भी वह बतावे। ऐसी व्याख्या से समझ सकते हैं कि यह मोह माया है। यही स्वामी जी की प्राचीन मुनियों की शैली है। जिसकी इतनी डुगडुगी पीटी जाती है? जिन महात्मा मुनियों के कृपाकटाक्ष से और निःसीम परिश्रम से लोगों के हृदय में भारतीयधर्म का गौरव आज भी देदीप्यमान होरहा है, उन्हीं ऋषियों वा पूर्वाचार्यों की हंसी क्यों करवाते हो ?

मन्त्र का वास्तविक अर्थ यह है :-

"नासदासीदिति" आगे सृष्टि का प्रतिपादन किया जायगा, अब सृष्टि से पहली अवस्था अर्थात् प्रपञ्च रहित प्रलयावस्था का निरूपण किया जाता है (तदानीम्) प्रलयदशा में, इस जगत्का मूल कारण वस्तु (असत् न आसीत्) शशविषाण (खरगोश के सींग) के तुल्य तुच्छ पदार्थ नहीं था क्योंकि ऐसे कारण से इस विद्यमान जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? (न सदासीत्)

सदिति पारमार्थिकसत्त्वस्य निषेधो यदि, तर्ह्यात्मनोऽप्यनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गः अथोच्यते "न आनीदवात" मिति तस्य सत्त्वमेव वदयते, परिशेषान्मायाया एवात्र सत्त्वं निषिध्यते इति, एवमपि तदानीमिति विशेषणानर्थक्यं, व्यावहारिकदशायामपि तस्याः पारमार्थिकसत्त्वाभावात् । अथ व्यावहारिकसत्त्वस्य निषेधः, एवमपि व्यावहारिकसत्तायाः पृथिव्यादीनां भावानां तदापि विद्यमानत्वात् कथं नो सदिति निषेधः । एवं प्राप्ते आह–'नासीद्रज इत्यादि' । लोका रजांस्युच्यन्ते इति यास्कः । अत्र च सामान्यापेक्षया एकवचनम् । व्योमनो वक्ष्यमाणत्वात् तस्याधस्तनाः पातालादयः पृथिव्यन्ता नासन् इत्यर्थः । तथा व्योमाऽन्तरिक्षं तदपि नो नैवासीत् । पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्त्तते, परशब्दाच्छान्दसस्तातेरर्थे असिप्रत्ययः । परो व्योम्नः परस्तादुपरिदेशे द्युलोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यदस्ति तदपि नासीदित्यर्थः । अनेन चतुर्दशभुवनगर्भं ब्रह्माण्डरूपं निषिद्धं भवति । अथ तदावरकत्वेन पुराणेषु प्रसिद्धानि यानि वियदादिरूपाणि भूतानि तेषामवस्थानप्रदेशं तदावरणनिमित्तं चार्त्तपनुखेन क्रमेण निषेधति- 'किमावरीवरिति' । किमावरणीयं तत्वं आवरकभूतजातं आवरीवः अत्यन्तमावृणुयात्, आवार्याभावात्तदावरकमपि नासीदित्यर्थः । वृणोतेर्यङ्लुगन्ताच्छान्दसे लङि तिपि रूपमेतत् । यद्वा– 'किमिति' प्रथममेव किं तत्त्वमावरकमावृणुयात्, आवार्याभावात्, आव्रियमाणवत्तदपि स्वरूपेण नासीदित्यर्थः । 'कस्यशर्मन्' कस्य वा भोक्तुः जीवस्य शर्मणिसुखे सुखदुःखसाक्षात्कारलक्षणे वा निमित्तभूते सति तदावरकं तत्त्वमावृणुयात् । जीवानामुपभोगार्थोहि सृष्टिः, तस्यां हि सत्यां ब्रह्माण्डस्य भूतैरावरणं प्रलय·

न सत् आत्मा के तुल्य, सत्त्व से निर्वचन योग्य भी नहीं था इस लिये भावाभाव दोनों से विलक्षण, अनिर्वचनीय ही था । यदि 'नो सत्, शब्द से पारमार्थिक सत्ता का निषेध किया जाय तौ आत्मा भी अनिर्वचनीय मानना पड़ेगा, इस लिये आगे लिखा है ' न आनीदवातम् ' अर्थात् आत्मा का सत्त्वनिषिद्ध नहीं है किन्तु माया की सत्ता निषिद्ध है । " तदानीम्- उस समय " यह विशेषण इस लिये दिया है कि पारमार्थिक सत्तातो माया की व्यवहार दशामें भी इष्ट नहीं है परन्तु कदाचित् आशङ्का होकि पृथिवी आदि की व्यावहारिकसत्ता उस समय थी, इसी लिये फिर लिखा है "नासीद्रजःइत्यादि" अर्थात् लोकलोकान्तर भी नहीं थे

दशायां च भोक्तारो जीवा उपाधिविलयात् प्रविलीना इति कस्य कश्चि-दपि भोक्ता न सम्भवति इत्यावरणस्य निमित्तत्वाभावादपि तन्न घटते इत्यर्थः। एतेन भोग्यप्रपञ्चवत् भोक्तृप्रपञ्चोऽपि तदानीं नासीदि-त्युक्तं भवति। यद्यपि सावरणस्य ब्रह्माण्डस्य निषेधेन तदन्तर्गतमप्सत्त्वमपि निराकृतं तथाप्यापो वा इदमग्रे सलिलमासीदित्यादिश्रुत्या कश्चिदपां स-द्भावमाशङ्केत तं प्रत्याचष्टे-अम्भः किमासीदिति-गहनं दुःप्रवेशं गभीरं दुरवस्था-नं अत्यगाधमीदृशमम्भः किमासीत्? तदपि नैवासीदित्यर्थः। श्रुतिरवान्तरप्रलयनिरूपणपरेति।

इतोऽग्रेसमुद्धृतानां मन्त्राणां नमृत्युरासीदित्यादीनां केवल "सर्वं सुगमार्थमेवासर्वं भाष्येवदयामि" इत्युक्तिं विधाय नकश्चिदर्थोऽत्र विहितः। प्रकरणस्यास्य भाष्यस्याविनाकारि। अस्तत्द्विषये नाऽस्माभिर्वक्तव्यं किमपीति। इयं विसृष्टि-रित्यय मन्त्रस्तु व्याख्यातस्तत्रोच्यते। (इयं विसृष्टिः) "यतः परमेश्वरादियं विसृष्टिः प्रत्यक्षा विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्तितांसएवदधे" इत्यादिना ब्रह्मोपादानकत्वं जगतां प्रतिपादयन्नङ्गीकृत एव वेदान्तसिद्धान्तः। तथाचान्यत्रैतत्मन्त्रव्याख्यानप्रतिपिपादयिषयागो

पातालादि पृथिवीपर्यन्त नहीं थ अन्तरिक्ष और उसके ऊपर के लोक कोई भी नहीं थे अर्थात् समस्तब्रह्माण्ड नहीं था इत्यादि मूलसंकृत में विस्पष्ट है इससे आगे स्वामी जीने 'न मृत्युरासीत्. इत्यादि मन्त्रों का उद्धरण करके लिखा है कि 'इनका अर्थ भाष्यमें किया जायगा, इनमन्त्रों का और प्रकरण का कोई भाष्य ही नहीं इस लिये इस विषय में कहा ही क्या जाय! "इयं विसृष्टिः" इस मन्त्रकी व्याख्याकी है "लिखाहैजिस ब्रह्मसे यह प्रत्यक्षभूत अनेक प्रकार की रचना हुई" इत्यादि लेख से पाया जाता है कि जगत् ब्रह्मोपादान-को यह वेदान्त सिद्धान्त अङ्गीकृत है। परन्तु स्थानान्तर में इस वेदान्त सिद्धान्त का खण्डन है येसब गोमय पायसीय न्याय (जैसे कोई गोबर को ही दूधबताने लगे वैसे) का अनुसरण करने वाले स्वामी का व्यर्थ प्रयास है। "परमेश्वरसामर्थ्ये लीना भवति" इन अक्षरों से भी वेदान्त सिद्धान्त ही निकलता है। "अङ्ग वेद" इत्यादि पदोंके व्याख्यान में भी विद्वान् दृष्टि देवें- आप लिखते हैं—'(अङ्ग) हे अङ्गकेतुल्य जीव! (वेद) जो विद्वान् उसे ऐसा जानता है- वह परमानन्द को प्राप्त होता है और जो नहीं जानता

मयपायसीयंन्यायमनुतिष्ठतोस्यमुधैव प्रयासः। अत्रोपादानत्वस्यैव चोपोद्बलकं "प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणेपरब्रह्मणास्थ्य प्रलीनाचभवती" त्युक्तसच्चिदानन्दस्येति। (ऋग्वेद) इत्यस्यव्याख्यानं तु विदुषांदीयमानमवधानमभिलषति; तथाहि-"(ऋग्वेद) हेअङ्गमिवजीवतंयोवेद सविद्वान् परमानन्दमाप्नोति यदितं सर्वेषां मनुष्याणांपरमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद-आनिश्चयार्थे सपरमंसुखमपि नाप्नोति"। अहो विशदीकृतं लोकोत्तरं वैदुष्यं मुण्डिना। कोयंजीवोऽङ्गमिवेति नाद्यावध्यवगत मस्माभिः। विद्वांसएव यथायथं विचारयन्तु। परमानन्दप्राप्तिस्तु विदुषांनास्यमन्त्रस्य प्रतिपादनीयोविषयः। किंबहुना-अस्माकं त्वयमेवार्थोभिमतस्तथाहि-उक्तप्रकारेण यथेदं जगत्सर्जनं दुर्विज्ञानं एवं सृष्टं जगत् तद्धर्ममपीत्याह इयमिति। यतउपादानभूतात्परमात्मनः इयं विसृष्टिः विविधागिरिनदी समुद्रादिरूपेण विचित्रा-सृष्टिः आबभूवजाजाता, सोऽपिकिल यदिवादधेधारयति यदिवानधारयति एवंचकोनामान्यो धर्तुं शक्नुयात् यदिधारयेत् ईश्वरएव धारयेत् नान्यइत्यर्थः

वह परमसुख को नहीं 'पाता, यहां पण्डिताई का खातमा कर दिया है- यदि अपने ही मतानुसार अर्थ करना था तो 'अङ्ग" शब्द को संबोधनार्थ क्यों नहीं रख लिया! आर्य समाज की प्रतिनिधिसभा बतलावें यह अङ्ग तुल्य जीव कौनसा है? अपने अङ्ग की तुल्यता या दूसरे के अङ्ग की जिनको अपनी ही बात याद नहीं रहती वे भाष्य करने बैठे हैं? यहां विशिष्टाद्वैतवाद तो याद नहीं आगया! अजीब माया है! स्वामी जीके ग्रन्थ क्या हैं मदारी की पिटारी है- जो चाहो सोही निकल पड़ता है वस्तुतः इस मन्त्र का प्रतिपादनीयविषय "विद्वानों को आनन्द प्राप्ति नहीं है" किन्तु वास्तविक अर्थ यह है जैसे यह जगत्सृष्टि दुर्विज्ञेय है वैसेइस की अवस्थिति भी- यह बात इस मन्त्र में प्रतिपादित है (इयम्) यह पर्वत नदी समुद्रादिरूपसे वर्तमान सृष्टि, (यतः) जिस उपादान भूतब्रह्म से आबभूव उत्पन्न हुई है वहभी (यदिवादधे इत्यादि) धारण करता है या नही, अर्थात् उसके सिवाय और कौन धारण कर सकता है, यदि धारण कर सकता है तो वही परमात्मा धारण कर सकता है उससे भिन्न कोई नहीं इस कथन से ब्रह्म की उपादान कारणता सिद्ध होती है। इसी लिये भगवान् व्यासने वेदान्त में सूत्र लिखा है "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्"। अ०सू०

एतेन कार्यस्य धारयितृत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मण उपादानकारणत्वमुक्तं भवति तथाचपारमर्षं सूत्रं प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादिति। यद्वाऽनेनार्धर्चेन पूर्वोक्तं सृष्टिदुर्ज्ञानत्वमेव द्रढयतिकोवेदेत्यनुवर्त्तते इयं विविधा सृष्टिर्यतआबभूवआसमन्तादजायतेति कोवेदनकोऽपि नास्त्येवजगतोजन्म कदाचिदनीदृशं जगदिति बहवोभ्रान्ता भवन्त्यपियतः अनिकर्तुः प्रकृति रित्युपादानसंज्ञायां पञ्चम्यास्तसिल् यस्मात्परमात्मन उपादानभूतादाबभूव तं परमात्मानं कोवेद नकोऽपि प्रकृतितः परमाणुभ्योवा जगज्जन्मेति बहवो भ्रान्ताः। तथा सएवोपादानभूतः परमात्मा स्वयमेव निमित्तभूतोऽपिसन् यदि वा दधेविदधे इदं जगत्ससर्ज यदिवानससर्ज। असंदिग्धे संदिग्धवचनमेतत् शास्त्राणिचेत्प्रमाणं स्युरिति यथा। सएव विदधे तं को वेद अजानन्तोऽपि बहवो जडात्प्रधानादकर्तृकमेवेदं जगत्स्वयमजायतेति विपरीतं प्रतिपन्ना विदधतो विधानमजानन्तोऽपि सएवोपादानभूत इत्यपि कोवेद नकोऽपि उपादानादन्यः तटस्थ एवेश्वरो विदधइति हि बहवः प्रतिपन्नाः देवा अपि यं न जानन्ति, तदर्वाचीनानामेषांतत्परिज्ञाने कैव कथेत्यर्थः। यद्येवंजगत्सृष्टिरत्यन्तदुरवबोधना तर्हि साकथं प्रमाणपद्धतिमध्यास्त इत्याशंक्यतत्सद्भावे ईश्वरः वेदं प्रमाणयति-योअस्येति। अस्य भूतभौतिकात्मकस्य जगतो योऽध्यक्ष ईश्वरः परमे उत्कृष्टे सत्यभूते व्योमनि आकाशे आकाशवन्निर्मले स्वप्रकाशे यद्वा

इस सूत्र का वास्तविक अर्थ शाङ्कर भाष्य में द्रष्टव्य है अथवा इस आधी ऋचासे पूर्वोक्त सृष्टि की दुर्ज्ञानता का दृढीकरण किया गया है (इयं-विसृष्टिरित्यादि) जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई उसे कौन जानता है। बहुत से ऐसे भ्रान्त वादी हैं जो कहते हैं कि जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ-किन्तु ऐसे ही चला आता है। बहुत से ऐसे भ्रान्त वादी हैं जो कहते हैं कि प्रकृति या परमाणुओं से जगत् बना है, इनमें से उपादानभूत परमात्मा को कौन जानता है। कोई भी नहीं? वही परमात्मा स्वयं निमित्तबनकर (यदि वा दधे यदि वा न) इस जगत् को उत्पन्न कर चुका है वा नहीं? जैसे "शास्त्र यदि प्रमाण होते" यह असन्दिग्ध अर्थ में सन्दिग्ध वचन है वैसे यह भी है। उसी ने रचा है उसे कौन जानता है? न जानकर ही बहुत से (कापिलादि) वादी कहते हैं कि विना कर्ता केही स्वयं जड प्रकृति से जगत् उत्पन्न होता है बहुत से कहते हैं कि परमात्मा तटस्थ रहता हुआ ही जगत् को पैदा करता है। ऐसे विलक्षण भगवान्

अवतेस्तर्पणार्थादन्येभ्योपि दृश्यन्त इति मनिन् नेड्वशिकृतीतीट्प्रतिषेधः ज्वरत्वरेत्यादिना वकारोपधयो रूठ् सुपत्रया लुक् नङिसम्बुद्ध्योरिति नलोपप्रतिषेधः। व्योमनि विशेषेण तृप्तेनिरतिशयानन्दस्वरूप इत्यर्थः। यद्वा अवतिर्गत्यर्थः। व्योमनि विशेषेण गन्तव्ये देशकालवस्तुभिरपरिच्छिन्न इत्यर्थः। अथवा अवतिर्ज्ञानार्थः, व्योमनि विशेषेण ज्ञातरि विशिष्टज्ञानात्मनि ईदृशे स्वात्मनि प्रतिष्ठितः। श्रूयते हि—सनत्कुमारनारदयोः संवादे-सभगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नीति। ईदृशो यः परमेश्वरः सो 'अंग' अंगेति प्रसिद्धौ सोऽपिनामवेद जानाति यदि वा नवेद न जानाति को नामान्यो जानीयात् सर्वज्ञ ईश्वर एव तां सृष्टिं जानीयात् नान्य इत्यर्थः। इति॥ इतोप्यधिकं जिज्ञासुभिरवलोकनीयमृचां माधवीयं भाष्यमिति।

अथाग्रे आप्रकरणपरिसमाप्तेः पुरुषसूक्तमाचमुदाजहार यजुर्वेदस्य तत्र वेदभाष्यावसरे यारीतिरङ्गीकृता मन्त्रव्याख्यायास्ततोऽन्यैव काचित् भाष्यभूमिकायामभिहिता। ततएव काश्चन मन्त्रव्याख्याः समुदाहरिष्यन्ते विदुषां विनोदाय। तथाहि-पुरुषसूक्तस्य तृतीयो मन्त्रो भाष्यभूमिकायामित्थं व्याख्यातः—

" एतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्चपूरुषः।
पादोस्य विश्वाभूतानित्रिपादस्यामृतं दिवि "। ३

को देवता लोगभी नहीं जानते तो उसके जानने में अर्वाचीन लोग कहां तकसफलप्रयत्न हो सकते हैं। यदि जगत् सृष्टि का जानना अत्यन्त कठिन है तो वह प्रमाण का विषय कैसे है। ऐसी आशङ्का के होने पर जगत् सृष्टि होने में ईश्वर वेद का प्रमाण देते हैं:-"यो अस्य" ति' इस जगत् का जो स्वामी ईश्वर है वह परम (व्योमन्) आकाशवत् निर्मल स्वप्रकाश में अथवा अपने आनन्द स्वरूपमें अथवा देशादि से अपरिच्छिन्नरूपमें अथवा विशिष्टज्ञान रूप स्वात्मा में प्रतिष्ठितहै। सन कुमार और नारद के संवाद में यह श्रुति आती है " सभगवः " इत्यादि। ऐसा परमेश्वर भी जानताहै वा नहीं जानता। दूसरा कौन जानेगा। सर्वज्ञ ईश्वर ही उस सृष्टि को जान सकेगा अन्य नहीं, यह तात्पर्यार्थ है। जिन्हें अधिक देखनाहोवे माधवीय भाष्य देखें।

इसके आगे यजुर्वेद का सभाष्य पुरुषसूक्त है, वेदभाष्य करते समय

(एतावानस्य) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः। एतावानस्य महिमा चत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते। अत्रब्रूते (अतो ज्यायांश्च पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमेति। किं तर्हि? अतोऽप्यधिकतमो महिमाऽनन्तस्य तस्यास्तीति गम्यते। अत्राह—(पादोऽस्य०) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि पृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतानि एकः पादोऽस्ति एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्तते (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति। तथास्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति। प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति। प्रकाशकं च तस्मात् त्रिगुणमिति स्वयं च मोक्षस्वरूपः सर्वाधिष्ठाता सर्वोपास्यः सर्वानन्दः सर्वप्रकाशकोऽस्ति ॥३॥ इति अत्राभिधीयते- निरुक्त मन्त्रव्याख्यायां 'यावान् संसारोऽस्ती'त्यत्र संसारपदवाच्यं किमिति? किं नित्यानित्यं दृश्यादृश्यसाधारणं ब्रह्माण्डरूपम्? उतयावत्कार्यमात्रम्? इति।

जिस रीति का अवलम्बन किया है-उससे भिन्न ही रीति भाष्यभूमि का में मालूम होती है, विद्वानों के विनोद के लिये कुछ मन्त्र व्याख्या उदाहृत करेंगे:--

पुरुष सूक्त का तीसरा मन्त्र भाष्य भूमिका में इस प्रकार व्याख्यात है:-

"एतावानस्ये"त्यादि-

स्वामी जी का मन्त्रार्थ संक्षिप्त रूप से यह है कि-

"इस पुरुष की यह सब संसार महिमा है और इससे बढ़कर भी है, भगवान्के एकदेश में पृथिव्यादि सब कुछ है और इसके अपने स्वरूप में मोक्ष सुख है"।

यहां यह पूछा जासकता है कि इस मन्त्र की व्याख्या में "यावान् संसारोऽस्ति" यहां संसार पद का क्या अर्थ है! नित्य अनित्य दृश्य अदृश्य ब्रह्माण्ड का स्वरूप वा कार्य मात्र?। पहला पक्ष इस लिये ठीक नहीं कि स्वामी जी के मत में नित्य चेतनात्मा और नित्य प्रकृति के विषय में ईश्वर का किसी प्रकार का माहात्म्य नहीं कहा जासकता? क्योंकि परमात्मा प्रकृति या जीवात्मा को बनाता नहीं है। यदि बनावे तो वे अनित्य मानने पड़ें। "सर्वाधिष्ठाता"—सबका मालिक, होना ही इसके ऊपर ईश्वर का

नाद्यः- दयानन्दनयेचिदात्मनां नित्यानां नित्यायाश्च प्रकृतेः सर्वोपादानकारणभूतायाः विषये कीदृश्यापि महिम्नो निरूपयितुमशक्यत्वात् परमात्मनः। नहि परमात्मा जीवात्मानं प्रकृतिं वा निर्मिमीते । तेषामनित्यत्वप्रसङ्गात्। ननु सर्वेशितृत्वमेव माहात्म्यं परमात्मनो नोत्पादकत्वं विनाशकत्वं वेतिचेत्, सत्यं, सर्वेशितृत्वमपि परमात्मनः स्वरूपं ? अथनिर्धर्मके ब्रह्मणि काल्पनिकधर्मापादनम् ? उत वास्तविकधर्मापादनमिति ? स्वरूप वे सर्वशास्त्रसम्मता तत्र धर्माधर्मापेक्षा न सम्भवति। नहि नित्य परिपूर्णाप्रतिशक्ति किंचिद्वस्तु कार्यापादने सहकार्यन्तरमपेक्षते. तथासति स्वरूपनाश एव तस्य स्यात्। उत्पत्त्यादौ धर्माधर्मसापेक्षत्वं च परमात्मनः "वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति" इत्यादि वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणे द्वितीयस्य प्रथमे साधु निरूपितं भगवताबादरायणेन । अत्रैव श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्या अपि- "पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याक्षिप्यते स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य दृढीकरणाय। नेश्वरोजगतः कारणमुपपद्यते। कुतः। वैषम्य-

माहात्म्य है" ऐसा मानना इन तीन विकल्पों से ठीक नहीं। सर्वेशितृत्व ब्रह्म का स्वरूप है वा निर्धर्मक ब्रह्म में काल्पनिक धर्म का आपादान करना है वा वास्तविक धर्म का ? यदि स्वरूप पक्ष माना जाय तो जगत् निर्माणमें सर्वशास्त्रसंमत धर्माधर्म की अपेक्षा न रहेगी, क्योंकि नित्य परिपूर्ण अप्रतिहतशक्ति परमात्मा द्वितीय सहकारी की अपेक्षा नहीं करेगा, यदि दूसरे की अपेक्षा करे तो स्वरूपनाश की प्रसक्ति हो जगत् की उत्पत्ति और प्रलयादि में परमात्मा को धर्माधर्म सापेक्षता है इस बात को भगवान् व्यास ने द्वितीयाध्यायके पहले पाद में वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणमें अच्छे प्रकार निरूपण किया है इसी विषय पर भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने लिखा है "स्थूणानिखनन न्याय से अर्थात् थून काठ को मज़बूत गाड़ने के लिये खोद कर ठीक गाड़ते हैं इसी रीति से अपनी कही हुई बातको पुष्ट करने के लिये-ईश्वर, जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण है- इस पर आक्षेप किया जाता है:- ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्यों कि वैषम्य और नैर्घृण्य दो दोष आते हैं। किन्हीं देवादिकों को अत्यन्त सुखी बनाता है, किन्हीं पशु आदिकों को अत्यन्त दुखी करता है, किन्हीं सुख दुःख भोगने वाले मनुष्यादिकों को बनाता है इस प्रकार विषम सृष्टि बनाने वाले परमेश्वर में

नैर्घृण्यप्रसंगात् । कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन् । कांश्चिदत्यन्त-दुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः । श्रुतिस्मृत्यवधारित-स्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत । तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं नि-र्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात्सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत । तस्माद् वैष-म्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—वैषम्यनैर्घृण्येनेश्वर-स्य प्रसज्येते । कस्मात् सापेक्षत्वात् । यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते, स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यं च । न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते । किमपेक्षत इति चेत् । धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः” । इत्येवमुत्पत्त्यादौ धर्माधर्मावपेक्षमाण-स्य परमात्मनो न निरंकुशत्वमीशितृत्वमिति । न द्वितीयः— “निर्गुणं नि-ष्क्रियं शान्तं निरवद्यं” असङ्गो ह्ययं पुरुषः” इत्यादिश्रुतिशतैर्निर्धर्मके सिद्धे ब्रह्मणि काल्पनिकधर्मापादने तवैव स्वसिद्धान्तादपच्युतेः स्पष्टत्वात् ।

मामूली आदमियों की तरह रागद्वेष मानना पड़ेगा । और श्रुति स्मृति प्रति-पादित स्वच्छतादि ईश्वर के स्वभाव का लोप ही प्रसक्त होगा । और दुष्ट लोग भी जिसकी निन्दा करते हैं ऐसा नैर्घृण्य प्राणियों को दुःखी करने से तथा प्रजा का उपसंहार करने से लगेगा, इह वैषम्य और निर्दयता दोष प्रसङ्ग से ईश्वर जगत् का कारण नहीं होसकता इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं कि- ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं आ सकते क्योंकि धर्माधर्म की अपेक्षा से ही ईश्वर, सृष्टि का निर्माण करता है यदि निर-पेक्ष होकर अकेला ईश्वर सृष्टिका निर्माण करता तो ये दोनों दोष आसकते थे अन्यथा नहीं” ॥ इस प्रकार उत्पत्ति आदि में धर्माधर्म की अपेक्षा रखने वाले परमात्मा को निरंकुश ईशितृत्व नहीं है । द्वितीय पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि “निर्गुणं निष्क्रियम्” इत्यादि श्रुतियों से यद्यपि ब्रह्म निर्धर्म है पर ऐसा मानने से आप अपने सिद्धान्त से गिर जायंगे अर्थात् आपके मत में तो ब्रह्म निर्धर्म नहीं माना गया जगदादि की कर्तृता, परमात्मा में काल्पनिक आप मानते कहां हैं ? आपतो यथार्थ कर्तृता परमात्मा में मानते हैं । तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः निर्धर्मक ब्रह्म में सत्यधर्म का आपादान करना “मेरे मुख में जिह्वा नहीं” इत्यादि वाक्यों के तुल्य अपने

नहि जगदादिकार्यनिरूपितकर्त्तृत्वं कात्स्नर्येन परमात्मनि तवाभिमतम्। तत्र तत्र परमार्थमतएव कर्त्तृत्वस्य परमात्मनि त्वया निरूपणात्। एवं सतीयोऽपि वस्तुतो निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यधर्मापादने 'मम मुखे जिह्वा नास्ति, माता मे वन्ध्या" इत्यादिवाक्यवत् स्पष्टएवस्ववचोव्याघातः। नहि कश्चिदप्यनुन्मत्त एवं समुत्प्रेक्षेतापि। तथाच नित्यानित्यसाधारणदृश्यादृश्यविषया यावद्ब्रह्माण्डगोचरा महिमता कथमपि न सम्भवति भवदभिमते परमेश्वरेऽनुपपत्तेरिति। नान्त्यः— कार्यमात्रंप्रत्यपि महिमतेशितृते न स्वतन्त्रस्य निरपेक्षस्य परमात्मनस्तवाभिमते। युक्तञ्चैतत्:— उच्चावचमधर्मसुखदुःखभेदवत्प्राणभृत्प्रपञ्चं सुखदुःखकारणं सुधाविषादि चानेकविधं विरचयतः प्राणभृद्भेदोपात्तपापपुण्यकर्माशयसहायस्यात्रभवतः परमेश्वरस्य रागद्वेषादिदोषानापत्तेः। तथाचभूतभविष्यद्वर्तमानरूपो यावान् संसारोऽस्ति तावानस्यपुरुषस्य महिमावेदितव्यइति सर्वमेतत्प्रलापमात्रं मुण्डिनः। अस्य मन्त्रस्य यथार्थस्तथाग्रेवक्ष्यते किञ्च 'एतावानस्य महिमाचेत्तर्हि तस्यमहिम्नः परिच्छेदइयत्ता जातेतिगम्यते इत्यादिना तस्य परिच्छिन्नत्वापादनमाशंक्य मन्त्रपदैरेवोत्तरमाह—अत्रब्रूते (अतोज्यायांश्चपूरुषः) नैतावन्मात्र एवमहिमेति। किंतर्हि? अतोप्यधिकतमोमहिमाऽनन्तस्य तस्यास्तीतिगम्यते। इत्येतदपि मुण्डिनोवेदार्थानभिज्ञता-

वाक्यका विघात ही करना है कोई समझदार ऐसे विचार भी नहीं सकता। इस लिये नित्यानित्य समस्त ब्रह्माण्ड विषयक- महिमता आप के माने हुए परमेश्वर में किसी प्रकार भी सुसंगत नहीं हो सकती। अन्त्यपक्ष इस लिये ठीक नहीं कि कार्य मात्र के प्रति महिमता और ईशितृता, स्वतन्त्र निरपेक्ष परमात्मा को तुम्हें अभिमत नहीं। युक्तियुक्त यही बात है कि प्राणियों के धर्माधर्म की अपेक्षा से जगत् को भगवान् पैदा करते हैं इस लिये परमेश्वर में कोई रागद्वेषादि दोष नहीं आसकते। इस लिये "यावान् संसारोऽस्ती"त्यादि मुण्डी का प्रलापमात्र है। इस मन्त्र का यथार्थ अर्थ आगे कहा जायगा। और देखिये-'एतावानस्य, इत्यादि ग्रन्थ से परमेश्वर महिमा की अवधि की आशङ्का करके मन्त्राक्षरों से ही उत्तर दिया है कि 'अनन्त परमेश्वर की इससे अधिक महिमा है" पर यह प्रश्नोत्तर मन्त्रार्थके अज्ञान का विलास है। वस्तुतः इस मन्त्र में चकार भिन्नक्रम नहीं है, यदि ऐसा हो तो पूर्वपुरुष की अपेक्षा से इस पुरुष का आधिक्य श्रुति से प्रतिपादित

विजृम्भणामात्रम्। नात्र चकारो भिन्नक्रमः, तथासतिपूर्वापेक्षयाऽस्य पुरुषस्य-ज्यायस्त्वं श्रुत्या प्रतिपादितं भवेत् । नचैतत्सम्भवति एतावानस्यमहिमा इतिपूर्वमन्त्रप्रतिपादितपुरुषातिरिक्त एव तदपेक्षयाच ज्यायान्पुरुषस्तथासति अतोज्यायांश्चपूरुषः, इतिमन्त्रपदेनिरूपितःस्यात्। तथाचात्रपुरुषद्वयस्य प्रतिपादनमसंगतमेव । वस्तुतश्चकारोऽवधारणार्थः-अतोज्यायानेवपूरुषः, इति । यतोऽस्य एतावान् महिमा, अतोज्यायानेवपुरुष इत्यर्थः । तदेवचविशदीकृतमुत्तरेणमन्त्रार्द्धेन पादोऽस्यविश्वेत्यादिनेति । अथ "अत्राह (पादोऽस्य०) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानिप्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणिभूतान्येकः पादोऽस्ति एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते" । इतियदुक्तंतदपिन युक्तमाभाति । प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानीति व्याख्यापदानां तात्पर्यस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् । नहिप्रकृतिमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणिभूतान्येव । भूतातिरिक्तानां प्रकृतिमहदहङ्कारेन्द्रियाणामपि सत्वात् प्राणिजातमेव भूतपदेनोच्यतेचेत् ? प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानीत्येतत्पदोपन्यासप्रयासो मुधैवदयानन्दस्येति । इत्थंप्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानांसर्वेषांभूतत्वमापादयन् शास्त्रपरिशीलनविशदप्रेमुषीकतामात्मनःख्यापयतीति विद्वांसएव विदाङ्कुर्वन्तु इति । किञ्च' एकःपादोऽस्ति, इत्यस्यैव एकस्मिन्

हो ! पर यह हो नहीं सकता क्यों कि दो पुरुषों का प्रतिपादन श्रुति को इष्ट नहीं । वस्तुतः मन्त्रगत 'चकार, निश्चयार्थक है ।

मन्त्रार्थ यह है कि इतनी उस पुरुष की महिमा है इस लिये वह सब से बड़ा ही है, इसी बात को अगले मन्त्रार्द्ध से स्पष्ट किया है कि "सबजगत् इस का एक हिस्सा है इत्यादि" । आगे देखिये-"अत्राह से लेकर देशांश सर्वं विश्वं वर्तते इत्यन्त" । सब यह अयुक्त है 'प्रकृत्यादि पृथिवी पर्यन्त इन पदों का क्या तात्पर्य है ! प्रकृति से लेकरपृथिवीपर्यन्त सब 'भूत, नहीं हैं ! भूतों से अतिरिक्त प्रकृति, महान,अहङ्कार, इन्द्रियां भी तो हैं ? यदि भूतपद से प्राणिसमूह ही लिया जाय तो क्या डर है ! तो फिर प्रकृत्यादि, यह यत्न व्यर्थ है । प्रकृत्यादि पृथिवी पर्यन्तों को भूत कहने वाले स्वामी दयानन्द, अपनी शास्त्रज्ञता बता रहे हैं- इसे विद्वान् लोग समझें । ऊपर आपने देखा 'कस्मिन् देशांशे सर्वं विश्वं वर्तते" यह 'पादोऽस्य,का भावार्थ मालूम होता है । यहां देश के पीछे अंश की और सर्व के

देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते, इतिभावार्थः प्रतीयते । अत्र सम्भवत्येव कदाचि दयानन्देनैकदेशनिखिलार्थबोधकयोरपि देशसर्वशब्दयो र्यथाक्रम निरुक्तार्थबोधकत्वं प्रति सर्वथापि न विश्वस्तं स्यात् । अतएव तौ द्वावपिशब्दांशविश्वलाङ्गूलौ निरूपितौ । वस्तुतस्त्वेकस्मिन् देशे सर्वं वर्त्तत, इत्येतावतैवेष्टसिद्धौ तथा प्रतिपादनमात्मनो वैदुष्यविश्वस्ततामेव सूचयतीति । अथ "(त्रिपादस्या०) अस्य दिविद्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति । तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति प्रकाशकं च तस्मात् त्रिगुणमिति "। अस्योक्तस्याऽस्माभिस्तु सर्वथापिनावगतोऽर्थः । इहापिद्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतमित्यत्र स्वरूपेत्यपरं स्वपदमुपस्थापितमेव, किंस्वरूपस्यापि परात्मता शङ्का ? यया भीतो दयानन्दस्तन्निवृत्तयेऽपरं स्वपदं व्यवस्थापयामास । तथा किं विधे द्योतके संसारे कीदृशं त्रिपाद् जगदिति? किं तदेकगुणं प्रकाश्यमानं? किंच त्रिगुणं प्रकाशकम् ? किंपुनरत्र दयानन्दस्याभिमतम् ? किंमत्र युक्तम् ? इति बहुधा सावधानं विचारयन्नहमनुमर्थं सर्वमपिनाज्ञासिषम् । अतस्तन्निवृत्तये सम्प्रति प्रार्थ्यन्ते सानुनयं सप्रश्रयं साञ्जलिबन्धं च परापरदर्शिनो विवेकशालिनो विद्वांसः । तेऽपिचात्र सावधानं यथाविचारं परि-

---

पीछे विश्वकी पूंछ लगाई है, देश और सर्व के ऊपर विश्वास नहीं हुआ "एकस्मिन् देशे सर्वं वर्तते" इतना लिखना मात्र पर्याप्त था पर यहां भी व्यर्थकी पण्डिताई प्रकट की है । आगे की संस्कृत देखिये और उसका भाव समझिये— भला इनसे कोई पूछे कि 'स्वस्व रूपे, में एक और स्वशब्द क्यों घुसेड़ दिया । क्या स्वरूप मात्र कहने से काम नहीं चलता था। हां महाराज ! यह तो बताइये द्योतक संसार कौनसा है । और उसमें त्रिपाद् जगत् क्या बला है, यह त्रिगुण प्रकाशक क्या है । युक्तायुक्त का कुछ तो विचार किया होता । हमें तो यह उलूल जुलूल कुछ नहीं समझ में आता, विचारशील विद्वान् ही इसे सोचें । इसी मन्त्र के व्याख्यान के अन्त में परमात्मा को मोक्षस्वरूपता का प्रतिपादन किया है और प्रकरणान्तर में मोक्ष को अनित्य ठहराया है-बस-धृष्टता की जीत हुई ! सद्बुद्धि भगगई । वैदिक मार्ग दौड़ गया । क्या कहैं । विद्वान् भी इस मार्ग से हर गये । यह केवल एक मन्त्र के व्याख्यान के विषय में

शीलयन्तु । इति । अथ मन्त्रव्याख्यानोपसंहारावसरे परमात्मन एव मोक्ष-स्वरूपतां प्रतिपादयन्नपि मोक्षस्यान्यत्र प्रकरणेष्वनित्यत्वमेव स्वीचकारेति जितं धाष्टर्येन, गतं सुबुद्ध्या, समाक्रान्तं चाविचारशीलतया, पलायितं वैदिकसुपथा, किं बहुना भीतं सन्मार्गप्रवर्त्तकै रपि विद्वद्भिरित्यलं पल्लवितेन ॥ इति ॥ अत्रास्माभिः केवलमेकस्य मन्त्रस्य व्याख्यानमुपदर्शितम् । इत्थमेव स्वतन्त्रनिबन्धेषुप्रायशो मन्त्रव्याख्यानेषुचसर्वत्रापि निरर्थकपदोपन्यासः, मूलव्याख्यानयो र्मिथोविरोधः, क्वचित् स्वोक्तस्यैव व्याघातः, क्वचित् शास्त्रसिद्धान्तक्षतिः, व्याकृतितन्त्रानभिज्ञता, स्वैरंस्वकल्पितार्थप्रतिपादनम्, अनर्गललेखनशैली, इत्येतेऽन्येच बहवो दोषास्तत्रतत्रानुस्यूताः सन्ति । तत्सर्वं स्वयमेव विद्वद्भिर्विचारणीयम् । अस्माकं तु दिग्दर्शनमात्रमेवेति ॥ अतः परं यजुर्वेदभाष्ये कृतमप्यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं यथाप्रतिज्ञमत्र समुद्ध्रियते । तथाहि-(एतावान्) दृश्यादृश्यं ब्रह्माण्डरूपं (अस्य) जगदीश्वरस्य (महिमा) माहात्म्यम् (अतः) अस्मात् (ज्यायान्) अतिशयेन प्रशस्तो महान् (च) (पूरुषः) परिपूर्णः (पादः) एकोंऽशः (अस्य) (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भूतानि) पृथिव्यादीनि (त्रिपात्) त्रयः पादा यस्मिन् (अस्य) जगत्स्रष्टुः (अमृतम्) नाशरहितम् (दिवि)

ही हमने लिखा है, ऐसे ही जितने स्वामी जी के मन्त्र व्याख्यान हैं उनमें व्यर्थ पदों का उपन्यास, मूल और व्याख्यान का परस्पर विरोध, कहीं अपनी ही बात का खण्डन, कहीं शास्त्रसिद्धान्त की हानि, व्याकरण शास्त्र से अनभिज्ञता, मनमाने अर्थ की कल्पना, अनर्गल लिखना, इत्यादि बहुत से दोष हैं जो विद्वानों को स्वयमेव जानलेने चाहियें, हमारा तो दिग्दर्शन कराना मात्र कार्य है । इसके आगे यजुर्वेद का भाष्य बनाते हुए जो इस मन्त्र का व्याख्यान किया है वह भी देखते चलिये—मूलमें भाष्य पढ़िये—और इस भाष्य से मिलान कीजिये आपको बहुतसा भेद मिलेगा-जो कि सर्वथा अनिवार्य है और स्वामी जी की पूर्वापरानभिज्ञता का द्योतक है हमारे मत में तो कोई दोष नहीं क्योंकि इस पुरुष सूक्त में विराट् रूप-या-वद् ब्रह्माण्डाभिमानी चेतनात्मा का ही निरूपण है । जैसे अस्मदादि देहेन्द्रियादिविशिष्ट शरीरी हैं वैसे वह भी ब्रह्माण्ड रूप शरीर के होने से शरीरी है, इसी लिये " ततो विराडजायत " इत्यादि श्रुतियां भी

द्योतनात्मके स्वस्वरूपे ॥३॥ इति ॥ अत्रहि 'भूतानि' पृथिव्यादीनि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायांतु प्रकृत्यादीनि । अत्र पुनस्त्रिपादमृतं वर्त्तते, भाष्यभूमिकायांतु त्रिपाद् जगदस्ति, एकगुणप्रकाशयापेक्षया प्रकाशकं च त्रिगुणमस्ति । इत्थं निरूपितमेवास्माभिरस्य कृतौ मिथोविरोधः । अस्माकं तु नैतेदोषाः कथमपि सम्भवन्ति । यतोहि पुरुषसूक्तेऽत्र विराडाख्यस्य यावद् ब्रह्माण्डाभिमानिनश्चेतनस्यात्मन एव निरूपणम् । यथाऽस्मदादयो देहेन्द्रियादिविशिष्टाः शरीरिणस्तथा सोऽपि ब्रह्माण्डशरीरत्वात् शरीरी एव । अतः "ततो विराड़जायत" इत्यादि तदुत्पत्तिप्रतिपादिकाः श्रुतयोऽपि संगच्छन्ते । यद्यप्यात्मा नित्यशुद्धत्वादिस्वरूपस्तथापि उपाधेर्नित्यत्वादौत्पत्तिकत्वाच्च तथैव व्यवहारः । अस्मदादीनामिवेति । स एवचोपहित आत्मा सृष्ट्यादिमारभते, तदेव प्रकृत्येदं सूक्तम् । तथाचास्य मन्त्रस्यायमर्थः— अतीतादिकालविशिष्टं यावज्जगदस्ति सर्वोप्येतावानस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशिष्टोविभूतिर्नतु वास्तवं रूपम् । वास्तवपुरुषस्तु अतः अस्मात् महिम्ना जगज्जालात् ज्यायांश्च अतिशयेनाधिकः । एतदुभयं स्पष्टीक्रियते । अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्त्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः । अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात्स्वरूपं अमृतं विनाशरहितम् । तद् दिवि द्योत-

---

संगत होजाती हैं । यद्यपि आत्मा नित्य शुद्धबुद्ध है- वह अज है तथापि उपाधि को अनित्य और उत्पन्न होने से आत्मा में भी उत्पन्न होने का व्यवहार होता है । जैसे अस्मदादि नित्य हैं पर शरीरों की उत्पत्ति से उत्पत्तिमत्व व्यवहार होता है । वही उपाधियुक्त आत्मा सृष्टि आदिका आरम्भ करता है- उसी को लेकर सूक्त प्रवृत्त हुआ है । इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ यह है कि-"भूतादि कालयुक्त जितना जगत् है वह सब उस पुरुष की महिमा अर्थात् शक्ति विशिष्ट विभूति है, वास्तव स्वरूप नहीं । वास्तव पुरुष तो इस जगज्जाल से अत्यन्त अधिक है । ये ही दोनों बातें आगे स्पष्टीकृत हैं:- अर्थात् इसी पुरुष के कालत्रयवर्ती सब प्राणी-चौथा हिस्सा हैं और बचे हुये तीन पाद अमृत अर्थात् विनाश रहित हैं । वह ही पुरुष अपने स्वरूप में स्थित है" यद्यपि "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म की इयत्ता का अभाव बोधन करती हैं इस लिये चार हिस्सों का निरूपण करना ठीक नहीं परन्तु यह जगत् ब्रह्मस्वरूप की अपेक्षा बहुत छोटा है-

नात्मके स्वप्रकाशे स्वस्वरूपेऽवतिष्ठत इति शेषः । यद्यपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्याम्नातस्यानन्तस्य ब्रह्मण इयत्ताया अभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथाऽप्यस्य जगतो ब्रह्मरूपापेक्षयाऽल्पीयस्त्वमिति विवक्षया तथोपन्यासः इति ॥ एवं सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् सृष्टिविद्याप्रकरणे यजुर्वेदस्य पुरुषसूक्तमेव समुद्धृतम् । या तत्र शैली स्वीकृता दयानन्देन व्याख्यायाः सात्वस्माभिर्दर्शितप्राया, अतस्तत्र न किंचिदधिकं वक्तव्यमस्ति । विमलमतिभिर्विद्वद्भिरेव सर्वं विभावनीयमिति ।

इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः

—>>>※<<<—

अतः परं यथाक्रमं पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः, आकर्षणानुकर्षणविषयः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः; गणितविद्याविषयः, इत्येते चत्वारो विषयाः संक्षेपतो निरूपिताः सन्ति । एतत्प्रकरणचतुष्टयस्य इदमेव प्रयोजनम्,– यदेते निरुक्ता विषया वेदेषु सन्ति, तथा च सर्वविद्यानां मूलस्थानं वेद इति । तदेतस्मिन् प्रयोजनविषये नास्माभिः किञ्चिद्वक्तव्यम् । निःसंदिग्धमस्त्येव

यह कहने की इच्छा से यह कहा गया है । इस सृष्टिविद्या प्रकरण में यजुर्वेद के पुरुषसूक्त का ही समुद्धरण स्वामी जी ने किया है और जो दयानन्द ने व्याख्याशैली स्वीकार की है वह तो हम दिखा ही चुके, कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, विद्वान् लोग स्वयं विचार लेंगे ।

इति संक्षेप से सृष्टिविद्याविषयः ॥

—>>>※<<<—

इसके बाद क्रम से (१) पृथिव्यादि लोकों के भ्रमण का विषय (२) आकर्षणानुकर्षण विषय (३) प्रकाश्य प्रकाशक विषय (४) गणितविद्या विषय । ये चार विषय बताये हैं । इन चारों प्रकरणों के बताने का प्रयोजन यही है कि ये सब विषय वेदों में हैं और इस प्रकार सब विद्याओं का मूल स्थान वेद है । इस प्रयोजनविषय में हमें कुछ वक्तव्य नहीं है क्योंकि निःसन्देह सब विद्याओं का स्थान वेद है । भगवत्पादशङ्कराचार्य ने "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्र के व्याख्यानावसर में स्पष्ट रूप से विविध विद्याओं का

सर्वविद्यानां स्थानं वेदः । श्रीमच्छङ्कर भगवत्पादाचार्यैरपि 'शास्त्रयोनित्वा-दि'ति सूत्रव्याख्यानावसरे "महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृं-हितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिःकारणं ब्रह्म । नहीं-दृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति" इत्यादिग्रन्थेन स्पष्टमेव विविधविद्याबृंहितत्वं वेदस्य प्रत्यपादि इति । परं तत्तत्रोक्तार्थं प्रमाणयितुमुपन्यस्तानामितस्ततः संगृहीतानां श्रुतिस्मृति-प्रमाणानामनर्थ एव दूनयति विदुषां चेतांसि । यद्यपि सर्वत्रैव श्रुत्यादि-व्याख्यायामियं व्यवस्था, तथापि विस्तरभिया साम्प्रतमेकस्यैव मन्त्रस्य व्याख्यानमुपदर्श्यते । तदेव वैदुषीख्यापनायालं स्यात् । तत एवच विद्वद्भिरपि 'अन्तःप्रविश्य पश्यामि यावच्चर्म च दारुचे'त्येतत्साक्षात्कृतं स्यात् । तच्च "आ-कृष्णेन० इति" सैषात्रयस्त्रिंशतत्रिचत्वारिंशी यजुर्वेदीया । अत्र दयानन्दो वदति "अत्राकर्षणविद्यास्तीति । (आकृष्णेन०) सविता परमात्मा सूर्यलो-को वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोऽस्ति" । इत्य-हो धाष्टर्यं पुण्डितः । धाष्टर्यं वा एतदुच्येत, लोकप्रतारकत्वं वा प्रकीर्त्येत, सर्वथापि मौढ्यं वाख्यायेत । वस्तुतः सर्वाणीयंकृतिः सुकृतिनो दयानन्दस्य वैदेशिकविद्याहृतहृदयैः शास्त्रप्रदर्शितसत्पद्धतिरेवावनतेर्मूलमिति मन्यमाने-र्महाशयैः सुरभारतीमपि तद्दौर्भाग्येन आग्रहेण पुनानैः मित्रत्वमुपागतैः

स्थान वेद है इस बात का प्रतिपादन किया है । पर इसी बातको प्रमाणित करने के लिये इधर उधर से संगृहीत श्रुति स्मृति प्रमाणों का मनमाना अर्थ कल्पना करना विद्वानों के चित्त को दुःखित करता है यद्यपि सर्वत्र स्वामी जी की व्याख्या मे यही दशा है पर इस समय विस्तार भय से केवल एक मन्त्र की व्याख्या ही बतलाये देते हैं-यही उनकी-स्वामी जी की पण्डिताई के लिये पर्याप्त है । उसी से समझदार लोग " अन्तः प्रविश्य त्रिज्ञातं " इस पञ्चतन्त्र की कहानी को याद कर लेंगे । देखिये " आकृष्णेन० " यह मन्त्र यजुर्वेद के ३३वें अध्याय का ४४वां मन्त्र है । इस पर स्वामी जी लिखते हैं "अत्राकर्षणविद्याऽस्तीत्यादि" इसे धृष्टता कहें वा लोकप्रतारणा ! जो हो अज्ञता ज़रूर है । वस्तुतः ऐसा मालूम होता है कि तपस्वी दयानन्द देव-वाणी को छूकर ही पवित्र करनेवाले विदेशीय विद्याओंके घोर पक्षपाती उनके मित्र बने हुए किन्हीं लोगों के संसर्ग से ऐसा लिखने को विवश हुए

केऽश्चिदपि संसर्गादेवेति सम्भावयामि । अन्यथा कथमयमनर्थः समापद्येत । अथ 'सविता' पदस्य 'परमात्मा सूर्यलोको वा' इत्ययमर्थो विहितः । तत्र दुर्जनतोषन्यायेन मन्त्रव्याख्यादौ यथामतिश्च दयानन्दस्याकर्षणविद्याऽत्र मन्त्रे स्वीक्रियेतापि, तथाप्यस्मिन्पक्षे नोक्तार्थोऽस्यभवितुमर्हति । यदि परमात्मापि सर्वैर्लोकैः सहाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोऽङ्गीक्रियेत, तदा प्रत्यात्मवेदनीयमेकदेशि वसेव परमात्मनः स्यात् । नच सर्वद्रष्टुः सर्वविधारणक्षमस्य तस्य केनापि परिच्छिन्नत्वं सम्भवति । नचैतदास्वीक्रियते सामाजिकैरपि । सर्वलोकविधारणक्षमत्वं तु परमात्मन्यसकृच्छ्रूयते । "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः" । "अमृतस्यैष सेतुर्विधरणो लोकानामसंभेदाय" इत्यादिषु ॥ अत्र तावदाकर्षणविद्याऽऽलेत्यैव न सम्भवति । 'आकृष्णेन' इत्यस्याकर्षणगुणेनेत्यर्थं प्रतिपादयन् स्वहार्दमेव कठोरं कार्ण्यं बहिराकृष्य प्रसारयति । यद्यपि 'आ' इतिपदं 'वर्त्तमान' इत्यनेन सम्बद्धं, तथाप्ययमाकर्षणगुणेन 'व्यवहिताश्चे'ति पाणिनीयमभिधानं सर्वथा विस्मृत्य कृष्णेनेति पदेन योजितवान्, एवमप्यलमाश्चर्येण विदुषाम्, दुर्व्यसनमेवैतदस्य नैसर्गिकमिति । किञ्च मन्त्रस्य द्वितीयार्द्धे 'रथेनादेवो याति'-त्यत्र वेदव्याख्यावसरे 'आ' पदमुल्लिख्यापि न तस्यार्थः कश्चिद् व्यधायि ।

हैं । अन्यथा ऐसा अनर्थ कैसे हो सकता था ! 'सविता' पदका परमात्मा वा सूर्य लोक यह अर्थ किया है यदि दुर्जनतोष न्याय से स्वामी जी का अर्थ मान भी लिया जाय अर्थात् इस मन्त्र में आकर्षण विद्या है- यह बात स्वीकार भी करली जाय, परन्तु इस पक्ष में यह पूर्वोक्त अर्थ इस मन्त्र का नहीं हो सकता । क्योंकि यदि परमात्मा सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से विद्यमान है तो उसमें एकदेशिता आजायगी । और वह एकदेशिता सनातनधर्मी वा आर्यसमाजी किसीको भी इष्ट नहीं है क्योंकि एकदेशिता वा परिच्छिन्नता सबको धारण करने में समर्थ परमात्मा में हो नहीं सकती । ईश्वर को श्रुति बार २ सब लोकों को धारण करने वाला बतला रही हैं " हे गार्गि ! इसी अक्षर परमात्मा की आज्ञा में सूर्य लोक और पृथिवी लोक धारण किये हुए स्थित हैं" "लोकोंकी यथावत् स्थितिके लिये सबका धारण करने वाला यह परमात्मा पुल के तुल्य है" इत्यादि । इस मन्त्र में आकर्षण विद्या का प्रतिपादन है- यह असंभव है । 'आकृष्णेन' इस पदका- आकर्षणगुणेन यह अर्थ

यद्यपीदं याती, ति क्रियापदेनसंबध्यते, तद्विनैवयातिगच्छतीत्युक्तम् । अत्र-पुनर्मन्त्र एव तत्पदं नोपात्तम् । अतःशङ्के व सा दूरापेता, चतुरोऽयमस्मिन्कर्मणि प्रतीयत इति । मन्त्रार्थस्तु सविता देवः । हिरण्ययेनहिरण्मयेनरथेनआयाति आगच्छति । किंकुर्वन्, कृष्णेन रजसा रात्रिलक्षणेन सहआवर्त्तमानः पुनर्भ्रमणं कुर्वन् अमृतं देवादिकं मर्त्यं मनुष्यादिकं चनिवेशयन् स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन् भुवनानि पश्यन् कानिसाधु कुर्वन्ति कान्यसाध्विति विचारयन् इति । सर्वमन्यत्सुधीभिर्विभावनीयम् ।

इति संक्षेपतःपृथिव्यादिलोकभ्रमणादिविषयः ।

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः संक्षेपतः समालोचनपूर्वकं निरूप्यते ।

अत्रोक्तप्रकारं प्रलम्बितकायं शीर्षकमुल्लिख्य प्रकटितएव प्रार्थनायाचनयोर्मिथोऽपूर्वोभेदः । अर्थयाचधात्वोरेकार्थपरत्वेऽपि कथमयंभेद इतिताहृशयोगिजनबुद्धिवेद्यमेवैतत् । विशदमते ! निरूपितेऽपि प्रागभवतास्तुतिविषये, बदवतैवेतिमवद्वत्याऽनुमिते तस्यनिरूपयितृत्वेऽनागत्वेचात्रशीर्षके पुनस्तदुल्लेखः किंप्रयोजनक इतिनज्ञायते । किञ्चग्रन्थादौ निरूप्यमाणप्रार्थनाविषयएव कुतोनव्यवस्थापितमेतत् ? । कथञ्चिद्भवत्वप्येवम्, तथाप्यवलोकनीयमेवास्य-

करना अपने हृदय की कृष्णता को ही फैलाना है और इस पदका वर्तमान, पदके साथ सम्बन्ध है यहां आपने व्यवहिताश्च, इस पाणिनिसूत्र को भूलकर कृष्णेन, इस पदके साथ मिला दिया । इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं-यह इनका स्वाभाविक दुर्व्यसन हो गया है । मन्त्र के उत्तरार्द्ध में "रथेना देवो०" इसकी वेद व्याख्या के समय 'आ, इस पद का उल्लेखकरके भी कुछ अर्थ नहीं किया । यद्यपि 'आ, पद 'याति, इस क्रिया पदके साथ सम्बद्ध है— उसको छोड़कर "याति-गच्छति" यह लिख दिया । यहां तो उस पदको ही नहीं रक्खा । झगड़ा ही कुछ न रक्खा ।

मन्त्रार्थ-वस्तुतः यह है:—

सवितादेव हिरण्मय रथसे आता है, रात्रिके साथ बार २ भ्रमण करता हुआ । देवता और मनुष्यादिकों को अपने २ प्रदेशों में स्थित करता हुआ और कौन अच्छा करते हैं और कौन बुरा करते हैं- इसका विचार करता हुआ । अधिक विद्वान् लोगों के विचारने योग्य है ।

भाष्यम् तत्र 'तेजोऽसि, इतिपदस्थाने वीर्यमसि, इतिरभसादेव लिलेख । तदनुयायिनस्तु न केवलं वेदार्थाऽनभिज्ञाः, अपितुसर्वथाप्यक्षरमात्राऽनभिज्ञाः कथमिवशोधयेयुस्तत्स्थलम् ? तस्यच 'तेजोधेहि, इति स्वारसिकमर्थमपहाय स्वकल्पितमेव 'असंख्यातंतेजः इत्यर्थंनिरूपयतिप्रयोजनंत्वस्य सूक्ष्मेक्षिकयानिभाल-यन्तोऽपि नपश्यामः । किञ्च "शरीरबुद्धिशौर्यस्फूर्त्यादी" त्यत्रसमस्तपदे शरीर-बुद्धीतिपदद्वयं मुधैव । कुतः सन्निवेशितमित्यवश्यमनुयोक्तव्योऽयं वैयाकरण-शृगालः । 'ओजः, इतिपदस्यार्थः- सत्यविद्याबलं, मिति स्वकपोलकल्पित-एव, कान्तिस्तुपरमार्थः । किञ्चायंमन्त्रो यजुर्वेदभाष्यावसरेऽन्यथैव व्याख्यातः अत्रतावत्- 'हे ईश्वर ! इतिप्रतिपादितम् । तत्रपुनः- 'हेराजन् ! इत्येव । तत्रच सोमरूपांदेवतामुपन्यस्यराजविषयकमर्थं विदधताऽनेन वञ्चिताएव परमतयोलौकिकाजनाः । अह ! एतादृशोऽन्धेतिनिबिडेत्मसि विनिपातोजना-नाम् । कइमे तदनुयायिनःसामाजिकाः येऽत्रावधानं ददति ? किमस्तिकश्चि-त्तादृशः संस्कृतज्ञोविद्वान्? यःसात्रष्टुभमुद्घोषयितुं समर्थः स्यात्, यत्स्वामि-कृतोवेदार्थः स्वारसिक इति ? वीर्यमित्यस्य वीर्यवदर्थंप्रतिपादनं किनायुक्तम् किंबहुना-सत्यमर्थं मन्त्रस्य दिदृक्षुभिरवलोकनीयमेवोव्वटादिभाष्यमिति द्वितीयस्तुमन्त्रः- 'मयीदमिन्द्र, इत्यादिः । एतन्मन्त्रोद्धारकालेभूयान्भागो

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिभ्रमणादिविषयः ।

अब ईश्वर स्तुति आदि का विषय निरूपण किया जाता है:-

यहां पर एक लम्बा हैडिंग देकर प्रार्थना और याचना का अश्रुतपूर्वभेद बताया है। अर्थ और याच धातु एकार्थक हैं फिर भी इनका अर्थ भेद कैसे होगया—यह बात योगियों की बुद्धि से ही जानी जासकती है। महात्मन् ! आपने जब स्तुति विषय पूर्व बता दिया था और "वक्ष्यते, कहकर आगे बतलाने वाले थे फिर यह किस प्रयोजन से बीचमें आपने इसे घुसेड़ दिया इसका कुछ मतलब ? ग्रन्थ के आदि भाग में जहां प्रार्थना विषय बताया था वहां ही इसकी व्यवस्था क्यों नहीं की ! ख़ैरजो हो अब इनका भाष्य देखिये 'तेजोऽसि, इस पदके स्थान में 'वीर्यमसि, यह झटलिख मारा उनके अनुयायियों को इतनी फुरसत कहां जो इस स्थलका शोधन करें। केवलवेद प्रचार करना ही उन्हें अभीष्ट है न? स्वारसिक अर्थ को छोड़ कर "असंख्यात तेज" ऐसे अर्थ करनेका क्या प्रयोजन है। सो सूक्ष्म विचार करने से भी पता नहीं

मन्त्रस्य विस्मृत इति प्रतीयते । मन्त्रार्थस्त्वपूर्वतामेव बिभर्त्ति । सामाजिकजनप्रसिद्धाष्टादशहोरापरिमितसमाधेरेतदेवफलम् । तथाहि-मन्त्रगतं 'इन्द्रः' इति प्रथमान्तपदं 'हे इन्द्र ! हे परमेश्वर !' इतिसम्बोधनत्वेन व्याचख्यौ । यजुर्वेदभाष्यावसरे पुनः प्रथमान्तत्वेनैवेत्यतिविस्मयास्पदम् । 'मघवानः' इत्येकमपि पदं भाष्यावसरेऽसमुचितमङ्गीकृत्य अत्र 'मघवा' 'नः' इतिपदच्छेदं चकार । भाष्येऽर्थासांगत्येऽपि सुकृतः पदोपन्यास इत्येव बहुमन्यताम् किञ्चात्र 'रुचन्तामि' तिपदस्यार्थः 'समवेतान्' इत्येवकृतः । भाष्ये पुनः 'समवेताभवन्तु" इति । पूर्वापरपरिज्ञानशून्यस्य सतो बालानामिवेयं पदेपदे प्रस्खलति कथमिवश्रेयस्करी स्यात् । न प्रतीमः स्वामिनेमेऽर्था विजयाप्रभावेणैव प्रतिपादिताः उतान्यस्यकस्यचिद्धेतोः । किंच 'अर्थात्' इति पदोपन्यासे चातुर्यं बिभर्त्ति स्वामी, औचित्यानौचित्यं स्थलस्याविचार्य क्वचिदेव निरूपयति । तत्समकक्षमेव भ्रातृपदमिवभजमानं 'कृपया' इति पदम् । न ज्ञायते-सन्मन्त्रार्थप्रकाशने किमित्ययं संकोचयत्यात्मानम् । प्रकृतमन्त्रस्यापयेव स्वारसिकोऽर्थः सम्भवति । तथाहि-प्रयानयागानन्तरं पुरोडाशशेषप्राशनसमयेहोतरि आशिषं प्रयुञ्जाने सति यजमानो जपति।(इन्द्रः)परमेश्वरः (मयि) यजमाने (इदम्) अस्मदभिप्रेतम् (इन्द्रियं) वीर्यं (दधातु) स्थापयतु ।

लगता । "शरीर बुद्धि शौर्यस्फूर्त्यादि" इससमस्तपद में शरीर और बुद्धि ये दोनों पद व्यर्थ क्यों डाल दिये हैं ? कोई इसवैयाकरण केसरी (वा शृगाल) से पूछे तो सही । "ओजः" पदका 'सत्यविद्याबलम्', यह अर्थ कपोलकल्पित है । "कान्ति" अर्थ वास्तविक है । और लीला देखिये-यजुर्वेद भाष्य करते समय आपने इस मन्त्र का भिन्नही अर्थ किया है। यहां (भूमिका में) 'हे ईश्वर !', ऐसा सम्बोधन दिया और वहां (वेद भाष्यमें) हे राजन्!, लिख दिया,। वेदभाष्यमेंसोमरूप देवता को रखकर राजविषयक अर्थ करके क्या सचमुच लोकवञ्चना नहीं की है ? उनके अनुयायी कौनसे सामाजिकहैं जो इस विषयमेंसावधानहों । क्या कोई ऐसा संस्कृत का विद्वान् समाजोंमेंहै । जो ज़ोरके साथ यह कह सके कि स्वामीजी का किया वेदार्थ यथार्थहै?। वीर्यंपदका 'वीर्यवत्', अर्थ करना क्या अयुक्त नहीं है । बहुत क्या लिखें ठीक २ वेदार्थ जानने वालों को उव्वटादिके भाष्य देखने चाहियें । 'मयीदमिन्द्र, यह दूसरा मन्त्र है । इस मन्त्र के उद्धरण काल में बहुतसा मन्त्र भाग, मालूम होता है भूलगये

किंच (रायः) धनानि (मघवानः) धनवन्तश्च (अस्मान्) यजमानान् (सचन्ताम्) सेवन्ताम् । अन्यच्च (अस्माकं) यजमानानाम् (आशिषः) अभीष्टार्थस्याशंसनानि (सन्तु) विद्यन्ताम् । किंच (नः) अस्माकं (आशिषः) पूर्वोक्ताः (सत्याः) अवितथाः (सन्तु) भवन्तु । इति ॥ तृतीयः मन्त्रः प्रार्थनाविषयको " यां मेधां " इत्यादिः । मन्त्रार्थः स्पष्ट एव, परं 'देवगणाः' इत्यस्य 'विद्वत्समूहाः इत्यर्थो न युक्तः प्रतिभाति । 'देवसमूहाः' इति युक्तम् । किंच 'पितरः' इत्यस्य 'विज्ञानिनः, इत्यर्थः कथारीत्याकृत इति नावगम्यते । 'पितृगणाः, इति युक्तोऽर्थः । 'स्वाहा-शब्दार्थः 'सुहुतं भवतु, इति भवति । परं सर्वं तत्परित्यज्यायं सुष्ठी अन्नेत्यादिना ग्रन्थेन अन्यदेव किञ्चिद् व्यवस्थापयति । परं तन्न युक्तम् । नहि निरुक्तकारेण स्वाहाशब्दार्थे तवाभिमतप्रमाणेषु किञ्चित्प्रमाणमुपदर्शितम् । नचायं निरुक्तप्रतिपाद्यो विषयः । केवलं निर्वचनानि प्रदर्श्यन्ते तत्तच्छब्दानाम् । प्रमाणनिर्वचनशब्दयोश्च महानस्ति विशेषः । अन्यथा दयानन्दस्तदनुयायी वा कश्चिद्विशदं प्रकाशयेत्, स्वाहाशब्दार्थे किं तत्प्रमाणं निरूपितं निरुक्तकारेण । एवं च 'स्वाहाशब्दस्यायमर्थः, इति लिखित्वा योऽर्थो निरुक्तपदानामभिहितः सर्वथापि स निरर्गल एवेति । वास्त-

मन्त्रका अर्थ तो बस अपूर्व ही है । यह १८ घंटे समाधि लगाने का फल है । देखिये-मन्त्रगत 'इन्द्रः, इस प्रथमान्त पदको " हे परमेश्वर । " इस प्रकार संबोधन समझ के व्याख्यान किया है । और यजुर्वेदभाष्य करते समय प्रथमान्त समझ कर ही । कहिये कैसा आश्चर्य है । यजुर्वेद भाष्य करते समय 'मघवानः, यह एक पद था पर यहां भूमिका में 'मघवा, और 'नः, दोपद निकल आये ? देखा वैचित्र्य । भाष्य में अर्थ चाहे असंगत हो पर पदों का उपन्यास ठीक कर दिया यही बहुत समझिये । यहांभूमिका में 'सचन्ताम्, पद का अर्थ 'समवेतान्, किया और भाष्यमें 'समवेता भवन्तु, कर दिया । पूर्वापर विचार शून्य स्वामी दयानन्द का, यह पद २ पर बालकों की तरह गिरना न मालूम कैसे कल्याणकर हो सकता है । मालूम नहीं, स्वामीजी ने ऐसे अर्थ भङ्ग पीकर किये थे या क्या समझ कर । चाहे उचित स्थल हो या अनुचित-'अर्थात्, और 'कृपया, पद ज़रूर डालदेंगे । मालूम नहीं मन्त्रों के यथार्थ अर्थ करने में स्वामी

विकस्तु "स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वावागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा" इत्येतस्य निरुक्तग्रन्थस्य सु सुष्ठु आह-सु आह-शोभनमाहेत्यर्थः। यदेव सम्प्रदानदेवतायै किञ्चिदाज्यस्येत्यनेन मन्त्रेणाह-तुभ्यमिदमिति' तदेवेति पर्यवसितोर्थः। एवमस्य सुः पूर्वपदम् आह-इत्युत्तरपदम्। अथवा अन्यदिदं ब्राह्मणानुगतं निर्वचनम्- "स्वावागाहेतिवा" इति। अत्रच स्वशब्दः पूर्वपदं, उत्तरपदं पुनस्तथैव। एवंच स्वास्वकीया वागेवाह—जुहुधीति, तत्स्वाहेत्यर्थः। विज्ञायते हि 'तं स्वावागभ्यवदज्जुहुधीति तत् स्वाहाकारस्य जन्म" इति। अथवा- "स्वं प्राह इतिवा"।

जी क्यों संकुचित होते हैं! इस मन्त्र का वैसा ही ठीक अर्थ है जो पुराने भाष्यकारों ने किया है। देखिये :—प्रधान यज्ञ के बाद पुरोडाश खाने के समय होता जब आशीर्वाद देता है तो यजमान कहता है :- (इन्द्रः) परमेश्वर (मयि) मुझ यजमान में (इदम्) इस (इन्द्रियम्) बलको (दधातु) स्थापन करे। और (रायः) धन (मघवानः) धन वाले (अस्मान्) हम यजमानों को (सचन्ताम्) सेवन करें। (अस्माकम्) हम यजमानों के (आशिषः) इष्ट वस्तु की इच्छाएं (सन्तु) हों और (नः) हमारी (आशिषः) शुभ इच्छाएं (सत्याःसन्तु) सत्य हों॥ "यां मेधां०" यह तीसरा मन्त्र है इस मन्त्र का अर्थ स्पष्ट ही है, पर इस मन्त्रार्थ में "देवगणाः" का विद्वानों का समूह और "पितरः" का विज्ञानी ये अर्थ किस रीति से किये गये हैं सो मालूम नहीं। 'देवगणाः' का देवसमूह और 'पितरः' का पितृसमूह अर्थ समुचित है। स्वाहा शब्द का अर्थ 'सुहुत हो' ऐसा होता है पर सब कुछ छोड़कर स्वामी जी और ही कह रहे हैं और जो कह रहे हैं वह असंगत है। निरुक्तकार ने स्वाहा शब्द के अर्थ विषय में तुम्हारे माने हुए प्रमाणों में से कौनसा प्रमाण दिया है? निरुक्तकार तो केवल निर्वचन करते हैं। प्रमाण और निर्वचन का बड़ा भेद है। स्वामी जी वा उनके अनुयायी बतावें कि स्वाहाशब्दार्थ में कौनसा प्रमाण निरुक्तकार ने दिया है 'स्वाहाशब्दस्यायमर्थः' इत्यादि स्वामी जी का निरर्गल प्रलाप है। वस्तुतः निरुक्त ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि (१) जो कुछ देवता के लिये दिया जाता है कि यह तेरे लिये है वह शोभन कथन है। (२) स्वा- अपनी वाणी ही कहती है कि-हवन कर यही 'स्वाहा' शब्दार्थ है। (३) स्वं प्राहेति वा— अथवा

स्वयमेव स्वरूपं प्रकर्षेण आह इत्यर्थः । पूर्वस्मादयमेवात्र विशेषः— पूर्वपदेऽस्य कारकान्यत्वम्-स्वावागाहेति कर्त्तरि, स्वं प्राहेति कर्मणि, प्रपूर्वं चोत्तरपदं प्रकर्षद्योतनायेति । अथवा-"स्वाहुतं हविर्जुहोतीतिवा" इति । यदनेनैव हविर्जुहोतीति, तदेव शोभनमाप्याद्य यथाभिधानमग्नौ जुहोतीति, हविः-प्रधानोऽत्र निर्देश इति विशेषः । इति दौर्गवृत्तिः । इत्ययमेवार्थो यास्काद्य-भिमतश्चेति । अथोपसंहारे "स्वाहाशब्दपर्यायार्थाः" इत्युक्तम् । धन्योऽसि स्वामिन् धन्योऽसि, किमेते स्वाहाशब्दपर्यायस्य कस्यचिदर्था निरूपिताः उत स्वाहाशब्दस्यैव ? । स्वाहाशब्दार्थं प्रतिपादयितुमुपक्रान्तो भवान्, तत्पर्या-यार्थप्रतिपादनमुपसंहरन् दण्डप्रहारेण सर्वमेवोपसंहृतवान् । केवलं तपःप्रभाव एवैषभवताम् । अथवा-'नारदं कुर्वाणो वानरं चकारे'ति लोकोक्ति स्पष्टय-त्येव भवतामेषाकृतिरिति । वस्तुतः 'इति स्वाहाशब्दार्थाः' इत्येव समुचितं भाति । उपक्रमोपसंहारविरोधश्च मिथो नापततीति । अधिकं विद्वद्भिः स्वयमेव विचारणीयम् । इति । अथ "स्थिरावः सत्वायुधा" इत्यादिर्मन्त्रो निर्दिष्टः तत्र व्याख्यायाम्- "ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम्" इति प्रथम-मेव वाक्यम् । अहो दैवस्य चेष्टितम्, कीदृशोयं प्रथमग्रास एव मक्षिकापातः ! परमस्माभिरपि किमिदानीं कर्त्तुं शक्यम् । केवलं 'आशीर्ददातीति विज्ञेयम्'

वाणी अपने स्वरूप को प्रकर्ष से कथन करती है (४) अथवा हवि-पुरोडाशको अच्छे प्रकार देना यह अर्थ है । येही अर्थ यास्काचार्य को अभिमत हैं । उपसंहारमें आप लिखते हैं कि "स्वाहाशब्दपर्यायार्थाः" धन्य हो महाराज! ये स्वाहाशब्द पर्याय के अर्थ निरूपित हैं वा स्वाहा शब्द के ही । स्वाहा शब्दार्थ का प्रतिपादन करने आप चले थे पर स्वाहाशब्दपर्यायार्थ के प्रति-पादन का उपसंहार करते हुए आपने अपने दण्डप्रहार से सब किसी का उपसंहार कर दिया ! यह केवल आप का तपः प्रभाव है अथवा 'नारद बनाने चले थे वानर बन गया' इस लोकोक्ति का स्पष्टीकरण है । वस्तुतः 'स्वाहाशब्दार्थाः' इतना लिखना पर्याप्त था । ऐसा लिखने से उपक्रमोपसंहार का विरोध भी नहीं आता । अधिक विद्वान् लोग स्वयमेव विचारलें । आगे चलकर "स्थिरावः" इस मन्त्र का निर्देश किया है । इसकी व्याख्या में एक संस्कृत वाक्य लिखा है "ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददाति" । यह पहला ही वाक्य है, देखिये दैवका कोप ! पहले ग्रासमें ही मक्खी आगई ! पर हम करें

अस्तु विज्ञास्यते, यथायथं च विज्ञास्यते, न केवलं विज्ञास्यते, विज्ञापयिष्यतेऽपि । श्रूयताम्- आशीर्ददातीत्यत्र कर्मणि द्वितीया पाणिन्यादिव्याकरणाभिमता कुतोनाभिहिता भवता ? नचात्र कर्मणि प्रत्ययो येनाभिहितं कर्म प्रथमयैव तुष्टिलभमानं द्वितीयां नाभिलषेत् । किमेवंविधपाण्डित्याश्रयएव वेदभाष्यडिण्डिमः समुद्घोष्यते । वस्तुतः, आशिषं ददातीत्येव प्रयोगः साधीयानाभाति । आः ! नहि अपिस्मृतमस्माभिरस्य प्रयोगस्य साधुत्वमिदानीम् । तथाहि सावधानं शृण्वन्तु श्रीमन्तः- ईश्वरो जीवेभ्यः किञ्चिद्घटादिकं वस्तु ददाति, किञ्चित्पदादिकं आशीरपिददाति । उभयोरपि पश्चात्स्थितो दयार्द्रचेतो दयानन्दो दानैकरेणैकेन कर्त्तारमीश्वरं सकर्पं प्रकृतं मन्त्रं शिखण्डिनं विधाय देहि देहीति प्रतिक्षणं समुद्बोधयति । अपरेण कर्त्रीं वराकीमाशिषम् एवं द्विकर्त्तृकोयंधातुः कर्माण्यनेन धातुनायुक्तं कर्त्ता एवेत्यर्थः । द्विकर्मकास्तु धातवो लौकिकैरपि किञ्चिदधीयानैः समुपलभ्यन्ते बहुशः । परमयं द्विकर्त्तृकोधातुः योगसमाधिजन्यधर्मविशेषापादिताणिमाद्यैश्वर्यप्रभावादेव दयानन्देन भूयसा श्रमेण समुपात्ताभि । अतएव न केनाप्यत्र सन्दिहानेन भाव्यम् । इदानीमवगतस्य प्रयोगस्य साधुत्वं श्रीमद्भिः! अयमेवच विशेषो योगिनां लौकिकेभ्यः । यथाद्विकर्मका धातवस्तथाद्विकर्त्तृका अपीति युक्तिरप्यत्र । स्वयं च

क्या ? केवल "आशीर्ददाति विज्ञेयम्" समझे ? । खैर ! समझा जायगा और सिलसिलेवार समझा जायगा । समझा ही नहीं जायगा किन्तु समझाया जावेगा । सुनिये-"आशीर्ददाति' इस प्रयोग में कर्म में द्वितीया पाणिनि आदि के व्याकरणानुसार होनी चाहिये- सो क्यों नहीं की ? यहां कर्म में प्रत्यय तो है नहीं जिससे प्रथमा होसके क्या ऐसे पाण्डित्य के भरोसे पर ही वेदभाष्य की डिमडिमी बजा रहे हो ! श्रीमहाराज ! वस्तुत तु "आशिषं ददाति" ऐसा प्रयोग ही साधु है । इस से आगे चलकर "आः इत्यादि से दयानन्दमतेन" तक धिक्कारकार ने संस्कृतमें उपहास किया है । उसे संस्कृतज्ञही देखलें । यह बात नहीं है कि भूलसे ऐसा प्रयोग एक ही जगह लिखा गया हो किन्तु आगे भी आपने ऐसा ही लिखा है देखिये-"पान्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्योहिददामि" यहां भी 'आशीर्वादः' प्रथमान्त कर डाला । भला हम कैसे समझें कि स्वामी जी व्याकरण जानते थे उन के अनुयायी कदाचित् "आर्ष प्रयोग है" ऐसा समाधान कर सकते हैं पर यह

सादृशप्रयोगान्तरेणापि परमार्थतोऽस्य धातोर्द्विकर्तृकत्वं दयानन्दमतेन न क्व-
चिद्ज्ञानपूर्वकस्तादृशोल्लेखः इति साधित एवायं प्रयोगः । तथाहि "परन्त्व-
यमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददामी"ति । अत्राप्याशीर्वादः प्रथ-
मान्तत्वेनैवोपन्यस्तः । आश्चर्यम्-दयानन्दोऽपि व्याकरणेचञ्चुप्रवेशाय प्रय-
तते । तदनुयायिनस्तु सामाजिका एवंविधप्रयोगजातस्यार्षत्वादेव साधुत्वमभि-
मन्यन्ते, इत्यननुरुद्धत्वात्पथोऽस्माभिरत्रैवाऽऽस्तामिति । अग्रे च स्वयमेव
विवेचनीयं विद्वद्भिः । क्षुण्णे च पथि नातिकष्टकरं भवति गमनमस्मद्विधानां
विद्वज्जनचरणशुश्रूषूणामित्यलमत्र पल्लवितेन । अथ भाष्यमप्युक्तस्यमन्त्रस्य
सर्वथाऽसंगतमेव । नह्यत्राशीर्वादः कुतोऽपि प्रक्रान्तः देवताकाचिदन्यैव प्रति-
पाद्यते, मन्त्रार्थस्त्वन्यथा निरूप्यते, कोऽयं प्रकारः ? वस्तुतोऽर्थस्त्वयमेव
भाति । तथाहि- मरुद्देवताकमिदं सूक्तम्, हे मरुतः (व आयुधा) युष्माक-
मायुधानि (पराणुदे) शत्रूणामपनोदाय स्थिराः सन्तु स्थिराणिभवन्तु उत
अपिच प्रतिष्कभे शत्रूणां प्रतिबन्धाय वीलुसन्तु दृढ़ानिभवन्तु, युष्माकं त-
विषी बलं पनीयसी अतिशयेन स्तोतव्यं भवतु, मायिनः अस्मासु छद्मचारि-
णो मर्त्यस्य मनुष्यस्य शत्रोर्मोबलं मा भवतु इति ॥ अथ "इषेपिन्वस्वे"ति
मन्त्रमिमं विवृण्वता दयानन्देन स्वामिना स्वयमेव "द्यावापृथिव्यौ देवते"

समाधान समाधान नहीं है यह तो पल्ला छुड़ाना है ऐसा समाधान अगतिक
गति जैसा ही है । आगे जैसी विद्वानों की राय हो । इस साधारण बात को
बढ़ाने की आवश्यकता नहीं । उक्त मन्त्रका भाष्य भी सर्वथा असंगत है ,
यहां आशीर्वाद का प्रकरण ही क्या है ? मज़ा तो यह है कि मन्त्रकी देवता
भिन्न है और मन्त्र का अर्थ भिन्न । यह क्या मामला है । वास्तविक
मन्त्रार्थ यह है:- जिस सूक्त का यह मन्त्र है वह सबका सब मरुत् देवता
वाला है । इस लिये "हे मरुतः आपके आयुध शत्रुओं के दूर करने के लिये
स्थिर हों और शत्रुओं के बन्धन के लिये दृढ हों और तुम्हारा बल बहुत
स्तुति के योग्य हो, हम लोगों में जो कपटाचारी है उसका बल न हो" यह
असली मन्त्रार्थ है । फिर देखिये- "इषंपिन्वस्व" इस मन्त्रका व्याख्यान
करते हुए स्वामी जी ने " द्यावापृथिव्यौ देवते " स्वयं लिखा है । इस से
स्पष्ट मालूम होता है कि इस मन्त्र का विषय अन्तरिक्ष और पृथिवी है
परन्तु यहां पर अपनी आदत के अनुसार 'हे भगवन्' ऐसा संबोधन रख कर

इतिनिरूपितम् । तदनेनस्पष्टं विज्ञायते– अस्यमन्त्रस्यविषयोऽन्तरिक्षं पृथिवीचेति । परमत्र "हेभगवन् !" इति सम्बोधनं विधाय परमेश्वर एवप्रार्थ्यते वेदभाष्यावसरे च 'हेस्त्रि ! वा पुरुष !, इत्येवसम्बोधनं दृश्यते । 'धर्मसुधर्म, इतिपदद्वयंपुरुषस्यैव सहविशेषितम् । एवमनर्गलं ब्रुवाणः कथमवं प्रायश्चित्तीयोनस्यात् । (ऊर्जे) इतिपदस्य (वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय)स्येवार्थोविहितः । वेदविद्यामतिरिच्य किमिदं विज्ञानं नाम ? ति तदनुयायिनः सामाजिकजना एवजानन्ति । किमिदमदृष्टश्रुतपूर्वं "परमवीरतः" इति । चक्रवर्त्तिराज्यंतु दयानन्दकृतौनिरवरोधं प्रवेशं लभते । प्रकरणादिचिन्ता गरीयसीएव तत्कृतेभाति पदन्यासोऽप्युपेक्ष्यतएव तदानीम् । 'द्यावापृथिवीभ्याम्, इत्यस्य विवरणे लोकोत्तराएव रीतिराश्रिता । निष्प्रयोजनमेव द्विवचनमत्रभगवत्कृतौ वर्त्ततेतन्मतेन क्वचिदुदक्षरमेव सर्वं स्वमनोगतमुद्गिरति । वस्तुतोमन्त्रार्थं स्त्वयमेवप्रतीयते । तथाहि–धर्मदेवताकोऽयं मन्त्रः । हेपिन्वमान ! धर्म ! वृषेवृष्ण्यै पिन्वस्वपुष्टो भव वृष्ट्यर्थम् । ऊर्जेऽन्नायपिन्वस्व अन्नं वर्धय । ब्रह्मणे ब्राह्मणेभ्यः पिन्वस्व क्षत्राय क्षत्रियेभ्यः पिन्वस्व;द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व । ब्राह्मणक्षत्रियद्यावापृथिवीस्तर्पयेत्यर्थः । हेधर्म ! हेसुधर्म ! सुष्ठुधारयतीतिसुधर्मः हेसाधुधरणशील ! त्वं धर्मः असि सर्वंजगतोधारणमसिआहुतिपरिणामद्वारेणसर्वं धरसीत्यर्थः ।

परमेश्वर से प्रार्थना की जाती है– ऐसा लिखदिया । और वेद भाष्य करते समय हेस्त्रि ! वा पुरुष ! ऐसा संबोधन रखदिया ! धर्म और सुधर्म दोनों पदों का पुरुष के साथ ही सम्बन्ध कर दिया ! ऐसी अनर्गल बातें लिखने से प्रायश्चित्ताह क्यों नहीं ! ऊर्जे इस पदका 'वेद विद्या विज्ञान ग्रहणाय यह अर्थ किया है । वेद विद्या को छोड़ कर विज्ञान क्या वस्तु है ? इस का पता आर्यसामाजिक पुरुष ही लगा सकेंगे ? "परमवीरतः" यह क्या है ? यह अदृष्ट श्रुत पद कहां से निकल पड़ा ! चक्रवर्ति राज्य तो स्वामीजी के लेख में निर्गल प्रविष्ट हो रहा है,इसके लिये बड़ी चिन्ता होजाती है और उस समय अन्य पदों का रखना आप भूलजाते हैं । "द्यावापृथिवीभ्याम्" इस पद के विवरण में लोकोत्तर रीति का आश्रयण किया है । ईश्वर की कृति में स्वामीजी के मत में द्विवचन का प्रयोग तो व्यर्थ ही है ? कहीं २ तो अक्षरों के बिलकुल विपरीत लिख दिया है । वस्तुतः मन्त्र का अर्थ यहप्रतीतहोता है:—

हेधर्म ! अमेनिः मिनोतिहिनस्तीतिमेनिः। नमेनिःअमेनिः अहिंसन्अक्रुध्यन् सन्अस्मेअस्मासु नृम्णानिधनानि धारय स्थापय । ब्रह्मक्षत्रंविशंचधारय विप्रादीनस्मद्वशान् कुर्वित्यर्थः । यजमानोक्तिरियमिति । प्रार्थयतेयाच्यते चेद क्रियाद्वयस्यासांगत्यं प्रागेवोक्तप्रायमिति । अथ "यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवमित्यादिर्मन्त्रोव्याख्यायते । यन्मनोदेवताकमिमं मन्त्रंसमुल्लिलेखायं वेदभाष्यावसरे तत्ताद्दशमेव । अतोऽत्रपरमेश्वरप्रार्थनाविषये तन्निरूपणं निष्प्रयोजनमेव । (दूरंगमम्) इति पदव्याख्यायां 'अर्थात्,इत्युपन्यासोव्यर्थः पण्डितरूपाणामरुन्तुदश्च । शिवसंकल्पमित्यस्य शुभेच्छमिति पर्याप्तोऽर्थः तत्र "कल्याणेष्टधर्मशुभगुणप्रियम्" इतिशब्दाडम्बरमात्रम् । 'वाजश्चमे, इत्यादिमन्त्राणां सर्वस्वसमर्पकत्वेनात्र विनियोगं विधाय यजुर्वेदभाष्ये परमेश्वरेण धर्मानुष्ठानादिनावामनुष्यस्यप्रयोजनीयं किंकिमितिएतन्मन्त्रप्रतिपाद्यविषयंप्रतिजानानःकथंनोपहास्यास्पदं विदुषाम्। अतिचित्रंचेदम्-यदयं मन्त्रोयजुर्वेदभाष्यावसरेऽग्निदेवताकःसमुपन्यस्तः,तदादूरापास्तएवास्य सर्वस्वसमर्पकत्वादिविषयः । वास्तविकस्त्वयमर्थो भातितत्रेयमष्टादशस्यप्रथमा, गतेऽध्यायेचित्यारोहणादिमन्त्रा उक्ताः । इदानीमष्टादशाऽध्याये वसोर्धारादिमन्त्राउच्य-

"हेधर्म ! तू वृष्टि के लिये बढ़ और अन्न को बढ़ा । ब्राह्मण, क्षत्रिय, द्युलोक, पृथिवी लोक इन को तृप्तकर । हेसुधर्म !-अच्छे प्रकार धारण करने वाले ! तू आहुतिपरिणामद्वारा सबको धारण करता है । हेधर्म ! तू क्रोधन करता हुआ हम लोगों में धनों का स्थापन कर और ब्राह्मणादिकों को हमारे वशीभूत कर । "यह यजमान का कथन है । प्रार्थयते और याच्यते इन एकार्थक दो क्रिया पदों का रखना असंगत है-यह पूर्व भी बताचुके हैं इसके आगे "यज्जाग्रतो०" यह मन्त्र है । इस का भाष्य करते हुए-मनोदेवताक इस मन्त्र को माना है वह ठीक है परन्तु यहां भूमिका में ईश्वर प्रार्थना विषय में लगाना निष्प्रयोजन है । (दूरंगमम्) इस पद की व्याख्या में 'अर्थात्, इस पद का उपन्यास व्यर्थ है- ऐसे व्यर्थ के पद पण्डितमण्डली को खटकते हैं । 'शिवसंकल्पं',पद का "शुभेच्छ" अर्थ काफ़ी था परन्तु 'कल्याणेष्ट' इत्यादि शब्दाडम्बर बना दिया है । 'वाजश्चमे इत्यादि मन्त्रों का विनियोग यहां भूमिका में सर्वस्वसमर्पण में किया और यजुर्वेद भाष्य में धर्मानुष्ठानादि से मनुष्य को क्या २ वस्तु अपेक्षणीय है-इस विषय में लगाया

न्ते । वाजश्चमे, चकाराः समुच्चयार्थाः, यज्ञेनानेन मयाकृतेन वाजादयः पदार्थाः कल्पन्ताम् क्लृप्ताः सम्पन्नाः भवन्तु । स यज्ञो वाजादीनां दाताऽस्मभ्यं भवत्वित्यर्थः । 'मोक्षमारभ्ये'ति पदविन्यासो वैदिकरीतिमेवानुसरति। अन्यथा 'अन्नपानादिकमारभ्ये'त्येवोचितं स्यात् । अथ "आयुर्यज्ञेनेत्यादिमन्त्रः। एतन्मन्त्रव्याख्यावसरे 'यज्ञोवैविष्णुरिति'शतपथवाक्यमङ्गीकृत्य यज्ञस्य वास्तविकं विष्णुरूपत्वं प्रत्यपादि, नकेवलं तद्रूपत्वमपि तु तन्नामैवेदमपरमिति। एतच्च न युक्तम् । तत्र यज्ञे समारोपितमेव विष्णुरूपत्वम् , प्रकरणादिना ज्ञायते । तथापि 'यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थम्' इत्यर्थस्तु सर्वथाऽसंगतएव । तथा सतीश्वरेणेश्वरप्राप्त्यर्थमित्यर्थः स्यात् । अस्य याथार्थ्यं विद्वांसएव विचारयन्तु । एवम्- 'ईश्वरेण कल्पताम्' 'ईश्वराय समर्पितं भवतु' इत्यर्थः सर्वथाऽप्युद्धार एव । 'प्रजापतेः प्रजाअभूम' अस्यार्थोऽपि अभूतपूर्वां रीतिमनुवर्त्तते । तथाहि- 'वयं परमेश्वरं विहायान्यं मनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामहे' इति । यद्येवमेव, तदा राजप्रजाधर्म एव कुतो वेदभाष्ये समुद्लेखि भवता । किं राजानं प्रतिद्वेष्टि भवान् । तिरस्करोति वा तमिति । अत्रैव मन्त्रे

कहिये- ऐसी दशा में स्वामी जी की हंसी विद्वान् लोग करेंगे या नहीं ? यजुर्वेद भाष्य करते समय इस मन्त्र को अग्निदेवताक बताया उस समय सर्वस्व समर्पण दूर भगगया था ?

वास्तविक मन्त्रार्थ यह है—

यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में वसोर्धारादि मन्त्र कहे हैं । 'वाजश्चमे' इत्यादि में चकार समुच्चयार्थक है । मेरे किये इस यज्ञ से अन्नादि पदार्थ सम्पन्न हों अर्थात् वह यज्ञ हमारे लिये अन्नादि का दाता हो" ॥

'मोक्षमारभ्य' यह कोई वैदिक रीति है ? चाहिये तो यह था कि "अन्नपानादिकमारभ्य" लिखते ।

फिर 'आयुर्यज्ञेन' यह मन्त्र लिखा है, और इस मन्त्रकी व्याख्याके समय "यज्ञो वै विष्णुः" इस शतपथ वचन को मानकर यज्ञको वास्तविक विष्णु ठहराया है । यज्ञस्वरूप ही विष्णु नहीं किन्तु विष्णुका यज्ञ नामही बताया है- यह सब इनका लेख अयुक्त है क्योंकि यज्ञ में विष्णुरूप का आरोपण किया है- यह बात प्रकरणादि से प्रतीत होती है । लिखते २ आप बेहद भूल जाते हैं? आगे लिखते हैं "यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थम्" यह उनके मतानसार

'बृहद्' 'रथन्तर' इति द्वौशब्दौ सामविशेषवाचकौ दयानन्देनासंगत्याऽन्यथैव व्याख्यातौ । मन्त्रस्य चरमभागे यजमानः स्वयमात्मानं प्रशंसति – वयं देवा भूत्वा स्वः स्वर्गमागन्म, प्राप्नुम इति । तत्रायं 'स्वर्देवाः' इत्येकमेवपदमभिमन्यते । अनिराकरणीयमस्य वैदुष्यम् । किञ्च अमृतमिति पदं 'अगन्म' इति क्रियापदेन अन्वितम्, अहोः महदनर्थमापतितम्, प्रकरणादिकं पदानां पारस्परिकमर्थकृतं सामर्थ्यं च सर्वथा परित्यज्य स्वकल्पितमेवोक्तं सर्वत्रापि। अथ यजमान एव वदति , वयं स्वर्गं प्राप्य 'अमृता अभूम' मृत्युरहिता इत्यर्थः । तदिदं पुण्डिनाऽन्यत्रैव योजितम् । (प्रजापतेः प्रजाअभूम) हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणः प्रजाश्चेति, सर्वमेतत्फलकथनम् । इत्थमत्यन्तां दुरवस्थां नीतोऽयं मन्त्रो मुण्डिना मन्त्रा र्थस्तुः–कल्पहोमएवात्रमन्त्रे कल्पतामिति लिङ्गात् । 'अथ कल्पाञ्जुहोतीति श्रुतेः । यज्ञ न निमित्ते नायुर्जीवनकालः कल्पतां साध्यतां प्राप्यताम् प्राणचक्षुःश्रोत्रवाङ्मनांसिमम यज्ञेन क्लृप्तानिभवन्तु । आत्माऽत्रदेहः– "आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" इति स्मरणात् । ब्रह्मावेदो यज्ञेनकल्पताम् । ज्योतिः स्वयंप्रकाशः परमात्मायज्ञेन साध्यताम् । पुण्यकर्मानुष्ठानं हि परमात्मज्ञाने कारणम् । "ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इतिश्रुतेः । "कर्मणैवहिसंसिद्धिमास्थिताजनकादयः" इति भगवदुक्तेश्च । स्वः स्वर्गः पृष्ठंस्तोत्रं स्वर्गस्थानं वा कल्पताम् । यज्ञोयज्ञेनैव क्लृप्तोभवतु नाहं यज्ञकल्पृप्तौसमर्थः । 'यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवाः' इति–

ही असंगत लेख है, क्यों कि इस का अर्थ यह होगा कि "ईश्वर से ईश्वर प्राप्ति के लिये" इस की असंगति विद्वान्क्या अविद्वान् भी जान सकते हैं । इसी प्रकार 'ईश्वरेण कल्पताम्' का ईश्वर के लिये समर्पित हो- यह अर्थ भी शब्दलभ्य नहीं है । "प्रजापतेः प्रजाअभूम" इस का अर्थ भी अभूत पूर्व ही किया है कि "हम परमेश्वर को छोड़ कर अन्य किसी मनुष्य राजा को नहीं मानते" यदि ऐसा ही है तो आपने राजप्रजा धर्म अपने वेद भाष्य में क्यों लिखा । क्या राजा से आप द्वेष करते हैं वा उस का तिरस्कार । इसी मन्त्र में बृहद्और 'रथन्तर' ये दो सामविशेष वाचक शब्द आये हैं इन का भी दयानन्द जी ने उलटा अर्थ लगाया है । मन्त्र के अन्तिम भाग में यजमान अपने आत्मा की प्रशंसा करता है कि:- "हम देवता होकर स्वर्ग सुख को प्राप्त हों" स्वामी जी यहां 'स्वर्देवाः' इसको एकही पद मानतेहैं । इस

श्रवणात् । किंच स्तोमयजुर्ऋक्साम बृहद्रथन्तराणि च यज्ञेन क्लृप्तानि भवन्तिव-त्यनुषङ्गः । स्तोमस्त्रिवृत्पञ्चदशादिः यजुरनियतपादो मन्त्रः ऋक् नियतपादा सामगीतिप्रधानम्, बृहद्रथन्तरे तद्विशेषौ । वसोर्धारयैवमग्निमभिषच्यात्मानं यजमानःप्रशंसति । वयं यजमाना देवा भूत्वा स्वः स्वर्गमगन्मगतवन्तः । गमे-र्लिङि शब्लोपे मस्यनत्वे रूपम् । गत्वा चामृता अमरणधर्माणोऽभूमभूताः । भूते-र्लुङि रूपम् । ततः प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य प्रजा अभूमेति फलवचनम् । अनेन वसोर्धारायाः सर्वकामप्राप्तिहेतुत्वमुक्तम् । वेट्स्वाहेति वसोर्धाराहोमार्थोमन्त्रः वेडितिवषट्कारः । "वषट्कारो हैषपरोक्षंयद्वेट्कारो वषट्कारेण वा वैस्वाहा-कारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते" इति श्रुतेरिति ।

'अथोपासनाविषयः संक्षेपतः' । 'संक्षेपतः' इति सर्वत्रोपनिबद्धम् । तच्च युक्त-मेव व्यधायि । संक्षेपमात्र एवेयमुभयोरपि दिगन्तव्यापिनी दुरवस्था । वि-स्तारे पुनर्विद्वद्भिरेवानुमेयासेति । "युञ्जते मन" इत्यादिः । न परित्यक्तो-ऽत्रापि नैसर्गिको मस्करिणाऽनर्थक्रमः । अतएव (होत्राः) इत्यस्य- 'योगिनो मनुष्याः' (विप्रस्य) इत्यस्य 'सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्यमध्ये (इत्) सर्वत्रव्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, इत्येतेऽर्था विचारदारिद्र्यमेव दयानन्दस्य विशदयन्ति । स-

---

पण्डिताई को कौन हटा सकता है ? 'अमृतम्' इस पदका 'अगन्म' इस क्रिया पद के साथ अन्वय कर डाला । पदों के परस्पर सामर्थ्य को और प्रकरणादि को छोड़ कर सर्वत्र केवल कपोलकल्पना की है ? .... किंबहुना, इस मन्त्र की छीछालेदर ही करदी । मन्त्र का संक्षिप्त भावार्थ यह है कि:—
"यज्ञरूप साधन से आयु— जीवन काल सिद्ध हो, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन, ये सब यज्ञ से सिद्ध हों, देह, वेद, परमात्मादि यज्ञ से प्राप्त हों" इत्यादि विशेष मूलधिक्कार ग्रन्थ में स्पष्ट है ।

आगे लिखा है-"उपासनाविषयः संक्षेपतः" संक्षेपतः लिखने का इन्हें अभ्यास पड़ गया । संक्षेपमात्र में तो इतनी लम्बी दुरवस्था शब्द और अर्थ की होगई यदि फैलाव होता तो दुरवस्था का क्या ठिकाना था ।

"युञ्जतेमनः" इति-यहां भी अपना स्वभावसिद्ध-उलट फेर करना नहीं छोड़ा है । इसी लिये 'होत्राः' शब्द का योगी मनुष्य 'विप्रस्य' का सर्वज्ञपर-मेश्वर (इत्) का सर्वत्रव्याप्त-ज्ञानस्वरूप ये अर्थ विचारशून्यता को स्पष्ट कर रहे हैं । वस्तुतः यह ऋचा सवितृदेवताक है, इसमें किसी की उपासना

वितादेवतेयमृक् , नात्र कस्यचिदुपासनं विधीयते । तथाच प्रतिपादितं भगवताभाष्यकारेण सायणाचार्येण-"युञ्जते मन इति पञ्चर्चं नवमं सूक्तं, अत्रेयमनुक्रमणिका- युञ्जते पञ्चश्यावाश्वः सावित्रं तु जागतमिति । श्यावाश्वोनामात्रेयऋषिः, जगती छन्दः, सविता देवता पृष्ठ्याभिप्लवषडहयोः प्रथमेहनि वैश्वदेवशस्त्रे सावित्रनिविद्धानमिदं सूत्रितं च-युञ्जतेमनउहेहव इति धतस्त्र इति" तत्रेयं प्रथमाऋक्-युञ्जत इति । विप्रामेधाविन ऋत्विग्यजमानाः मनः स्वीयं सर्वेषु कर्मसुयुञ्जते योजयन्ति सवित्रनुग्रहाय संकल्पं कुर्वन्तीत्यर्थः । उत अपिच धियः कर्माण्यपि युञ्जते प्राप्नुवन्ति कस्यानुज्ञयेति उच्यते विप्रस्य मेधाविनः बृहतो महतः विपश्चितः स्तुत्यस्यज्ञानवतो वा सवितुः अनुज्ञया इति । सवितावैप्रसवानामीश इति श्रुतिः । स एव सविता होत्राः सप्तहोत्रकाणामुचिताः क्रियाः वयुनावित् वयुनमिति प्रज्ञानाम तत्तदनुष्ठानविषयप्रज्ञावेत्ता एकइत् एकएव विदधेकरोति पृथक् पृथगवधारयति । किंच तस्यसवितुर्देवस्य परिष्टुतिः स्तुतिः मही महती अतिप्रभूता स्तुत्यगोचरा इत्यर्थः" ॥ अत्र भाष्ययोर्युक्तत्वायुक्तत्वविचारो विद्वद्भिरेवविधेयः । किञ्च "धिया बुद्धिवृत्तिस्तस्यैव" इति प्रतिपादयता लोकवञ्चकचतुरेण प्रस्फुटीकृतमेव प्रावीण्यमात्मनो व्याकुलितन्त्र इति मन्ये । तस्यैव मध्ये' इत्यर्थेसति 'धिया'

का विधान नहीं है । इसी का प्रतिपादन भगवान् भाष्यकार सायणाचार्य ने किया है । सायणाचार्य इस मन्त्रकी अनुक्रमणिका लिख कर लिखते हैं कि "विप्र-मेधावी ऋत्विक् यजमान, अपने मन को सब कामों में लगाते हैं, अर्थात् सविता के अनुग्रह के लिये संकल्प करते हैं और अपने कर्मों को भी, बड़े स्तुतियोग्य सविता देवता की कृपासे प्राप्त करते हैं और वही सविता देव सप्तहोत्रकों की उचित क्रियाओं को बुद्धिपूर्वक अकेला ही पृथक् २ अवधारण करता है । और उस देवकी बड़ी भारी स्तुति है" । यहां स्वामी जी और सायणाचार्य इन दोनों भाष्यों में किसका भाष्य युक्त है ? इसका विचार विद्वान्लोग स्वयं करलें ॥

"धिया बुद्धिवृत्तिस्तस्यैव" इस संस्कृत वाक्य को लिखकर तो दयानन्द ने अपनी वैयाकरणता की पराकाष्ठा करदी । एक ओर " तस्यैव मध्ये " है, तो 'धिया' कैसे ? 'धियः' ऐसा षष्ठ्यन्त पद होना चाहिये । ऊपर के वाक्य में सन्धि तो आर्ष ही माननी चाहिये । कैसी चतुराई है ! साधारण

इति कथं सम्भवति 'धियः' इति षष्ठ्यन्तमेवोचितम् । किंच 'बुद्धिवृत्तिस्त-स्यैव' इति वाक्ये 'तस्यैव' इत्यत्र सन्धिस्तु आर्ष एव । अहो ! वैदग्ध्यम् ! अहो ! मूढतामुण्डिनः, लघुकौमुदीमधीयानोऽपिबालो नैवं प्रयोक्तुमर्हति । अयं तु निरंकुशएवसर्वथा । यत्सदसद्वा मनसि, तत्सर्वमविचार्यैव सहसा बुकति । अयमपि वेदभाष्ये साहसमातनोति । तदनुयायिनस्तु साम्प्रतं "अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" इत्येतामुपनिषद्श्रुतामक्षानिना मवस्थामक्षरशश्चरितार्थयन्ति । 'यादृशी शीतलादेवी तादृशो वाहनः खरः' इति सर्वं रमणीयम् । दयानन्दोक्तेरयुक्तत्वे सन्देहोऽपि न पदं लभते इतिदिक् ॥

अथ 'युञ्जानः प्रथमं मन' इत्यादिर्मन्त्रो व्याख्यायते । तत्र व्याख्यायां "(युञ्जानः) योगं कुर्वाणः सन् (तत्वाय) ब्रह्मादितत्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति तस्यधियं (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते" इति प्रणिजगाद । अस्याशयमध्येतार एव सावधानं विचारयन्तु । तत्वज्ञाना-यतमानस्ययोगिनो बुद्धिं परमात्मा स्वस्मिन्स्वात्मनि स्वविषयेवोपयुङ्क्ते इत्येवार्थः सम्भवति पूर्वोक्तस्य, तत्रयोगिबुद्धेः परमात्मनः कीदृशउपयोग इति

लघुकौमुदी पढ़ा हुआ भी ऐसा प्रयोग नहीं कर सकता । पर स्वामी जी तो निरंकुश हैं- जो कुछ बुरा भला मन में आया वह सब विना विचारे लिख मारते हैं ये महात्मा भी वेदभाष्य करने का साहस कर बैठे हैं- आश्चर्य है ! उनके अनुयायी लोग तो " अविद्यायामन्तरेवर्तमानाः " इस श्रुति को अक्षरशः चरितार्थ कर रहे हैं । जैसी शीतला देवी वैसा ही उसका वाहन-खर (गधा) ; बस, स्वामी जी के कथन की अयुक्तता में इतने से ही सन्देह नहीं रहेगा इति ॥

फिर "युञ्जानः प्रथमं मनः" इस मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ किया है व्याख्या में 'युञ्जानः से लेकर उपयुङ्क्ते' तक जो कुछ संस्कृत में लिखा है उसका आशय पढने वाले लोग सावधान होकर विचारें । तत्वज्ञान के लिये यत्न करने वाले योगीकी बुद्धि को परमात्मा अपने आत्मामें वा अपने विषय में उपयुक्त करता है, यही पूर्वोक्त वाक्यका अर्थ है । योगिबुद्धि से परमात्मा का कौनसा उपयोग होता है सो हमें नहीं मालूम पड़ा । जब परमात्मा ही इस बुद्धिका उपयोग करते हैं तो वह कैसा उपयोग है? यह बताना चाहिये

नावगतमस्माभिः। यतोहि परमात्मा एव तांबुद्धिमुपयुङ्क्ते, अतः प्रदर्शनीय एव तस्योपयोग इति। अन्वयप्रक्रियातु नक्कापि शोभना प्रतीयतेऽस्य। अन्येन केनापि शब्देन सम्बद्धं समपिशब्दं कुत्रापि निदधाति, नास्ति तत्र स्वल्पोऽपि विचारावकाशः। तथाच मन्त्रस्थं 'पृथिव्या' इतिपदं अन्यत्रैवसंगमय्य व्याख्यातम्। "इदमेव पृथिव्यामध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम्" इति। अहो निर्दुष्टवैदुष्यविख्यापयिषया महद्दर्शिताऽदृष्टपूर्वालक्षणप्रक्रिया। यद्दर्शनमात्रेण मुग्धाभविष्यन्ति विद्वांसः। किंबहुना-असंगतमेव सर्वथापीदं भाष्यम्। वस्तुतस्त्वयमेवार्थः प्रतीयते तथाहि-अयं मन्त्रो यजुर्वेदस्यैकादशे प्रथमः। इतएवाभ्यारभ्याष्टादशाध्यायपर्यन्त मग्निचयनमन्त्राः। तेषां प्रजापतिर्ऋषिः। साध्याऋषयो वा, सोऽग्निः पञ्चचितियुक्तः, तत्र प्रथमचितिमन्त्राणां प्रजापतिर्ऋषिः। द्वितीयचितेर्देवा ऋषयः। तृतीयचितेरिन्द्राग्निविश्वकर्माण ऋषयः। चतुर्थचितेर्ऋषयएवर्षयः। पञ्चमचितिमन्त्राणां परमेष्ठी ऋषिः। अत्र 'युञ्जानः प्रथम'मित्याद्यष्टानां कण्डिकानां सविता एव देवता तथाचायं मन्त्रार्थः- सविता सर्वस्य प्रेरकः प्रजापतिः अग्नेर्ज्योतिः चीयमानस्य वन्हेः संबन्धितेजः निचाय्य निश्चित्योपलभ्यवा, यद्वा सकलानां

पदों के अन्वय करने की प्रक्रिया तो कहीं पर भी इन की समुचित नहीं प्रतीत होती। किसी दूसरे शब्द से सम्बन्ध रखने वाले किसी शब्दको कहीं रख देते हैं। अन्वय करने में थोड़े विचार से भी काम नहीं लेते। मन्त्रस्थ "पृथिव्याः" इस पद को अन्यत्र ही लगाकर व्याख्यान कर दिया है देखिये "इदमेव पृथिव्यामध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम्" निर्दोषविद्वत्ता प्रकट करने की इच्छा से अदृष्टपूर्वलक्षण प्रक्रिया बताई है जिस के देखने मात्र से विद्वान्लोग मोहित होजायंगे। बहुत लिखने से क्या है? सर्वथा यह भाष्य असंगत है। वस्तुतः यह वक्ष्यमाण अर्थ प्रतीत होता है। यह मन्त्र यजुर्वेद के ११वें अध्याय में प्रथम ही है। यहीं से प्रारम्भ करके १८वें अध्याय तक अग्निचयन के मन्त्र हैं इत्यादि भाष्य में स्पष्ट किया है। मन्त्रार्थ यह है :-

"सबका प्रेरक प्रजापति, अग्निसम्बन्धि तेजको लेकर अथवा सब कर्मों के साधनभूत को निश्चय करके पृथिवी के समीप से लेता हुआ- अर्थात् ईंटोंको चिनकरके अग्निको संचित किया। सवितृ शब्दसे प्रजापतिका ग्रहण

कर्मणां साधनभूतं निश्चित्य पृथिव्याः भूमेः सकाशादध्याभरत्, अध्याहृतवान। इष्टकाः कृत्वाऽग्निं चितवानित्यर्थः। सवितृशब्देन श्रुतौ प्रजापतिरुक्तः 'प्रजापतिर्वै युञ्जानः' इति श्रुतेः। किंभूतः स सविता इत्याह प्रथमम् अग्न्यारम्भे मनो युञ्जानः समादधानः युक्तोऽसौ युञ्जानः। किं कृत्वा धियो बुद्धिरिष्टकादिविषयाणि ज्ञानानि तत्वाय तनित्वा विस्तार्य मनसा पर्यालोच्य बुद्ध्यावधार्येत्यर्थः इति। अथ 'युक्त्वाय सवितेत्यादि'। अत्र भाष्ये सवितेति पदम् अन्तर्यामीश्वरपरं निरूपितम्। यजुर्वेदभाष्ये पुनः योगीजन इत्येवार्थोऽभ्यधायि। एवमनिश्चितमतेः स्वकृतावस्माभिः किं कर्तुं शक्यम्। वस्तुतस्त्वेषां मन्त्राणां सर्वेषामपि सविता देवता, अग्निचयने च विनियोगः। सर्वमेतन्निरूपितं पुरस्तादेव। अस्यानिर्दुष्टोऽर्थस्तु सविता तान् प्रसिद्धान् देवान् प्रसुवाति अभ्यनुजानाति प्रसौतिप्रेरयतीत्यर्थः। किं कृत्वा युक्त्वाय युक्त्वा स्वव्यापक, अग्निकर्मणि संयोज्य। किंभूतान् देवान् धिया बुद्ध्या कर्मणा वा अन्येन दिवं दीव्यति प्रकाशत इति दिव्रं द्योतनं "इगुपध" इति कः प्रत्ययः, स्वः स्वर्गं यतः गच्छतः। पुनः कीदृशान् बृहत् महत् ज्योतिरादित्य लक्षणम् आत्मत्वेन करिष्यतः संस्कुर्वतः। कीदृशः सविता प्रेरयिता अन्येन कर्मणा स्वर्गं गच्छतो देवान् अग्निकर्मणि सविता प्रेरयिता सविता प्रजापतिः तान् देवान् इन्द्रियविशेषान् युक्त्वा विषयेभ्यो नियम्य प्रसुवाति प्रकर्षेणाग्निकर्मणि

है क्यों कि "प्रजापतिर्वै युञ्जानः" ऐसा श्रुति में लिखा है। सविता का विशेषण 'युञ्जानः' यह पद है। अर्थात् पूर्व अग्न्यारम्भ में मन को सावधान करने वाला ईंटें आदि की बुद्धि को फैला कर अर्थात् बुद्धि से निश्चय करके "युक्त्वाय सविते" इत्यादि। इस मन्त्र के भाष्य में भूमिका में सविता पद का अर्थ अन्तर्यामि ईश्वर किया है और यजुर्वेद भाष्य में योगी जन किया है। स्वामी दयानन्द बड़े ही अनिश्चित बुद्धि हैं। इन की कृति में क्या किया जा सकता है?। वस्तुतः इन सब मन्त्रों का सविता देवता है और अग्निचयन कर्म में विनियोग है। यह बात पूर्व भी लिख चुके हैं। इस मन्त्र का दोषरहित अर्थ यह है "सविता देवता, अग्नि कर्म में संयोग करके कर्म से प्रकाशमान स्वर्ग को प्राप्त होने वाले और बड़ी ज्योति को संस्कृत करने वाले उन प्रसिद्ध देवताओं को प्रेरणा करता है ... .. "इत्यादि" "युजेवांब्रह्म" इस मन्त्र का व्याख्यान, आगे किया है। इस मन्त्र में 'वाम्, इस पद से यजमान दम्पती लिये जाते हैं। परन्तु स्वामी जी पूर्वापर का विचार न

प्रेरयति श्रीदृशान् स्वयं तःस्वर्गप्राप्त्यै उद्यतान्। तथा बृहत्प्रौढं ज्योतिःचीयमानस्याग्नेस्तेजः धिया दिवं करिष्यतः तत्तदिष्टकादिविषययाप्रज्ञया द्योतमानं कर्तुमुद्यतान् इति ॥ अथयुजे वां व इत्यादिर्मन्त्रो व्याख्यायते। अत्र वस्तुतो-वामितिपदेन दम्पतीयजमानावुच्येते। परमयं मुण्डीमहाभागोऽपर्यालोच्यै-वोपक्रमोपसंहारमुपदेशकोपदेश्यपरतामस्यपदस्याह। 'उपासनाप्रदोपासना-ग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते, इत्यादिग्रन्थेन परमेश्वरस्य तौ प्रतिप्रति ज्ञानं स्तनच 'उपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं युजे इत्यादि ग्रन्थेन स्पष्टीकृतम् अहो 'आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी। तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा" इत्यात्मनः प्रतिज्ञानं सर्वथापि विस्मृत्य परमेश्वरस्य उक्तविधया तौ प्रतिप्रतिज्ञानं प्रबोधयता भवता महत्पाण्डित्यं प्रदर्शितम्। इदन्त्वत्र प्रष्टव्यम् भवतो भाष्यस्य प्रामाण्यं कथमङ्गीक्रियेतान्यैः। शतपथादीनां प्रामाण्यमङ्गीकुर्वाणोऽपि भवान् वेदभाष्यभूतानां तत्रतत्रोपयुक्तस्थलेऽपि नतानुद्धरति। स्वकल्पितमेवार्थं यदृच्छया सर्वत्र प्रतिपादयति। अहो महात्मनो लोकप्रतारणचातुर्यम्। अत्राऽपि मन्त्रभाष्ये 'आशीर्ददाति, इत्यशुद्धं सर्वथापि-प्रयुक्तम्। कृतव्याख्यानञ्च तत्पुरस्तात्। मन्त्रार्थस्त्वित्थं द्रष्टव्यः —हे पत्नीय-जमानौ! वां युवयोरर्थे नमोभिरन्नैः इदानींहुतैर्घृतैःसहितं पूर्व्यं पुरातनैर्मह-

---

करके उपदेशक और उपदेश्य 'वां, पद का अर्थ करते हैं और लिखते हैं कि "उपास्य और उपासकों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है" इत्यादि। क्या कहने हैं! यही ऋषि मुनियों की रीति है जिस रीति का आश्रयण करके आपने वेद भाष्य करने की पहले श्लोकों में प्रतिज्ञा की थी। उस प्रतिज्ञा को आपने सर्वथा भुला दिया। यहां पूछना चाहिये कि आप के भाष्य का प्रामाण्य अन्य लोग कैसे कर सकते हैं? शतपथादि ब्राह्मणों को आप वेदों का व्याख्यान मानते तो हैं परन्तु आप उपयुक्त स्थल में भी कहीं उनका उद्धरण क्यों नहीं करते। अपने कपोलकल्पित अर्थ से क्यों काम लेते हैं क्या यह वञ्चना नहीं है। इस मन्त्र के भाष्य में भी "आशीर्ददाति" इस अशुद्ध शब्द का प्रयोग किया है।

मन्त्र का वास्तविक अर्थ जो प्राचीन भाष्यकारों ने किया है वह यह है:-

"हे पत्नि! और यजमान! तुम दोनों के लिये अन्न और घृतों के

र्षिभिरनुष्ठितं ब्रह्म परिवृढमग्निचयनाख्यं कर्माऽहं युजे युनज्मि संपादयामि। यद्वा ब्रह्मशब्देन प्राणाः सप्तऋषयो ब्राह्मणाश्चोच्यन्ते। वामर्थं पूर्व्यं पुरातनं ब्रह्म ब्राह्मणजातिं नमोभिरन्नैर्युजे योजयामि। अन्नैर्विप्रांस्तर्पयामीत्यर्थः। किमर्थमिति चेत् सूरेः पण्डितस्य यजमानस्यश्लोकः कीर्तिर्व्येतु विविधं गच्छतु लोकद्वयं प्राप्नोतु। तत्र दृष्टान्तः– पथ्या इव पथोऽनपेताः पथ्या यज्ञभागप्रवृत्ता आहुतिर्यथा लोकद्वयं व्याप्नोति एवं यजमानस्य श्लोक उभयलोकसंचारी भवत्विति भावः। किंच अमृतस्य मरणधर्मरहितस्य प्रजापतेः पुत्रा विश्वे सर्वे देवा यजमानस्य श्लोकं शृण्वन्तु। के। ये दिव्यानि दिविभवानि स्थानानि आतस्थुः अधिष्ठितवन्तः, ते सर्वेऽस्य कीर्तिं शृण्वन्त्वित्यर्थः। इति। अथ 'सीरायुञ्जन्तिकवयः' 'युनक्तसीराबियुगा' इति द्वावपिमन्त्रौ विषयसारूप्येन सहैव निर्दिश्य व्याख्यायेते। अत्र द्वाभ्यामपि अध्वर्युः सीरमभिमन्त्रयते। सीरदेवत्येच द्वे अपि गायत्रीत्रिष्टुभौ। परमयं मुण्डी सर्वत्रोपासनामेव पश्यति। यद्यप्येतन्नयुक्तं, तथाप्यत्रास्माकं नो विवादः कश्चित्। यत्तु पूर्वाचार्यैः सह विरोधः। तदुक्तीनामनादरः, सर्वत्र वेदादिशास्त्रेषु स्वैरं विहरणं, यदृच्छया यत्किंचिदेव वचनं, तदेतत्सर्वमपि दुःखाकरोत्येव विदुषां चेतांसि। विद्वांसएव विचारयन्तु–किमत्र मन्त्रयोरुपासनायाः प्रकरणम्। "(सीराः)"

सहित, पूर्व ऋषियों से अनुष्ठित अग्निचयननामक कर्म का मैं सम्पादन करता हूं। अथवा तुम दोनों के लिये ब्राह्मणजाति को अन्नों से युक्त करता हूं अर्थात् अन्नों से ब्राह्मणों को तृप्त करता हूं। जिस से कि यजमान की कीर्ति दोनों लोकों में प्राप्त हो जैसे आहुति दोनों लोकों में व्याप्त होती है वैसे ही यजमान का यश फैले। और अमृत प्रजापति के पुत्र दिव्यस्थानवासी देवता लोग यजमान की कीर्ति को सुनें"॥

"सीरा युञ्जन्ति कवयः" और "युनक्त सीरा वियुगा" इन अगले दो मन्त्रों का विषय एक ही है इस लिये साथ ही व्याख्यान कर दिया है। इन दोनों मन्त्रों से सीर– हल का अभिमन्त्रण अध्वर्यु करता है और इन दोनों मन्त्रों में 'सीर' देवता है तथा क्रमसे गायत्री और त्रिष्टुप् छन्द है। परन्तु स्वामी दयानन्दको सर्वत्र उपासना ही सूझती है। यद्यपि यह अयुक्त है तथापि हमारा कोई विवाद नहीं परन्तु ये महात्मा पूर्वाचार्यों के भाष्य का निरादर करते हैं– वेदादि के भाष्य में मनमानी चलाते हैं– ये ही

इत्यस्यचपदस्य "योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति" इत्ययमर्थः सर्वथाप्यसंगतः । तावन्मात्रपदस्यैतावदर्थं ज्ञाप्यनिरूपणात् । 'योगाभ्यासोपासनार्थ'मिति पदजातस्यान्वितार्थतया निरूपयितुमशक्यत्वात् । नाडीर्युञ्जन्तीत्यस्य अर्थात् तासु परमात्मानंज्ञातुमभ्यस्यन्तीत्यर्थस्य सर्वशास्त्रविरुद्धत्वात् । तथाच "एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौकारण आत्मनि (वपतेहबीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत" इति सर्वमिदंकथनं अनन्वितार्थत्वात् 'दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनम्, पललपिण्ड इत्यादिपदजातवन्निरर्थकमेव । तत्तच्छब्दानां तत्तदर्थबोधकतायां कस्यापि प्रमाणस्यानुपस्थापनाच्च । किं बहुना वाचां प्रचारेणेति । मन्त्रयोरर्थस्त्वित्थं बोध्यः । "दक्षिणामग्निश्रोणिमपरेण तिष्ठन् युज्यमानमभिमन्त्रयते" सीरायुञ्जन्तीति" इति कात्यायनोक्तेः चितेर्दक्षिणश्रोणेः पश्चिमेतिष्ठन्नध्वर्युः प्रतिप्रस्थात्रोत्तरां स पूर्वे षड्भिर्वा तदधिकैर्वा वृषैर्युज्यमानमौदुम्बरं हलं द्वाभ्यामभिमन्त्रयते । मन्त्रार्थः- धीराः धीमन्तोऽग्निक्षेत्रविदः कवयः कृषिकर्माभिज्ञाः सीरा सीराणि हलानि युञ्जन्ति वृषैर्योजयन्ति । युगा युगानि पृथक्नाना वितन्वते विस्तारयन्ति । किं कर्त्तुम् । देवेषु सुम्नया, सुम्नमिति सुखनाम ततो द्वितीयैकवचनस्य 'सुपांसुलुगि'ति यादेशः । सुम्नं सुखं कर्त्तुमिति शेषः ।

बातें समझदार आदमियों को खटकती हैं। वेदार्थज्ञ पुरुष विचारें—भला इन मन्त्रोंमें उपासनाका प्रकरण कहांसे आगया 'सीरा' इस पदका "योगाभ्यास-उपासना के लिये नाड़ियों को लगाता है अर्थात् उनमें परमात्मा को जानने के लिये अभ्यास करता है" यह अर्थ सर्वथा असंगत है। सीरा पदका इतना अर्थ कहां से निकल पड़ा !..................आगे लिखा है— "अन्तःकरण शुद्ध करने पर परमानन्द आत्मा में उपासना से योगोपासना का विज्ञान- बीज बोओ" यह सब कथन 'दशदाडिमानि' के तुल्य अनन्वितार्थक और प्रमाणशून्य है। प्राचीन भाष्यकारों ने प्रमाणपूर्वक मन्त्रद्वय का यह अर्थ लिखाहै-

"कृषिकर्म के जानने वाले विद्वान्लोग हलों को बैलों से युक्त करते हैं और जूड़ों को अलग फैलाते हैं, इस लिये कि देवताओं को सुख हो" ॥

"हे कर्षको !- खेती करने वालो ! हलों को लगाओ और जूड़ों को रस्सी आदि से बांध कर ठीक करो फिर जुते हुए खेत में बीज बोओ, वेद

देवानां सुम्नं कर्त्तुं युञ्जन्तीत्यर्थः। चतुर्थ्यर्थे षष्ठ्यादेशोवा, देवानां सुम्नयायुञ्जन्तीत्यर्थः। द्वितीयमन्त्रार्थः—हे कर्षकाः! सीराः सीराणि हलानि युनक्त युङ्क्त योजयत। तप्तनप्तनथनाश्चेति थस्यतबादेशे श्नसोरल्लोपाभावे युनक्तेतिरूपम्। युगा युगानि वितनुध्वं शम्यायोक्त्रादिभिर्विस्तारयत। ततः कृते कर्षणेन संस्कृते इह अस्मिन् योनौ स्थाने बीजं व्रीह्यादिकं यूयं वपत। कया! गिरो या ओषधीरित्यादिकया वेदमन्त्रवाचा चकाराच्चमसेन च। किंच वाग्वै गीरन्नं श्रुष्टिरितिश्रुतेः श्रुष्टिः अन्नजातिर्व्रीह्यादिका सभरा असत् भरांभरः पुष्टिः भरसाफलपुञ्ज्याइह वर्त्तमाना सभराः पुष्टा अस्तु। इतश्चलोप इलोकारलोपऽडागमेऽसदितिरूपम्। पक्वं धान्यं नेदीय इत् अतिशयेनान्तिकं नेदीयः। इत् एवार्थे। नेदीय इत्अन्तिकतममेवात्यल्पकालमेव पक्वं धान्यं सृण्यः सृणिशब्दोऽत्र दात्रार्थः। सृण्यालवनसाधनेन दात्रेण लूनमितिशेषः। दात्रेण छिन्नं सत् नः अस्मान्प्रति आइयात् आगच्छतु अल्पकालेन पक्वमस्मद्गृहमागच्छत्वित्यर्थः॥ इति। इतः परमेव अथर्ववेदस्यापि केचन मन्त्राः समुद्धृताः सन्ति, तत्रापीन्द्रादिपदानामीश्वरपरत्वमेव प्रदर्शितम्। एवं भूतानामेव वेदव्याख्यातॄणां दयनीयां दशां समवलोक्य सुष्ठूक्तमाभिधानिकैः कैश्चित्पुरातनैः-'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यती'ति। परमियं सनातनी व्याख्यारीतिरित्यत्र नास्माभिरधुना किञ्चिदुद्दङ्क्यत इति। 'ईश्वरो ज्ञापयतीति' प्रयोक्तव्ये 'ईश्वरोऽभिवदति' इति प्रयोगः शब्दशास्त्रतत्त्वज्ञस्य

मन्त्र वाणीसे और और चमससे। जिससे कि थोड़े कालमें ही पकाहुआ धान्य हमारे घर में आजाय" यह संक्षिप्तार्थ है।

इसके बाद स्वामी जी ने कुछ अथर्ववेद के मन्त्रों का उद्धरण किया है और इन्द्रादि पदों को ईश्वरपरक लगाया है। ऐसे ही वेदव्याख्याताओं की दयनीय दशा को देखकर पुरातन विद्वानों ने कहा था कि:- "अल्पज्ञों से वेद डरता है कि मुझे मारदेगा"। पर यह तो "व्याख्यारीतिः सनातनी" है। इसमें कोई कह ही क्या सकता है! 'ईश्वरोज्ञापयति' के स्थान में 'ईश्वरोऽभिवदति' ऐसे प्रयोग करना महावैयाकरण अष्टाध्यायी महाभाष्य के पण्डित दयानन्द को ही शोभा देता है। इन्हें यही ध्यान नहीं रहता है कि हमारा मत क्या है ईश्वर के शरीर तो आप मानते ही नहीं फिर 'वद' धात्वर्थ स्पष्ट कथन उस में कैसे होसकता है! अद्भुत मोह है कहीं स्वामी

दयानन्दस्यैव शोभते । व्यक्तावागेव वदन्यात्वर्यः (साच कण्ठताल्वाद्यभिघातादिनिरूपणाधीननिरूपणैव । तथाच कण्ठताल्वादिकृते भौतिकं शरीरमप्यभिप्रेयेत परमेश्वरस्येत्यभूतपूर्वोयं व्यामोहो मुण्डिनः । स्वमतमपि विस्मृतं विजयाप्रभावेणेति प्रतीमः । किञ्च अत्रैवोपासनाप्रकरणे व्यासभाष्यसहितानि यथासंभवं पञ्चाशत्तमानि योगसूत्राणि समुल्लिलेख । न तत्रास्माभिः किञ्चिद् वक्तव्यमविवादास्पदत्वात् । परमेतावतो ग्रन्थस्यात्रभूमिकायां समुद्धरणं निरर्थकमेवाभाति । यतो न तानि सूत्राणि स्वामिना स्वयं व्याख्यातानि, नवा व्यासभाष्यमेव क्वचिद्विशदीकृतम् ॥ अतएव केवलं उपासनाकृते प्राणायामादिप्रकारः पातञ्जलादिदर्शनेष्वेव सुधीभिरवलोकनीयो विस्तरभियात्वत्रनोपन्यस्त इत्युल्लेख एव पर्याप्तोऽभूत् । यत्र क्वचिदस्यैव व्याख्यानं सूत्रभाष्ययोरन्तराले वर्त्तते, तत्सर्वमसंगतप्रायं निष्प्रमाणकं स्वयमेव विद्वद्भिर्विचारास्पदतां नेयमितिकृतमज्ञानपिशाचाविष्टस्य वाचानिग्रहेण ; इति ।

अथोपनिषदामपि कानिचिद्वाक्यान्यत्रैवोपासनाप्रकरणे प्रमाणत्वेन समुद्धृत्य समुल्लिलेख-'अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते, इति । महात्मन् ! देवगिरैव कुतो नायंकाश्यभिप्रायो भवता । त्वदनुयायिनस्तु तेऽविरतं सर्वत्र वैदुष्यडिण्डिमं समुद्घोषयन्तः श्रद्धातिशयेन समर्पयन्त्यात्मानं

जो भंगपीकर तो नहीं लिखते थे ! इसी उपासना प्रकरण में व्यासभाष्य सहित लगभग ५० योगदर्शन के सूत्र लिखे हैं । इनके विषय में हमें कुछ वक्तव्य नहीं है । परन्तु इतने सूत्रों का इस भूमिका में उद्धरण करना निरर्थक पोथा बढ़ाना है क्योंकि स्वामी जी ने न तो उन सूत्रों का व्याख्यान किया और न व्यासभाष्य को ही साफ किया । इतना लिखना ही पर्याप्त था कि "उपासना के लिये प्राणायामादि का प्रकार पातञ्जलादि दर्शनों में ही विद्वानों को देखलेना चाहिये विस्तरभय से यहां नहीं लिखाजाता" । जहां कहीं सूत्र और भाष्य के बीच में अपनी संस्कृतलिखी-वहीं असंगत और प्रमाणशून्य लिखमारा । अज्ञानरूपी भूतने स्वामीजी को बेतरह पछाड़ा है-यह बात विद्वानों को स्पष्ट मालूम होजायगी । आगे कुछ उपनिषदों के वाक्यों का उद्धरण करके लिखा है "अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते" अर्थात् इस सब का भाषा मेंही अभिप्राय प्रकाशित होगा । महात्माजी ! संस्कृतमें ही क्यों नहीं अभिप्राय प्रकट किया ? आपके अनुया-

स्वद्वैवगीश्वरणेषु । मुग्धाश्च सर्वथापि तस्याम् । भाषायामभिप्रायं विवृण्वता वञ्चिता एव ते रहस्यलोलुपा इति । अन्येषां सरस्वतीसमुपासकानां विदुषां कृते तु भवतां संस्कृतोल्लेखः केवलं बालचापलम्, इति । इतः परमुपासनायाः सगुणनिर्गुणभेदेन द्वैविध्यं प्रकीर्तितं, तत्तथैव । परं सगुणनिर्गुणोपासनाप्रतिपादनप्रकारस्तत्स्वरूपनिरूपणं च न विदुषां मनोहरम् । तत्साधनायैवोपात्तं "स पर्यगादिति" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इति च श्रुतिद्वयमपि नोपासनाविषयम् । ज्ञेयब्रह्मपरत्वात् । प्रकरणादिना तथैव प्रतीतत्वात् । एवं ब्रह्मस्वरूपबोधकत्वादेव "एकोदेव इत्यादि सगुणोपासनं, निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनमि" त्युल्लेखोऽसंगत एव सर्वथापि । नात्र कश्चिदप्युपासनाविधिः श्रूयते इत्यर्थः । 'सर्वज्ञत्वादिगुणै' रिति प्रयोक्तव्ये 'सर्वज्ञादिगुणै' रिति लघुभूतोऽपि प्रयोगो वैदुष्यनदीरा विलयत्येव दयानन्दस्येति । किंच "रसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः" इतीदमपि न संगतमिव । "सर्वरसः सर्वगन्धः" इत्याद्युपनिषद्वाक्यैस्तस्य सर्वात्मकत्वनिर्धारणात् । यदि 'रूपरसा००दयो गुणास्तस्मिन्नसन्ति इति मतं तथैव ? तदा किमन्यत्तेषामधिष्ठानं कल्प्येत । नह्यसत्यं निरधिष्ठानमिति सर्वैः रूपादिकमसत्यं तत्रैवारोपितमिति शास्त्रविदां सिद्धान्तः। एवं "सर्वरसः सर्वगन्धः" इतिश्रुतिरपि । यदि 'गुणेभ्यो निर्गतत्वा-

---

यी लोगतो आपकी पण्डिताई की डिमडिमी सब जगह बजाते हुए अत्यन्त श्रद्धा से आपकी संस्कृत वाणीके चरणों में अपनी आत्मा को समर्पण करदेते हैं-उस पर बड़े मोहित होरहे हैं । भाषा में अभिप्राय प्रकाशन करके रहस्यवेत्ता सामाजिकों को सचमुच आपने वञ्चित कर दिया । अन्य विद्वानों के लिये तो आपका संस्कृतोल्लेख केवल बालचापलही है । आगे आपने सगुणोपासना और निर्गुणोपासना को बतलाया है सो ठीक है परन्तु दोनों प्रकारकी उपासना का स्वरूप और उसके प्रतिपादन का प्रकार विद्वानों को अच्छा नहीं लगसकता है । "स पर्यगात्" और "एकोदेवः" इन दोनों श्रुतियों को आपने उपासना विषय में लगाया है परन्तु प्रकरणादि से मालूम होता है कि इन दोनों श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म स्वरूपके प्रतिपादन में है न कि उपासना में । 'एकोदेवः' इत्यादि सगुणोपासना है- यह लेख स्वामी जी का सर्वथा असंगत है क्यों कि यहां कोई उपासना विधि नहीं है । "सर्वज्ञा-

दे' व निर्गुणत्वं ब्रह्मणो व्युत्पाद्यते, तदा विभुत्वमेव तस्योच्छिन्नं स्यात् । नहि व्यापकस्य यत्किञ्चिद्देशान्तरनिर्गतत्वं सम्भवति इति । वस्तुतः सर्वोपनिषत्सु द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टम्, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम् । "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्" (बृ० ४ । ५ । १५) । "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ' (छा० ७ । २४ । १) "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं" (श्वे० ६ । १९) । 'नेति नेति' (बृ० २ । ३ । ६ ।) 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३ । ८ । ८ ।) । 'न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्' इति चैवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि । तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वोऽव्यवहारः । तत्र कानिचिद् ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचित् क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसमृद्ध्यर्थानि । तानि सर्वाण्युपासनानि सगुणानि, यतस्तत्र ब्रह्मणि तांस्तान् विधेयान् गुणानारोप्य तच्चिन्तनात् । अतएव तेषामुपासनानां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदोऽपि यत्र पुनर्निषेध्यगुणचिन्तनं, सा निर्गुणोपासना शास्त्रविदामभिमता इति । अतएवैकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चो

दिगणैः" यह प्रयोग अशुद्ध है किन्तु "सर्वज्ञत्वादिगुणैः" शुद्ध है । ऐसे २ लेख ही तो स्वामी जी की विद्वत्ता नदी को गदली कर रहे हैं । "रसगन्धादिगुणों से पृथक् होने से निर्गुण है यह लेख भी स्वामी जी का असंगत ही है । क्योंकि "सर्वरसः सर्वगन्धः" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से ब्रह्म की सर्वात्मकता निश्चित है । यदि रूपरसादि गुण उस में नहीं है तो बताइये इन सब का अधिष्ठान- आश्रय क्या है । असत्य- मिथ्या वस्तु निरधिष्ठान नहीं रहती और सब रूपादि पदार्थ मिथ्या हैं और ब्रह्म में आरोपित हैं यह शास्त्रज्ञों का सिद्धान्त है ? इस प्रकार "सर्वरस" यह श्रुति भी लग जाती है । यदि गुणों से पृथक् होने के कारण ब्रह्म की निर्गुणता हो तो ब्रह्म का व्यापकत्व ही नष्ट होजावे क्योंकि व्यापक पदार्थ को किसी देश से पृथक् नहीं मान सकते । वस्तुतः सब उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप माने हैं (१) नामरूप उपाधि से युक्त और (२) सब उपाधियों से रहित । इस द्विरूपता में प्रमाणभूत श्रुतिवाक्यों को मूलग्रन्थ में देखिये । अविद्यावस्था में ब्रह्म में उपास्यादि

पास्यत्वेनज्ञेयत्वेनच सर्वत्रवेदान्तेषूपदिश्यतइति श्रीविद्यारण्यमुनिरपि पञ्चदश्याध्यानदीपप्रकरणे सुविशदयामासोपासनाविषयम् । एवं भगवतापतञ्जलिनापिपल्लवितोऽयं विषयः स्वकीयेपातञ्जले । अतोधिकजिज्ञासुभि स्तत्रैवासलोकनीय इति । एवं जिज्ञासुरुपासको बाह्यविषयपरित्यागेन वाङ्मनकायनिष्पाद्यं श्रौतस्मार्त्तलक्षणं कर्म कृत्वा ब्रह्मण्याधायविशुद्धसत्वो योगरूढाभूत्वाशमादिसाधनसम्पन्नः स्वाराज्ये भूम्नि स्वे महिम्न्यमृतोऽवतिष्ठते । तथाचस्मृतिः—

"योगीयुञ्जीतसतत मात्मानं रहसिस्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
एवं युञ्जन्सदाऽऽत्मानं योगीविगतकल्मषः ।
सुखेनब्रह्मसंस्पर्श मत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि ।
ईक्षतेयोगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥
समं पश्यन्हिसर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

सब व्यवहार होता है ब्रह्मकी कोई उपासनाएं अभ्युदयके लिये हैं कोई क्रममुक्ति के लिये हैं, कोई कर्म समृद्धि के लिये । ब्रह्म में तत्तद् गुणों का आरोपण करके ब्रह्म चिन्तन सगुणोपासन है । गुण विशेष रूप उपाधि के भेद से उन उपासनाओं में भेद माना जाता है और निषेध के योग्य गुणों का ध्यान निर्गुणोपासना यही वेदान्त शास्त्र का सिद्धान्त है । इसी लिये एक ही ब्रह्म सोपाधिक और निरुपाधिक भेद से उपास्य और ज्ञेय समझा जाता है अर्थात् वेदान्त शास्त्र में उपदिष्ट है । श्री विद्यारण्य मुनि ने भी पञ्चदशी ग्रन्थ के ध्यान दीप प्रकरण में उपसना विषय को स्पष्ट किया है । और भगवान पतञ्जलि महर्षि ने अपने योगदर्शन में इस विषय को विस्तर से लिखा है । अधिक जिज्ञासुओं को उक्त दोनों ग्रन्थ देखने चाहियें । जिज्ञासु उपासक जब वाह्य विषयों को छोड़ कर वाणी, मन, शरीर से श्रौतस्मार्त कर्मों को करके कर्म फल को ब्रह्मार्पण करता हुआ शुद्धान्तः करण हो जाता है, तब योगारूढ़ और शमादिसम्पन्न होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है अर्थात् मुक्त होजाता है । गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"निरिच्छ, एकाकी शान्तचित्त, योगी अपने मनको एकान्त में बैठ

महिमस्त्यात्मनात्मानं ततोयातिपरांगतिम् ॥ इति ॥
तथाचभोक्त्राद्यशेषभेदप्रपञ्चविलापनेनैवनिर्विशेषं ब्रह्मात्मानं जानीयादित्यर्थः । सएवपरमःपुरुषार्थ इतिदिक् ।

इतिउपासनाविषयः ।

अथ मुक्तिविषयः ।

अत्रोपक्रमएवं एवं परमेश्वरोपासनेन विद्याधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवोमुक्तिं प्राप्नोति, इति प्रत्यपादि श्रीमता दयानन्देनस्वामिना । अतोविज्ञायते-मुक्तिःकाचित्सती विशेषावस्था कैश्चित्कारणविशेषै र्जीवेनसमुपलभ्यते । अतःकारणविनाशेन तस्याअपिनाशःसम्भवति । निखिलतत्कारणानामप्यनित्यत्वमेव स्वीकर्त्तुं शक्यम् । अन्यथाकारणनित्यत्वेन तस्याअपिसदातनत्वेमुक्तसंसारिणोरविशेषापत्तिःस्यात्;संसारोच्छेदप्रसंगश्च । विनाशश्चास्याःस्पष्टतयाऽन्यत्रापि प्रतिपादितोदयानन्देन तत्सर्वंयथासम्भवं यथास्थानमस्माभि र्निरूपयिष्यते । अत्रपुनःसर्वशास्त्रविपरीतं युक्तिविरुद्धंचार्थंमोक्षस्यानित्यत्वंसाभिप्रायंप्रतिपादयन् अवहेलनामेवविद्याति

कर स्थिर करे ॥

इस प्रकार सदा मनको लगाता हुआ पाप रहित होकर सुख से ब्रह्म सम्बन्धी अत्यन्त सुख को पाता है ॥

आत्मा सब भूतों में है और सब भूत आत्मा में हैं- इस बात को समदर्शी योगी देखता है ॥ सर्वत्र स्थित ईश्वर को समानरूप से देखता हुआ जो आत्म विरुद्ध आचरण नहीं करता है वह पीछे मुक्ति को पाता है" ॥

तात्पर्य यह है कि भोक्तृत्व कर्तृत्वादि सब कल्पित भेद का नाश करके निर्विशेष ब्रह्मको जाने क्यों कि वही परमपुरुषार्थ है । इति संक्षेपः ॥ इति उपासना विषयः ॥

अथ मुक्ति विषयः ।

यहां प्रारम्भ में ही स्वामीजी ने "परमेश्वरोपासना, अविद्या और अधर्म की निवृत्ति होने से शुद्ध ज्ञान और धर्मानुष्ठान से जीव मुक्ति को पाता है" यह लिखा है । इस से मालूम होता है कि जीव की मुक्ति-एक अवस्थाविशेष है । और वह किन्हीं कारणों से जीव को मिलती है । इसी लिये कारणों के नष्ट होने से मुक्ति भी अनित्य है । मुक्ति के कारणों को

वेशास्त्राणाम् न केवलं शास्त्रविरोधोऽपितु मिथोविरोधोऽपि । सर्वेऽपिदार्शनिका नित्यत्वमेवमोक्षस्याविकल्पमङ्गीचक्रिरे । तार्किकास्तावदेकविंशतिदुःखध्वंसस्यैव मोक्षरूपतामाहुः । केचन पुनस्तेषां दुःखप्रागभावएवमोक्ष इतिवदन्ति । कारणविभागेभ्यो हि समुत्पद्यमानोध्वंसो न पुनः केनापि प्रतियोगिनाभावेन कदाचिन्निवर्त्यत इति । तदनिवृत्तौ न मुक्तस्य पुनः संसारापत्तिः । सादिरनन्तोऽभावो ध्वंस इति तत्स्वरूपं वर्णयन्ति तद्विदः । एवमात्यन्तिकदुःखध्वंसस्याप्यनन्तत्वे न त्वदभिलषितसिद्धिरिति भावः ! अपरेपरमेतदसहमानाः अशेषविशेषगुणध्वंसावधिकदुःखप्रागभावमेव मुक्तिमाहुः । नचायमसाध्यत्वान्न पुरुषार्थ इतिवाच्यम्, कारणविघटनमुखेन प्रागभावस्यापि साध्यत्वात् । ननु प्रागभावस्यसाध्यत्वे तदनादित्वेन प्रागभावत्वस्यैवक्षतिरिति चेत्, न । प्रतियोगिजनकाभावत्वेनैव तथात्वात् । प्रतियोगिनो घटादेर्जनको योऽभावः सएव प्रागभाव इत्यर्थे नोक्तदोष इति भावः । नहि प्रागभावश्चरमसामग्री कार्यस्य, येन तस्मिन्सति कार्यमवश्यं भवेत् । अन्यथा तस्याप्यनादित्वप्रसंगो

भी अनित्य मानना चाहिये । अन्यथा कारणों के नित्य होने से मुक्ति भी नित्य माननी पड़ेगी यदि ऐसा हो तो मुक्त और संसारी में कोई भेद न रहेगा और यदि एक २ जीव धीरे २ मुक्त होता गया तो सब संसार का ही उच्छेद होजायगा । मुक्ति का अनित्यत्व स्थलान्तर में श्री स्वामी दयानन्द ने बताया है । वह सब यथावसर निरूपित होगा । सब शास्त्रों के विपरीत और युक्तिविरुद्ध मोक्ष की अनित्यता का प्रतिपादन करके स्वामी जी ने सब शास्त्रों का तिरस्कार किया है । इस विषय में केवल शास्त्रविरोध ही नहीं किन्तु उनके कथन में परस्पर विरोध भी है । समस्त दार्शनिक मुक्ति की नित्यता को निःसन्देह मानते हैं । नैयायिक लोग इकीस दुखों के ध्वंस (अभाव) का नाम मोक्ष मानते हैं । और कोई तार्किक, दुःखों का प्रागभाव ही मोक्ष है- ऐसा कहते हैं । कारणों के विभाग से पैदा हुआ ध्वंसाभाव किसी प्रतियोगीरूप भाव से हटाया नहीं जासकता, यदि नहीं हटाया जासकता तो फिर मुक्त पुरुष संसारी नहीं हो सकता । सादि और अनन्त अभाव का नाम ही प्रध्वंसाभाव है । इस को अनन्त मानने से स्वामीजी की मुक्ति अनित्य नहीं होसकती । अन्य तार्किक लोग इस बात को न मान कर आत्मा के सब विशेष गुणोंके ध्वंसपर्यन्त दुःखों के प्रागभाव

दुर्वार एव स्यात् । अतएव तत्र जनकत्वं स्वरूपयोग्यतामात्रमेव ग्राह्यम् । तथाच यथा सहकारि विरहादिमन्तं कालं नाजीजनत्कार्यं तथाऽग्रेऽपि तद्विरहान्न जनिष्यति, हेतूच्छेदे पुरुषव्यापारादित्यस्यापि प्रागभावपरिपालन एव तात्पर्यात्। अतएव गौतमीयद्वितीयसूत्रे 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इत्यत्र कारणाभावात्कार्याभावाभिधानं दुःखप्रागभावरूपामेव मुक्तिं द्रढयति । नहि दोषापाये प्रवृत्त्यपायः, प्रवृत्त्यपाये जन्मापायः, जन्मापाये दुःखापायः, इत्यत्रापायो ध्वंसः किन्त्वनुत्पत्तिरेव । साच प्रागभाव एव । आत्मतत्त्वज्ञानात् सवासनमिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोरत्यन्तोच्छेदे नपुनः कदापि दुःखादेरुत्पत्तिः । तत्त्वज्ञानं च योगविधिसाध्यमिति तदर्थं प्रवृत्त्युपपत्तेश्च पुरुषार्थत्वमप्यस्य सिद्धम् । एवमेषामपि मते नित्यएव मोक्षः । कपिलपतञ्जलिबादरायणप्रभृतयस्तु नित्यमुक्तत्वमेवात्मनोऽङ्गीकुर्वते । असङ्गोह्ययं पुरुष इत्यादिश्रुतेः । तत्र न शङ्कापङ्ककलङ्कावकाशोऽपि मुक्तेरनित्यतायाः । मीमांसका अपि यादृशीं स्वर्गादिविशेषरूपां मुक्तिं मन्यन्ते, न भवान् तादृशीमपि । अतः स्पष्ट एव सर्वशास्त्र-

को ही मुक्ति मानते हैं । दुःख प्रागभाव को साध्य न होने से पुरुषार्थता नहीं है- यह शङ्का अयुक्त है क्योंकि अन्य कारणों के नाश द्वारा प्रागभाव भी साध्य होसकता है । (शङ्का) यदि प्रागभाव को साध्य माना जाय तो प्रागभावको अनादि होनेके कारण उसका प्रागभावत्वही नहीं रहेगा? (उत्तर) प्रागभाव में प्रागभावत्व, अनादिता के कारण हम नहीं मानते किन्तु प्रतियोगिजनकाभावत्वरूप से उस में प्रागभावत्व इष्ट है अर्थात् प्रतियोगी घटादि का उत्पादक जो अभाव वही प्रागभाव इष्ट है प्रागभाव कोई अन्तिम सामग्री नहीं है जिससे उसके होते हुए अवश्य कार्योत्पत्ति हो, यदि उसे अन्तिम सामग्री मानें तो अनादि मानना भी दुर्वार होगा । इससे उस प्रागभाव में जनकतास्वरूप योग्यतारूपा ही ग्राह्य है । इस प्रकार माननेसे जैसे उसने अन्य सहकारी कारणों के न रहने से इस समय तक कार्य को उत्पन्न नहीं किया वैसे ही उन २ कारणों के अभाव में अब भी पैदा नहीं करेगा । "पुरुष का काम दुःखों के हटाने में है" इस अभियुक्तोक्ति का भी यही तात्पर्य है । इसी लिये गौतम महर्षि के द्वितीय सूत्र " दुःखजन्म " इत्यादि में कारणाभाव से कार्याभाव का कथन दुःख प्रागभावरूप मुक्ति को

विरोधः । स्वविरोधः पुनः- सत्यार्थप्रकाशस्य नवमसमुल्लासे सर्गप्रलययोः सहस्राणां षट्त्रिंशत्कृत्वोयावान् कालः, स एव मुक्तेः कालः । तावतिकाले जीवस्तत्रानन्दं भुनक्ति, इति महत्याऽस्था प्रतिपाद्य, अत्रैव प्रकरणे "मुक्तेः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवः सदासुखी भवतीति बोध्यम्" इति प्रतिपादयन् सार्वकालिकं सुखित्वं जीवस्योररीचकार । नैतादृशविरोधस्य साक्षान्मतिविभ्रमस्य वा कश्चिदुपायः सम्भवी । मुक्तिश्च दुःखनिवृत्तिपूर्वकसुखावाप्तिरूपा अनित्याच काचिदवस्था जीवस्य यदि, तदा संसारिणोऽपि मुक्तत्वप्रसंगः । तस्यापि कदाचित् दुःखनिवृत्तिपूर्वकस्य सुखस्य सत्वात् । ननु निरुक्तकालावधिकस्य तादृशस्य तस्य मोक्षरूपतेति चेत्, न, तत्र प्रमाणाभावात् । इतरथाऽतिप्रसङ्गात् । एवं सर्वथापि प्रमाणशून्यत्वात् हेयमेव श्रेयोऽर्थिभिर्दयानन्दस्य प्रलपितमिति । यत्तु "जीवः परिच्छिन्नोऽनादिरनन्तश्च, ईश्वराद्भिन्नो, ज्ञानादिगुणैर्युक्तः, सुकृतदुष्कृतादिसम्पादने स्वतन्त्रः, तद्विपाकसुखदुःखाद्युपभोगेऽस्वतन्त्रः, ईश्वराधीनइति यावत्" इति प्रदिपादितम् । यच्च स्वरूपतो जीवात्मा न बद्धो नापिमुक्तः, दुरदृष्टाधीनतस्य शरीरादिधारणं, तद्योगाच्च सुखदुःखाद्युपभोगः,

---

ही पुष्ट करता है । सूत्रमें तत्तत् के अपाय-अभाव से दुःखका अपाय-ध्वंस रूप नहीं किन्तु अनुत्पत्तिरूप है और वह प्रागभाव ही तो है । आत्मा के तत्वज्ञान से वासना सहित मिथ्या ज्ञानरूप-संसार के कारण का नाश हो जाने से फिर दुःखादि की उत्पत्ति नहीं होती । तत्वज्ञान, योगविधि से सिद्ध होगा इसलिये परम्परया दुःखानुत्पत्ति के लिये प्रवृत्ति भी बन सकती है । इस प्रकार महर्षि गोतम के मत में भी मुक्ति नित्य ही है । कपिल, पतञ्जलि, व्यास आदि महर्षि तो "असङ्गोऽयं पुरुषः" इत्यादि श्रुति बल से आत्मा को मुक्त मानते ही हैं । उनके मत में मुक्ति के नित्य होने में कोई शङ्का ही नहीं । मीमांसकाभिमत मुक्ति भी आपको (दयानन्द को) इष्ट नहीं । इससे सब शास्त्रों का विरोध तो आपके मत में स्पष्ट ही है । अपने लेख में भी विरोध है, देखिये :—

सत्यार्थप्रकाश के नवें समुल्लास में लिखा है कि ३६ छत्तीसवार सर्गप्रलय का जितना काल है उतना ही मुक्तिका काल है उतने कालमें जीव आनन्द ही का भोग करता है- इस बातको बड़े विस्तर से प्रतिपादन करके फिर

धर्मादिना तदभावेचमुक्तेरवाप्तिः। तत्रापियदाशुश्रूषति, तदाश्रोत्रंजायते। यदा दिदृक्षति, तदाचक्षुरुत्पद्यते, एवंस्वविषयग्रहणाभिलाषकाले तत्तदिन्द्रियं समुत्पद्यते। सर्वमेतत्सत्यार्थप्रकाशस्य नवमसमुल्लासे प्रजल्पितम्। तत्रच प्रमाणत्वेन शतपथवाक्यमपिकिञ्चिदुद्धृतम्- "शृण्वन्श्रोत्रंभवति स्पर्शयन् त्वग्भवति पश्यन्चक्षुर्भवति" इत्यादि। सवमतत् यथायथं विचार मर्हतिः-जीवात्मनस्तावत् परिच्छिन्नत्वं कालकृतंनसम्भवति, तस्यानाद्यनन्तत्वाभावप्रसंगात्। अनित्यत्वेपुनः कृतहानोकृताभ्यागमादिदोषः प्रसज्येत। अतो दैशिकमेवतत्त्वं बोध्यम्। तत्र मध्यमपरिमाणवत्त्वे घटादिवदनित्यप्रसङ्गस्तदवस्थ एव स्यात्। तथाचाणुपरिमाण एव जीवात्मा इति सिद्धम्। तदप्ययुक्तम्। नास्त्यणुरात्मा: उत्पत्त्यश्रवणात्। श्रूयमाणाच्चोत्पत्तिः कस्यचित्परिच्छिन्नत्वं साधयेत्। नचात्र

यहां भूमिका में लिखते हैं कि "जीव, ईश्वर को पाकर सदा सुखी होता है" सावधिक सुख और सदा सुखमें भेदस्पष्ट ही है। इस विरोध या भ्रान्ति का कोई उपाय ही नहीं। स्वामी जी के मत में दुःख निवृत्ति पूर्वक सुख प्राप्ति ही मुक्ति है तो संसारी को भी मुक्त मानना चाहिये क्यों कि दुःख से छूट कर कभी २ वह भी सुखी हो जाता है, यदि कहो कि उक्त काल पर्यन्त निरन्तर सुख के होने का नाम मुक्ति है तो इस में कोई प्रमाण नहीं। अर्थात् इतने काल पर्यन्त जीव मुक्ति में रहता है इस में किसी शास्त्रादि का प्रमाण नहीं। इस लिये स्वामी जी का मुक्ति विषयक यहमत मुमुक्षुओं को सर्वथा छोड़ने योग्य है। आगे सत्यार्थ प्रकाश में नवम समुल्लास में लिखा है कि-"जीव, परिमित अनादि अनन्त और ईश्वर से भिन्न तथा ज्ञानादि गुणों से युक्त है, वह पाप पुण्य करने में स्वतन्त्र उनके फल सुखदुःख भोग करने में परतन्त्र अर्थात् ईश्वराधीन है। इन का मत है कि जीवात्मा स्वरूप से न बद्ध है न मुक्त है, शरीरादि का धारण करना धर्मा धर्म के अधीन है शरीरादि के होने से सुख और दुःख होते हैं। धर्म आदि के करने से शरीरादि के न रहने से मुक्ति मिलती है। मुक्ति अवस्था में जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र इन्द्रिय हो जाता है और जब देखना चाहता है तब चक्षु उत्पन्न होजाता है, इसी प्रकार अपने अपने विषयों के ग्रहण की इच्छा काल में वह २ इन्द्रिय उत्पन्न हो जाता है इति।

इस विषय में शतपथ ब्राह्मण के एक वाक्य को उद्धरण किया है "शृण्वन्

तत्स्यम्भवति । अतोनाणुत्वमात्मनः । प्रवेशस्तु परब्रह्मणः श्रूयते, 'तदात्मनानु प्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि' इति । तादात्म्यश्रवणाच्च परमेवब्रह्मजीव इति प्रतिपादितं भवति । अतोयावद्ब्रह्म तावानेवजीवोभवितुमर्हति । ब्रह्मणश्च विभुत्वमाम्नातम् । तस्माज्जीवोऽपि विभुर्बोध्यः । "सवा एष महानजआत्मा योऽयंविज्ञानमयः प्राणेषु" इत्येवं जातीयकाः श्रौताःस्मार्त्ताश्च जीवविषया विभुत्ववादाः समर्थिता भवन्ति । किंचाणोर्जीवस्य सकलशरीरगतवेदनाया अनुपपन्नत्वाच्चैतन्यं तस्य यदिसमस्तंशरीरं व्याप्नुयात्, तदा नाणुर्जीवः स्यात् चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ । नात्र गुणगुणिविभागः कल्पयितुं शक्यः । कल्पनायांतु गुणगुणिनोर्भेदत्वाश्वत्वयोरिवभेदाभ्युपगमात् भिन्ने जीवात्मनश्चैतन्ये त्वदभिमतश्चेतनो जीवःस्वरूपतोऽचेतनएव प्रसज्येत

श्रोत्रम्" इत्यादि । अब यहां पर विचार करना चाहिये :- जीवात्मा का काल के कारण परिच्छिन्नत्व- परिमित होना नहीं बनसकता । क्यों कि ऐसा मानने से उस का अनादि अनन्त भाव नष्ट हो जायगा । जीव को अनित्य मानने से "कृत हानि और अकृताभ्यागम अर्थात् किये हुये का नाश और बिना किये की प्राप्ति- ये दो दोष लगेंगे" इस लिये देश कृत परिच्छिन्नता ही मानसकते हैं, सो यदि मध्यम परिमाण वाला जीवात्मा को माना जाय तो घटादि के तुल्य अनित्यता की प्रसक्ति होगी इस लिये अणुपरिमाण जीवात्मा को मानना पड़ेगा-सो भी अयुक्त है। उत्पन्न नहीं होता इससे आत्मा अणु नहीं है, यदि आत्मा उत्पन्न होता अर्थात् इसकी उत्पत्ति सुनी जाती तो इसका परिच्छिन्न भाव बन सकता था । हां परमात्मा का प्रवेश तो श्रुति में श्रुत है "तदात्मनाऽनुप्रविश्य,, इस श्रुति में तदात्मता के श्रवण से जीव ब्रह्म ही है-यह सिद्ध होता है । इससे जितना वा जैसा ब्रह्म है उतना वा वैसा ही जीव होना चाहिये । ब्रह्म को सब विभु मानते ही हैं इससे जीव भी विभु मानना चाहिये । "सवा एष" इत्यादि श्रुतियां जीव को विभु बता रही हैं । दूसरा दोष यह है कि यदि जीव अणु माना- जाय तो सब शरीर गत दुःख का अनुभव नहीं बन सकता' उसका चैतन्य ज्ञान ही सब शरीर को व्याप्त करता है-यदि ऐसा माना जायतो जीवात्मा- अणु नहीं हो सकता, क्यों कि चैतन्य ही तो आत्मा का स्वरूप है-जैसे अग्नि के उष्णता और प्रकाश । इस स्थल में गुण और गुणी का भेद नहीं

एतेन 'ज्ञानादिगुणैर्युक्तो जीवात्मा' इति यदुक्तं, तदपि निरस्तं बोध्यम् । एवं शरीरपरिमाणस्यानित्यत्वादिदोषप्रसक्तेरनिष्टत्वात् प्रत्याख्यातत्वाच्च विभुरेवजीव इतिसिद्धम् । तत्र तत्राणुत्वादिव्यपदेशस्तु दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायं बुद्ध्याद्युपाध्यभिप्रायं वा द्रष्टव्यम् । तथैवाम्नानादिति सर्वमवदातम् । ब्रह्मस्वरूपतायां च जीवात्मनः स्वरूपतोनायंबद्धो न मुक्त इति यदुक्तं तदप्यपास्तम्, तस्य नित्यमुक्तत्वात् ॥ मोक्षे श्रोत्रादीन्द्रियजनिस्तु दयानन्दस्य मातुलगृहमेव मोक्ष इति विस्पष्टयति । नहि देहाभावे श्रोत्रादीन्द्रियजननं सम्भवति । अतस्तदभ्युपगमे देहाभ्युपगमोऽप्यवश्यं वाच्यस्तत्रेति कोभेदः स्यात्संसारमोक्षयोः । देहादिसत्त्वेच दुःखादेरप्यवश्यंभाव इति साधीयश्चैवं कल्पितं भवति मोक्षस्य स्वरूपं मुण्डिमतेनेति । निरुक्तब्राह्मणवाक्यं कथमेतस्यार्थस्य साधकमिति विद्वांसएव विचारयन्तु । 'शृण्वन्' इत्यादिपदेषु नहि कश्चिदिच्छार्थकः प्रत्ययः श्रूयते । किंचेच्छासत्त्वे मुक्तिरेव न सम्भवति । मोक्षत-

कल्पित होसकता, यदि उनके भेदकी कल्पना करें तो जीव स्वयम् जड़ मानना पड़ेगा अर्थात् गोत्व अश्वत्व के तुल्य भेद मानने से जीव में जड़त्व प्रसक्त होगा । इससे "ज्ञानादि गुणों से युक्त जीवात्मा है" यह कथन खण्डित हो जाता है । यदि शरीर तुल्य परिमाण वाला जीव माना जाय तो अनित्यतादि दोष लगेंगे सो अनिष्ट हैं और खण्डित हैं इस लिये जीव को विभु मानना ही युक्ति सिद्ध है । जहां तहां श्रुतियों में अणुत्वादि व्यवहार होता है वह जीव सूक्ष्मता वा दुर्ज्ञानता वा बुद्धि आदि उपाधि के अभिप्राय से है । ऐसा ही शास्त्रों में वर्णित है । जब जीव ब्रह्मस्वरूप ही ठहरा तो यह कहना कि "जीवात्मा स्वरूप से न बद्ध है न मुक्त है" असंगत है है क्योंकि वह तो नित्य मुक्त है । 'मोक्ष होने पर भी श्रोत्रादि इन्द्रियां उत्पन्न हो जाती हैं' यह दयानन्दोक्ति है । मालूम होता है- स्वामी जी का मोक्ष, उनका मामा का घर है अन्यथा यह विचित्र बातें कैसे मालूम होतीं ? भले आदमी ! जब देह ही नहीं रहा तो श्रोत्रादि इन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे होसकती है ? यदि श्रोत्रादि इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं तो देह भी उत्पन्न होता होगा! यदि देह भी मोक्षमें रहै तो संसारी और मुक्त में भेद ही क्या रहा ! देहसत्ता में दुःखादि अवश्य होंगे, फिर तो मोक्ष का निरूपण आपने खूब किया जरा विद्वान् लोग विचारें कि " शृण्वन्श्रोत्रं भवति "

त्वज्ञाः सर्वेऽपि शास्त्रविदो मुक्ताविच्छाऽभावमवश्यमामनन्ति । अयंतु सर्वथापि निरंकुशएव सर्वत्र धावति । कीदृशोयं मोक्ष आर्यसामाजिकानां यत्र ब्रह्मानन्दप्राप्तावपि इच्छादयो वर्त्तन्त एव । वस्तुतो बालबुद्धिविजृम्भणमात्रमेतत् । मोक्षश्च पुनर्नित्यएव सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यत इति । किंच "एषह्येव साधुकर्मकारयति यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एषह्येवासाधु कर्मकारयति तं यमधोनिनीषते" "अज्ञोजन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव च" इत्यादिश्रुतिस्मृतिविपरीं जीवात्मनः स्वातन्त्र्यं प्रतिजानानः बुद्ध्यादेः सन्मार्गप्रवृत्तये परमेश्वरस्य प्रार्थितत्वेन च स्वोक्तविरीतं, आत्मनः स्वातन्त्र्यमभिमन्यमान एव निरर्गलमर्थजालं निरूपयामासेति हढं मन्यामहे इति । अथ च तादृशसुखस्यभुक्तये जीवात्मनि सामर्थ्याभावात्, अनित्यकर्मणामनित्यफलकत्वात्, संसारोच्छेदप्रसंगात् सन्मार्गप्रवर्त्तकत्वाभावप्रसक्तेः, भारहानुसरित्स्नेहवन्मुक्त्यर्थस्य कर्मणोभुक्त-

---

इत्यादि शतपथ वाक्य, उक्तार्थ साधक कैसे है ? शृण्वन् इत्यादि पदोंमें कोई भी इच्छार्थक प्रत्यय नहीं है। यदि इच्छा ही रहे तो मुक्ति ख़ाक हुई। मोक्षतत्व को जानने वाले सब शास्त्रवेत्ता मोक्षमें इच्छाका अभाव मानते हैं परन्तु स्वामी दयानन्द तो सर्वथा निरंकुश है और सर्वदर्शनशास्त्र बहिष्कृत है, चाहे सो लिख मारता है। यह आर्यसामाजिकों का कैसा मोक्ष है जिस में ब्रह्मानन्द प्राप्ति होजाने पर भी इच्छादि गुण बने रहते हैं ! यह तो सचमुच बालकों का विलास है । समस्त मोक्षवादी एक स्वर से मोक्ष को नित्य मानते हैं। और देखिये श्रुति लिखती है :—

"इन लोकों से जिस जीवको उन्नत करना चाहता है उसी जीव से यह परमात्मा अच्छे कर्म करवाता है और जिसे नीचे ढकेलना चाहता है उस से बुरे कर्म करवाता है"।

स्मृति में लिखा है।—

"अज्ञानी जीव अपने सुख दुःखों के उपभोग में स्वयं असमर्थ है ईश्वर से प्रेरित होकर ही स्वर्ग में जायगा या नरक में"।

इत्यादि श्रुति स्मृतियों के विरुद्ध, जीवात्माके स्वतन्त्र होनेकी प्रतिज्ञा की है और फिर जहां तहां "आर्याभिविनय" आदि ग्रन्थोंमें अपने मन्तव्य के विरुद्ध, ईश्वर से प्रार्थना की है कि हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रवृत्त

फलस्य कस्यचिदवशिष्टत्वाच्च पुनरावर्त्तत एव जीवो मोक्षादिति दयानन्दलद्नुयायिनां महतीयं कल्पना। तत्रादावेव संसारिवत्सुखोपभोगं मुक्तौ मन्यमानो मुग्धो किमिति निविडमलापहतं हृदयं प्रक्षालयेत्। ब्रह्मरूपतायां जीवात्मनः प्रतिपादितायां कुतः सामर्थ्याभाव इति नात्मीकृतम्। आनन्दादिस्वरूप एवात्मा, नहि स नैमित्तिकं सुखमश्नुते। तथा च न मोक्षोऽनित्यस्यकर्मणः फलम्। इदन्त्वनुष्ठेयकर्मफलविलक्षणमेव मोक्षाख्यं नित्यमिति। यदि ज्ञानस्वरूपो मोक्षाख्यश्च स आत्मा क्वचित्कर्त्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्त्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत अनित्य एव तदा स्यात्। तथा सति तत्तदुक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्ये कश्चिदतिशयोमोक्ष इति प्रसज्येत। नचैवं क्वचिदपि मोक्षवादिभिरभ्युपगतम्। अतः शास्त्रं चापि प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयता अविद्या कल्पितं च वेद्यवेदित्रादिभेदमपनयता संसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्नमोक्षस्या-

कर। यदि जीवात्मा स्वतन्त्र ही है तो प्रार्थना से क्या प्रयोजन ?।

स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी मानते हैं :—

(१) सार्वदिक सुख को भोगने की सामर्थ्य जीवात्मा में नहीं— इस लिये मुक्ति अनित्य है।

(२) अनित्य कर्मों का फल अनित्य ही होना चाहिये—इस लिये मुक्ति अनित्य है।

(३) यदि नित्य मानी जाय तो कदाचित् संसारका उच्छेद होजायगा।

(४) यदि मुक्ति से लौट कर जीव न आवें तो श्रेष्ठ मार्गका उपदेश वास्तविक कौन दे सकता है।

(५) जैसे भांडे में कुछ न कुछ स्नेहांश बच ही जाता है इसी प्रकार कुछ कर्म बचे रहते हैं जिनके कारण पुनरावृत्ति होती है।

इन अकुओं से पूछना चाहिये कि यदि कुछ काल के लिये ही मुक्ति होती है तो संसारी और मुक्त में क्या भेद रहा ऐसी मुक्तिके लिये दूषित हृदय को क्यों धोया जाय जब जीव ब्रह्मस्वरूप ही है तो सामर्थ्याभाव कहना असंगत है। आत्मा आनन्दादि स्वरूप है, वह नैमित्तिक सुख का उपभोग नहीं करता। मोक्ष अनित्य कर्म का फल नहीं है। जो कर्म किये जाते हैं उनके फलसे विलक्षण ही मोक्षाख्य फल है। किसी कर्तव्य कर्म का

नित्यत्वदोषः । यस्य तूत्पाद्यो विकार्योवामोक्षः स्यात् तस्यमानसंवाचिकंका-
यिकंवाकार्यमपेक्षत इति युक्तम् । तयोश्चपक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम् । न-
हि दध्यादि विकार्यं,उत्पाद्यं वाघटादि क्वचिन्नित्यंदृष्टंलोके । नचाप्यत्वेना-
प्यत्र कार्यापेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात् । स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेपि
ब्रह्मणोनाप्यत्वम् । सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात् ब्रह्मणः आकाशस्येव ।
नापिसंस्कार्योमोक्षः, येनव्यापारमपेक्षेत । संस्कारोहिनामसंस्कार्यस्यगुणाधाने-
न वास्याद्दोषापनयनेनवा । नतावद्गुणाधानेन सम्भवति, अनाधेयातिशयब्र-
ह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य । नापि दोषापनयनेननित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य ।
तस्मात्क्रियायागन्धलेशोऽपि मोक्षे नास्तीत्यर्थः । अतएवतस्यनित्यत्वमिति ।
सर्वंचैतत् समन्वयाधिकरण एव श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यैर्लोकानुग्रहकाङ्क्षया
समुदीरितम् । अधिकं जिज्ञासुभिस्तत्रैव प्रयत्यतामिति । संसारोच्छेदे च दु-
यानन्दस्य कोक्षतिरिति नावगच्छामः । अस्माकन्त्विष्टापत्तिरेव । किंच मुक्तः
पुनरावृत्त्य यदि नागच्छेत मुक्तेन, तदा मुक्तिसुखस्येहत्यैः सर्वैरननुभूतत्वात्
तदुपदेष्टा कःस्यात् इत्यविलक्षितं सुविशदीकृतमात्मनश्चातुर्यम् । मोक्षो-

पेक्ष आत्मा नहीं है जिस से मोक्ष को साध्य या अनित्य मान लिया जाय ?
मोक्षवादी लोग किसी कर्म का फल मोक्ष को नहीं मानते । शास्त्र-वेदान्त
शास्त्रादि भी अविद्या परिकल्पित वेद्यवेदित्रादि भेद को दूर करता हुआ
और आत्मा के संसारित्व को हटाता हुआ मोक्ष को नित्य ही मानता है ।
जिस के मत में दही आदि के तुल्य विकार्य वा घटादि के तुल्य उत्पाद्य मो-
क्ष हो उस के मत में मानसिक, वाचिक वा कायिक कर्म का फल मोक्ष हो
सकता है और अनित्य माना जा सकता है । यदि मोक्ष को प्रापणीय माना
जाय तो भी कर्मापेक्षा हो सकती है परन्तु मोक्ष तो आत्मस्वरूप होने से
अप्राप्तव्य है यदि ब्रह्म को आत्मा से भिन्न माना जाय तो भी वह ब्रह्म अ-
नाप्य है क्यों कि वह आकाश के तुल्य सर्व गत होने से नित्य आप्त ही है ।
मोक्ष, संस्कार्य-संस्कार करने योग्य पदार्थ भी नहीं है, जिस से व्यापार
की अपेक्षा हो । संस्कार्य वस्तु का संस्कार दो प्रकार से ही हो सकता है
(१) किसी गुण के आधान से अथवा (२) संस्कार्य वस्तु के दोषों के दूर
करने से । सो ये दोनों मोक्ष में नहीं बन सकते क्यों कि मोक्ष-ब्रह्म स्वरूप
ही है । ब्रह्म में न किसी गुण का आधान हो सकता है, न कोई दोष है जिसे

पदेष्टुरस्य स्वस्य मुक्तत्वख्यापने समीचीनोऽयं प्रकारः । प्राकृतानां मास्थाऽप्यव-मविकल्पमुत्पद्यते । सत्पथप्रवर्त्तकत्वं तु वस्तुतो जीवन्मुक्तेष्वेव पर्यवसि-तम् । नित्यमुक्तायां पुनर्नोभयोरपि कश्चनविशेषः । येन प्रेरिता मुक्ताः पुनः शरीरपदमापद्येरन् तत्वान्युपदेष्टुमिति । यत्तु श्लिष्टकर्म-वशादेवपुनरावर्त्तेत इत्युक्तम् । तदप्ययुक्तम् । प्रमाणाभावात् । विपर्ययेचसह-स्रशः प्रमाणान्युपलभ्यन्ते ।—"क्षीयन्तेचास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे" (मुण्ड० । २ । २ । ८) "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्नबिभेतिकुतश्चन" (तैत्ति०२९) "अभयं वैजनक प्राप्तोऽसि"(बृह० ४ । २। ४)"तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति" "तत्रकोमोहःकःशोक एकत्वमनुपश्यतः" (यजुः ४० । ७) इत्येवमाद्याः सर्वा अपिश्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरमेवमोक्षं प्रदर्शयन्त्योमध्ये सर्वथापिकर्माऽन्तरं वारयन्ति । अतएवमहर्षिणा कृष्णद्वैपायनेनापि ब्रह्मसूत्रे चतुर्थस्यप्रथमे "तद-धिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौतद्व्यपदेशात्" (१३)इति प्रतिपादितम् । अस्यायमर्थः- ब्रह्माधिगमेसति उत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः,उत्तर-स्याश्लेषः,पूर्वस्य विनाशः । कस्मात् । तद्व्यपदेशात् । तथाहि ब्रह्मविद्या-प्रक्रियायांसंभाव्यमानसंबन्धस्यागामिनो दुरितस्यानभिसम्बन्धं विदुषोऽप-

हटाया जाय, इस लिये मोक्षमें कर्मका गन्ध भी नहीं है अतएव मोक्ष नित्य है । ये सब बातें समन्वयाधिकरणमें भगवान् शंकराचार्य ने लिखी हैं अधिक जानने वालों को वहां ही देखना चाहिये ।

"धीरे २ मुक्ति होने पर सब संसार का उच्छेद होजायगा" यह भी मुक्ति नित्यत्ववादी के प्रति दयानन्दसमुद्भावितदोष है । परन्तु यदि संसार का उच्छेद होजाय तौ दयानन्द की क्षति क्या है ?"सर्वोऽपि लोकोऽभ्युद-येन युज्येत का नो हानिः" । हमें इस विषय में इष्टापत्ति है । यदि मुक्ति से लौट कर मुक्तजीव नहीं आवेंगे तो बद्ध जीवों को मुक्ति सुख कौन बता-वेगा ? यह एक विलक्षण प्रश्न है और अपने आपको मुक्त होने की घोषणा का खासा ढंग है ! इसढंग से साधारण लोगों की आस्था भी बढ़सकती है पर यह सब बालव्यामोहन है । सत्पथ में प्रवृत्ति कराने वाले जीवन्मुक्त हो सकते हैं, विदेहमुक्तों को लौटने की आवश्यकता नहीं । दोनों प्रकार के मुक्त, वस्तुतः नित्य मुक्त ही हैं । "कुछ ऐसे कर्म बचे रहते हैं जिन से मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है"इस कथन में कोई श्रुत्यादि प्रमाण नहीं

पदिशतिश्रुतिः "यथापुष्करपलाश आपोनश्लिष्यन्त एवमेवंविदिपापं कर्म न-श्लिष्यते" (छा० ४ । १४ । ३) एवं पूर्वोपचितस्यदुरितस्य विनाशमपि व्य-पदिशति । 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्यसर्वेपाप्मानःप्रदूयन्ते" (छा० ५ । २४ । ३) इति । अत्रबन्धहेतोर्दुरितस्य स्वाभाविकस्याश्लेषविना-शौज्ञाननिमित्तौ शास्त्रव्यपदेशान्निरूपितौतत्तथैव । परं धर्मस्यपुनः शास्त्रीय-त्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोध इति तस्याश्लेषविनाशौ न सम्भवतस्तद्वशा-च्चावृत्तिरेव मुक्तात्मनइत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय पूर्वन्यायातिदेशः क्रियते "इतरस्याप्येवमसंश्लेषःपातेतु" इति । इतरस्यापि पुण्यस्यकर्मण एवमघ-वदसंश्लेषो विनाशश्चज्ञानवतोभवतः । तस्यापिस्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्र-तिबन्धकत्वप्रसङ्गात् । "उभेउहैवैष एतेतरति" (बृ० ४ । ४ । २२) इत्यादि-श्रुतिषुच दुष्कृतवत्सुकृतस्यापि प्रणाशव्यपदेशात् । इतिसर्वंसेतच्छाङ्करभाष्ये-विस्तरतोनिरूपितम् । अधिकेप्सुभिस्तदेवालोडनीयम् । तस्मात्सिद्धं न ज्ञानिनःकर्मावशिष्यते किञ्चिदिति । अतएवत्वदुक्तेरपास्तत्वात्कारणा-भावान्न पुनरावृत्तिर्मुक्तात्मनः । अतएवच "नचपुनरावर्त्तते नचपुनरा-वर्त्तते" अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' (ब्रह्म० ४ । ४ । २२) "तत्र

है । और इसके विपरीत हजारों प्रमाण हैं, जिन में से कुछ मूल ग्रन्थ में देखलेने चाहियें ।

इसी लिये महर्षि व्यास ने अपने ब्रह्मसूत्रों में ४ थे अध्याय के पहले पाद में "तदधिगम०" यह १३ वां सूत्र लिखा है । इस सूत्र का यह अर्थ है कि:—

"ब्रह्म प्राप्ति होने पर पहले पिछले दोनों प्रकार के पाप वा कर्मों का सम्बन्ध नहीं रहता । अगले का सम्बन्ध होता नहीं और पहले का नाश होजाता है क्यों कि "यथापुष्कर०" इत्यादि श्रुतियों में ऐसा ही वर्णित है । इसी प्रकार शास्त्र में मूलोक्त प्रकार से धर्म का सम्बन्ध भी नहीं रहता यह प्रतिपादित है । यह सब शाङ्कर भाष्य में विस्तार के साथ लिखा हुआ है । अधिक जानने वालों को शाङ्कर भाष्य ही द्रष्टव्य है । इस से सिद्ध है कि ज्ञानी को कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं रहते । पूर्वोक्त प्रकार से स्वामी जीकी सब युक्तियां खण्डित होचुकीं । इस से सिद्ध है कि मुक्तात्मा की पुनरावृत्ति में कोई कारण नहीं । मुक्ति के नित्य होने में मूलोल्लिखित

प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः" (सांख्य० १ । २३) । "वीतरागजन्मादर्शनात्" (न्याय० ३ । १ ।) । "अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति विभज्य वचनीयमेतत् । प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यते इतरस्तु जनिष्यते" (योग० ४ । ३३) इत्यादयः शास्त्रवादा अपि समर्थिता भवन्ति । तथा च मोक्षस्य नित्यत्वमेव सर्वशास्त्रसिद्धम् । तदेवमसारतरतर्कसंदृब्धत्वान्नित्यमुक्तिप्रतिपादकश्रुतिविरुद्धत्वात् श्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैः कैरप्यपरिगृहीतत्वात् स्वोक्तविरोधित्वाच्चात्यन्तमनपेक्षाऽस्मिन्ननित्यमोक्षवादे कार्या श्रेयोर्थिभिरिति दिक् ॥

इति संक्षेपतो मुक्तिविषयः ।

अथ 'नौविमानादिविद्याविषयः' संक्षेपतो निरूपितः तत्र च वेदेषु नौविमानादीनां तथान्येषामपि विविधयन्त्राणां रचनादिप्रकारो यथायथं समुपलभ्यत इत्येव सविश्रम्भमुपन्यस्तम् । तत्र नास्माकमपि कश्चिद्विवादः सर्वविद्यास्थानभूतेषु सर्वज्ञकल्पेषु वेदेषु तदपि सम्भवत्येव । परं तत्र तत्र श्रुतिव्याख्याने स्खलितमेव दयानन्देन । तत्सर्वं विद्वद्भिः स्वयमेव विवेच-

---

ब्रह्मसूत्र, सांख्यसूत्र, न्यायसूत्र, और योगसूत्रों का व्यास भाष्य भी प्रमाण है । इस से मोक्ष का नित्यत्व सर्वशास्त्रसंमत है । मुक्ति के अनित्यत्व वाद में आस्तिकों को सर्वथा अश्रद्धा करनी चाहिये । क्यों कि यह वाद (१) निःसारतर्कयुक्त है (२) श्रुतिविरुद्ध है । (३) वेदज्ञशिष्टों से अपरिगृहीत है (४) स्वामी दयानन्द की उक्तियों से परस्पर भी विरुद्ध है।

इति संक्षेपतो–मुक्तिविषयः ।

अथ नौविमानादिविद्याविषयः ।

इसके अनन्तर नौका विमानादि विद्याओं का संक्षेप से निरूपण किया है । सो वेदों में विमानादि तथा अनेक प्रकारके यन्त्रों का रचनादिप्रकार मिलता है–यही बात विश्वास पूर्वक लिखी गई है । इस विषय में हमारा कोई विवाद नहीं । सब विद्याओं के स्थान, सर्वज्ञ तुल्य वेदोंमें यह सब कुछ होसकता है, परन्तु इस विषय में भी वहां २ श्रुति व्याख्यान करते समय स्वामीजी गड़बड़ा गये हैं । विद्वान् लोगों को वह सब देखना चाहिये । खोजते २ स्वामीजी को तार विद्या भी मिलगई है । तार विद्या निकालने का साहस इस लिये हुआ कि 'तार' शब्द एक मन्त्र में आगया । पर यह तार

णीयम्। एवमन्वेषमाणेन मुण्डिना वेदेषु तारविद्याऽपि समुपलब्धा। तादृश-साहसं च वेदे तारशब्दमवलोक्यैव कृतवानिति प्रतीयते। परमयं तारशब्दः किं-देशीय इति न विचारितम्। पदैकदेशस्यास्यार्थोऽपि कश्चिद् भवितुमर्हति न वेति न चिन्तितम्। यस्मिन्मन्त्रे तत्पदं तमेव विद्वांसः समवलोकयन्तु, कथमयमर्थस्तस्य सम्भवतीति। मन्त्रस्त्वयम्:- "युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः। शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्" ऋ० अष्ट० १ अ० ८ व० २१ म० १०

अत्र हि 'तॄ प्लवनसंतरणयोः' इत्यस्मात् तृचि प्रत्यये 'ग्रसितस्कभितेत्यादौ निपातनात् तरुतृ शब्दस्य द्वितीयैकवचने तादृशरूपसिद्धिः। ततोऽशमेकमादायैव तारविद्यायाः प्रादुर्भावः। सचायुक्तः सर्वथापि पदैकदेशस्य क्वापि सार्थक्यानभिधानादाभिधानिकैः। विद्वांस एव सत्यासत्ये निर्धारयन्तु इति। इतः परं सप्तभिः प्रकरणैः यथाक्रमं वैद्यकशास्त्रपुनर्जन्मविवाहनियोग राज-प्रजाधर्मवर्णाश्रमधर्मपञ्चमहायज्ञानां च निरूपणं स्वाभिमतमकारि। तत्रास्माकं नियोगं विविच्य न क्वापि विवादः। परं तत्र तत्र व्याकरणादिशास्त्र-समुपेक्षणं, शब्दविरुद्धार्थप्रतिपादनं पुरातनमहर्षिप्रतिपादितानामर्थानां च

शब्द किस देश का है इस बात का विचार नहीं किया। पदके एक देश भूत तार' का अर्थ भी कुछ होने योग्य है वा नहीं यह भी नहीं सोचा। जिस मन्त्र में तार पद है उसी को विद्वान् लोग देखें और विचारें कि यह अर्थ हो सकता है या नहीं। मन्त्र यह है "युवं पेदवे०' इत्यादि। इस मन्त्र में "तॄ प्लवनसं-तरणयोः" इस धातु से तृच् प्रत्यय करने पर निपातन से द्वितीया के एक वचन में "तरुतारम्" ऐसे रूप की सिद्धि होती है तरुतारम्' पद में से एक अंश तार शब्द को लेकर तार विद्या निकल पड़ी! पद का एक देश कहीं सार्थक नहीं होता इस लिये ऐसी व्याख्या अयुक्त है व्याकरणादि के जानने वाले झूंठ सत्य का निर्णय करें॥

इसके बाद स्वामी जी ने क्रमसे सात प्रकरणों से (१) वैद्यकशास्त्र (२) पुनर्जन्म (३) विवाह (४) नियोग (५) राजप्रजाधर्म (६) वर्णाश्रमधर्म (७) पञ्चमहायज्ञ, इन विषयों का निरूपण अपने मतानुसार किया है। हमें नियोग को छोड़कर कहीं विवाद नहीं करना है। परन्तु उक्त विषयों में भी उच्छृंखल बर्ताव करने में स्वामी जी न चूके। पुराने ऋषियों

परित्याग इत्येते दोषाः स्वयमेव सूक्ष्मेक्षिकया निभालयद्भिर्विद्वद्भिरवश्यं विवेचनीयाः । नियोगस्त्ववैदिक एव प्रमाणाभावादिति नो मतम् । ननु बहूनिप्रमाणान्युपस्थापितानि वेदादीनां, ऋगादिषुच बहुत्रायमर्थः प्रतिपादितो विस्तरेण । तथाच ऋग्वेदे- "उदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकं" इत्यादिः । (म० १० सू० १८ मन्त्र ८) । अस्यायमर्थः- (उदीर्ष्वना०) हेविधवे ! नारि ! (एतं) (गतासुं) गतप्राणंमृतं विवाहितंपतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोकं) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि (उपशेष) तस्यैवोपशेषे संतानोत्पादनाय वर्त्तस्व तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहेसंगृहीतहस्तस्यपत्युःस्यात् यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानंभवेत् (तवेदं) इदमेव विधवायास्तव (जनित्वं) संतानं भवति ! हे विधवे ! धिगतविवाहितस्त्री कस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थंत्वं (उदीर्ष्वं) विवाहितपतिमरणानन्तरमपि नियोगमिच्छ तथा (अभिसंबभूथ) सन्तानोत्पत्तिकृत्वा सुखसंयुक्ता भव" इति । एवं सत्सु वैदिकेषु प्रमाणेषु प्रमाणाभावत्वकथनं साहसमात्रमितिचेत् ? अत्रोच्यते:- नायं मन्त्रार्थः कथमपिशाधीयान्सं भवति ।

के किये अर्थ को छोड़कर नई खिचड़ी पकाई है । व्याकरणादि के विरुद्ध मन माना अर्थ किया है इस बात को सूक्ष्मदर्शी विद्वान् स्वयं जान लेंगे ॥ अस्तु नियोग का प्रतिपादनतो सर्वथा अवैदिक ही है क्योंकि वस्तुतः इसमें कोई वेदमन्त्र प्रमाण नहीं । यद्यपि स्वामी जी ने बहुत से प्रमाण वेदादिकों के दिये हैं, ऋग्वेदादि में से बहुत स्थानों पर इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन उन्हों ने किया है परन्तु यह उनका साहसमात्र है आपने ऋग्वेद का 'उदीर्ष्वं नारि०" यह मन्त्र प्रमाण में पेश किया है और इसका अर्थ किया है कि :-

"हे विधवे ! तू मरे हुए पति को छोड़ कर दूसरे पति को प्राप्त हो । और संतानोत्पत्ति के लिये बर्ताव कर । द्वितीय पतिसे उत्पन्न सन्तान पूर्व पति का हो अथवा नियुक्त पति का हो और यही तेरा विधवाका सन्तान हो हे विधवे ! तू पति के मरने के बाद नियोग की इच्छा कर । और सन्तान पैदा करके सुखी हो" ॥

यह मन्त्रार्थ नहीं किन्तु धींगा धींगी है । यह मन्त्र का अर्थ कभी हो नहीं सकता । यह भी तो नहीं बताया कि इस मन्त्र का किस में विनियोग

नचैतत्प्रतिपादितमस्यकस्मिन्कर्मणि विनियोगः? इति। किञ्च "एतं" "गतासुं" इति पदद्वयमतीकत्वेन सन्निधाय 'गतप्राणंमृतंविवाहितपतिंत्यक्त्वा' इत्ययं सर्वथाऽपिनिरर्गलोऽर्थः कुतःआनायिदयानन्देनेतिनज्ञायते। इत्थंनकेवलमत्रैवा-पितु सर्वेषामपि पदानामियमेव दयनीयादशादयानन्दपक्षे। तत्तदर्थप्रति-पादनायंतानिबलादिव नियुज्यन्ते शक्त्यभावेऽपीत्यहोऽप्रतिमप्रभावोमुण्डिनः अपिच 'दिधिषो'रित्यस्य 'तस्यैवसन्तानंभवेदि' त्यर्थंनिरूपयन्पुंसोऽपिसन्ता-नस्य क्लैव्यमापादयतीति प्रत्यक्षमेवफलं नियोगस्य विदुषां नातिविस्मयकरम् उदीर्ष्वेति क्रियापदस्येच्छार्थकत्वं मनः कल्पितत्वात्त्याज्यमेव। वस्तुतस्त्वयमे-वार्थो निरुक्तस्यमन्त्रस्य सम्भवति। तथाहि- इयंहिऋक् पितृमेधाभिधायिनी-त्यतस्तद्देवताका एव। पूर्वंत्वष्टदेवत्ययैकया ऋचामृतस्यपुत्रपौत्रादीनाशीर्भि-रभ्यर्च्य एतत्प्रकरणमारभते तत्रेयं प्रथमा-"इमानारीरविधवाःसुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषासंविशन्तु। अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्नाआरोहन्तुजनयो योनिमग्रे" इति। अस्यायमर्थः— अविधवाः जीवद्भर्तृकाः सुपत्नीः शोभनपतिकाः इमानारी नार्यः आंजनेन सर्वतोऽजनसाधनेनसर्पिषाघृतेन अक्तनेत्राः सत्यः सं-विशन्तु स्वगृहान् प्रविशन्तु। तथा अनश्रवः अश्रुवर्जिताः अरुदत्य इत्यर्थः अनमीवारोगरहिता मानसदुःखवर्जिता इत्यर्थः सुरत्ना शोभनधनसहिताः

है ! 'एतं' और 'गतासुं' इन दो पदों को लेकर-'मरे विवाहित पति को छोड़ कर' इतना अर्थ कैसे निकल पड़ा, यह बात दयानन्दियों से ही पूछना चाहिये ! यहां नहीं किन्तु सर्वत्र पदों की यह ही दयनीय दशा दयानन्द के मतमें है। उस २ अर्थ को प्रतिपादन करनेके लिये शक्ति न रहने पर भी वे २ पद जबर दस्ती लगाये जाते हैं। यह स्वामीजी का ही अनुपम प्रभाव है। 'सन्तान' इस पुंल्लिङ्ग शब्द को नपुंसक बनाना—स्वामीजी का उप-हासास्पद है। 'उदीर्ष्व' इस क्रिया पद का "इच्छा" अर्थ करना मनःकल्पि-त होने से त्याज्य है! वस्तुतः इस मन्त्र का जो अर्थ हो सकता है वह यह है:-

यह ऋचा "पितृमेध" को बताने वाली है इस लिये इसका देवता पितृ-मेध ही है, इससे पहले त्वष्ट देवताक एक ऋचा से मरे हुए के पुत्र पौत्रा-दिकों को आशीर्वाद देकर यह प्रकरण प्रारम्भ होता है।

वहां पहली ऋचा "इमा नारी०" यह है।

जनयः जनयन्त्यपत्यमिति जनयो भार्याःताअग्रे सर्वेषांप्रथमेतएव योनिंगृहं-आरोहन्तु आगच्छन्तु" इति । अयम्भावः-प्रथमं प्रेतस्य पुत्रपौत्रादिभ्य आशिषो वितीर्य जीवद्भर्तृका अरुदत्योभार्या एव तस्योपान्तेवासिन्यआगच्छन्तु । ततः प्रेतसमीपेशयितां प्रेतपत्नीं देवरादिकः कश्चित् उदीर्ष्व नारीत्यनयाऽऽर्चा भर्तृसकाशादुत्थापयेत् । सूत्रितंच-- तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमिति । सूत्रनिर्दिष्टैतत्त्रयसम्भवे एभिरेवोत्थापनम् । तदसम्भवेतूक्तलक्षणमिदं तत्सम्बन्धिनो वृद्धस्य वृद्धायोवा । तथाचामन्त्रार्थः:— हेनारि ! मृतस्यपत्नि ! जीवलोकंजीवानां पुत्रपौत्रादीनां लोकं स्थानं गृहमभिलक्ष्य उदीर्ष्व अस्मात्स्थानादुत्तिष्ठ । ईरगतौ आदादिकः । गतासुं अपक्रान्तप्राणं एतं पतिं उपशेषेतस्य समीपेस्वपिषितस्मात् त्वं एहिआगच्छ । यस्मात् त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वतो दिधिषोः गर्भस्यनिधातु स्तवास्यपत्युः संबन्धादागतं इदं जनित्वं जायात्वमभिलक्ष्य संबभूथ संभूतासि अनुसरणनिश्चयमकार्षीः तस्मादागच्छ । इति । अत्र मन्त्रे नियोगस्य लेशोऽपिनास्ति । एवं विधाऽऽपत्तिकालेच देवरस्यभ्रातृजायांप्रतितथाकथनंगहर्यं तामेव दयानन्दमनोगतस्य विशदयति । अन्यथातदोकएवंकुलीनो वक्तुं शक्नुदात् । अहोवेदेष्वपि सर्वतोऽनवद्याविद्यापरिगृहीतेषु

इस ऋचा का अर्थ यह है कि:-"जिनके पति जीवित हैं ऐसी घृत के अञ्जन को लगाने वाली स्त्रियां अपने २ घरों में घुसें । और वे स्त्रियां-जो नरोवें, रोग रहित हों, धनसम्पन्न हों, सन्तान पैदा करने वाली हों, पहले घरों में आवें' तात्पर्य यह है कि पूर्व मृतके पुत्रपौत्रादिकों को आशीर्वाद देकर उक्तगुण सम्पन्न स्त्रियां उस मृत पुरुष के पास आवें ! फिर प्रेतके समीप सोने वाली उस प्रेत की पत्नी को कोई देवरादि उठावे अर्थात् "उदीर्ष्व नारी' इस ऋचा से पति के पास से उठावे । ऐसा ही सूत्रकारों ने लिखा है-जो मूल में स्पष्ट है । सूत्र में लिखा है कि पतिस्थानीय-देवर या शिष्य या कोई वृद्ध सेवक इन तीनोंमें से कोई उसे उठावे अथवा कोई उसका सम्बन्धी वृद्ध या वृद्धा उठावे । मन्त्रार्थ यह है:-

हे नारि !-मृत पुरुष की पत्नि ! अपने पुत्रपौत्रादि के घर को जा । तू इस मरे हुए पति के पास सोती है औरअपने पतिके अनुसरण करनेका निश्चय कर चुकी है इस लिये तू आ' अब सोचिये-ऐसे आपत्ति के समय देवर

सर्वज्ञकल्पेषु पुरुषेष्वपि तादृगर्थं कलुषितं शिष्टैरपरिगृहीतं प्रतिपादयन्तो न त्रपन्ते मूढधियः। चित्रमेतद् व्यामोहविलसितम्। स्वैरं विहरति योगिनामपि हृदयविपिने! किंबहुना सरलोऽप्यर्थो वक्रतामनयतांचकथं नीतस्तद्बलादेव। एवं सर्वत्र दयानन्दनिर्दिष्टमन्त्रेषु विचारणीयं सुधीभिः। विस्तरभियात्वस्माभिरत्रनोल्लिख्यतेऽधिकं किञ्चिदिति। अन्यच्चः-तत्रप्रमाणत्वेन समुपस्थापितानामितिहासानां तस्मिन्नर्थेप्रामाण्यमाशङ्कास्पदमेव नहिवेदप्रतिपादितार्थविरुद्धमाचरन् कथंचिद्वेदज्ञोऽपि सकलशास्त्रनिष्णातोऽपि वैदिकत्वेन प्रमाणास्पदं नेतुं शक्यते। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। अधिकेप्सुभिस्तु यथायथमवलोकनीयास्तेते श्रौताः स्मार्त्ताश्च वादा इत्यलंपल्लवितेन।

इतिसंक्षेपतः वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशादिः पञ्चमहायज्ञान्तो विषयः।

अथेदानीं ग्रन्थाप्रामाण्याप्रामाण्यविषयो यथायथं निरूप्यते। तत्रादावेव "पक्षपातरहितै रागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणै" रितिप्रतिपादितम्। अत्र सत्यधर्मप्रियाचरणै रितिवाक्येन किमभिप्रेतं दयानन्दस्येति नावगतम्। अथतेनवित्त इति पाणिन्यभिधानविहितत्वेऽपि तादृग्रूपसिद्धावपि नतत्पूर्वापरवस्यकश्चिदर्थः संगच्छते। ननुकदाचित् प्रियाचरणै रित्येवरूपंस्यात्,

---

का भौजाई से वैसा कथन (जैसा कि स्वामी जी मानते हैं) स्वामीजी के मनकी कालिमा को साफ कर रहा है। भला, उस समय कोई कुलीन पुरुष वैसा कैसे कह सकेगा?

हाय! वेद मन्त्रों में भी अनर्थ करते हुए अज्ञानियों को लाज नहीं आती! यह मोह का विलास है जो निःशङ्क योगियों के हृदय में भी विहार करता है। अधिक क्या लिखा जाय। मोहसे ही सीधे मन्त्रके अर्थ को टेढा बना दिया। स्वामी के अन्य मन्त्रार्थों में भी यही दशा है जिसे स्वयं विद्वान् लोग विचारें हम यहां ग्रन्थ बढाना नहींचाहते। इस नियोगके विषय में जो २ इतिहासादि प्रमाण हैं उनका प्रामाण्य शङ्कित है-अयथार्थ है। वेदार्थ विरोधी-चाहे जैसा बुद्धिमान् हो, वह वैदिक नहीं कहला सकता इत्यलम्।

इतिसंक्षेपतः वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशादिः पञ्चमहायज्ञान्तो विषयः॥

अब कौन ग्रन्थ प्रमाण हैं और कौन ग्रन्थ अप्रमाण हैं-इस विषय का निरूपण किया जाता है:—

इस विषय में लिखते हुए स्वामी जी ने एक वाक्य रक्खा है "सत्य-

अज्ञानवशाद्व विपरीतएवपाठः संपन्नोभवेत्, तथास्तु, सम्भवति हि दयानन्दमतिवत्पाठस्यापि विपर्ययः। तथापिनार्थसंगतिः काचिद्वाक्यस्यप्रतीयते। कथंचित्सत्यधर्मीय प्रियमाचरणं येषामिति समासेऽपि दोषस्तदवस्थ एव। नहि धर्मस्य कस्यचित्सत्यत्वाभावश्रवरणं श्रुतं क्वचित्केनचिद्विदुषा। अतस्तद्विशेषणं निष्प्रयोजनम्। विशेषणताभावे तस्यापिधर्मान्तर्गतत्वात्पृथक्पाठोऽशोभनः। एवंच "यईश्वरोक्ताग्रन्थास्तेस्वतःप्रमाणं कर्त्तुं योग्याःसन्ति" अत्र रेखाङ्कितपदजातरचना रहसिनिभृतं विचारितापि न बुद्धिपथमारोहति। वस्तुतस्तु "ग्रन्थास्तेस्वतः प्रमाणम्" इत्येतावतैवोक्तार्थस्य गतत्वम्। अधिकस्यचवैयर्थ्यम्। निरुक्तपदोपन्यासप्रकारश्चापिनव्याकृतिनर्थरीतिं न वा-र्थरीतिमपेक्षते। सर्वत्रचेयमेव व्यवस्था। अत्राहेयपक्ष एव निक्षेप्तव्योऽयं दयानन्दग्रन्थः श्रेयोऽर्थिभिरितिकृतमनल्पजल्पनेन अथ ये स्वतःप्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारोवेदा, इतियदुक्तम्। अत्रापिमन्त्रभागसंहितेत्यत्र भागपदोपन्यासस्य किंप्रयोजनम्? वस्तुतस्तु अस्ति कश्चिद्दयानन्दस्याप्यभिमतोमन्त्रातिरिक्तो वेदभागः, यद्बुबोधयिषु रत्र भागपदं पपाठ। प्रपञ्चितप्रायश्चैतद् वेदसंज्ञाविचारप्रकरणेऽस्माभिरिति। किंच वेदार्थव्याख्याना इत्यत्र समानार्थवाचकयोरर्थव्याख्यानपदयोरन्यतरस्योपन्यासो व्यर्थ एवा-

"धर्मप्रियाचरणाः" यह रचणाः, क्या बला है? मालूम होता है यह प्रेसके भूतों की कृपा है। यह भी होसकता है कि जैसे स्वामी जी की बुद्धि उलटी थी वैसे पाठ भी उलटा होगया हो "सत्यधर्म प्रियाचरणाः" ऐसा पाठ भी मान लिया जाय तौ भी क्या अर्थ होगा? क्या कोई धर्म असत्य भी होता है जिससे धर्म का सत्य विशेषण सार्थक समझा जाय। वस्तुतः यह विशेषण निष्प्रयोजन है अर्थात् यदि विशेषण मान लियाजाय तौ सत्य भीधर्मान्तर्गत है इस लिये यह व्यर्थ ही पाठ है। एक और मजेदार वाक्य देखिये:-"स्वतःप्रमाणं कर्तुं योग्यास्सन्ति" क्या बढ़िया वैयाकरणों की संस्कृत है? हमने खूब विचार किया कि इस का अर्थ समन्वित क्या समझें। कुछ नहीं समझ में आया। असलमें इतना ही लिखना चाहियेथा "ग्रन्थास्ते स्वतः प्रमाणम्" इसी से सब मतलब हल होजाता अधिक लिखना व्यर्थ या बालकों का खेल है इस प्रकार पदों की रचना न व्याकरण की और न अर्थरीति की अपेक्षा करती है इसलिये ऐसे ग्रन्थ का विद्वानों को परित्याग

भाति । एकैकैवगतार्थत्वात् । तथाच 'वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ती, त्यत्रापि प्रमाणमर्हन्तीत्ययुक्तम्, प्रामाण्यमर्हन्तीतियुक्तंभाति । सुश्रुत इति प्रयोक्तव्ये शुश्रुतइति प्रयोगोमुद्रणप्रमादं वा बोधयतिमुविद्वनोवेति । किञ्च 'सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतयानिश्चयो भवती,त्यस्यनिच: कथं पदसमन्वयः इति न ज्ञायते । नचानुमानिकं ज्ञानं श्रवणेनशक्यंभवितुम् । नापिसर्वपदार्थानांज्ञानतया निश्चयोभवितुंशक्यः । तत्वंभ्रमत्वाङ्कात् तत्किमिदमुपन्यस्तं दयानन्देनेति स एवविजानातु,तदनुयायिवर्गःसामाजिकजनोवा । एवंच "एतावां पठनाद्यथार्थविदितत्वानुमानबाह्यज्ञानक्रियाकाचक्षसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम्" इत्यत आरभ्य "तेसर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धायुक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ती' ति यावद् यदुक्तं तत्तवं विजयाप्रभावेणैवेति मन्यामहे । अन्यथा कइव तर्कसंग्रहादिचिन्तामण्यन्तधिकग्रन्थानां परमप्रसिद्धानां विद्वन्मान्यानां न्यायाभासत्वं न्यायवैशेषिकतन्त्रविरुद्धत्वंच प्रतिपादयेत् । एवं सांख्यतत्वकौमुद्याश्च सांख्यशास्त्रविरुद्धत्वम् । वेदान्तसार-पञ्चदशीप्रभृतिग्रन्थानां वेदान्तशास्त्रविरोधित्वञ्च । किंबहुना जैतयां

करना ही अनुचित है। आगे लिखा है "मन्त्रभागसंहिताख्याः" इस पद में 'भाग, पद रखने का क्या प्रयोजन है ? ऐसामालूम होता है कि दयानन्द जी को भी मन्त्रातिरिक्त कोई वेद भाग संमत है, जिसको बताने की इच्छा से भाग पद को पढ़ा है इस बात को हमने विस्तार के साथ वेद संज्ञा विचारप्रकरण में लिखा है। "वेदार्थ व्याख्यान" इस पद में समानार्थ वाचक अर्थ , और व्याख्यान, दोनों शब्द प्रविष्ट नहीं करने चाहिये एक शब्द से ही काम चलसकता है। 'प्रमाणमर्हन्ति,यहां पर"प्रामाण्यमर्हन्ति' लिखना चाहिये था 'सुश्रुत, शब्द के स्थान में शुश्रुत शब्द का प्रयोग करना प्रेस का प्रमाद है कि दयानन्द का " सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतया०" इस वाक्य में परस्पर कैसे पद समन्वय होगा। सो समझ में नहीं आता। सुनने मात्र से आनुमानिक ज्ञान कैसे होसकेगा और न सबपदार्थों का ज्ञानत्वेन निश्चय हो सकता है। यदि ऐसा हो तो वह भ्रान्ति है। स्वामी यह क्या उलूलजुलूल कह रहे हैं इस बात का पता स्वामी दयानन्द या उनका अनुयायीसामाजिक वर्गही लगासकता है

सन्दर्भाणां तत्तच्छास्त्रविरोधित्वं दयानन्दसदृशैरपि प्रतिपादयितुं शक्यम् वस्तुतस्तु यान् ग्रन्थानधीत्य यथायथं वैचक्षण्यं लभते पुरुषस्तानेव ग्रन्थानसौ निषेधयामासेति बहुकृतमेतत्। अत एव लोकप्रतारकस्यास्य मुण्डिनो वैदुष्यं लोकातिगमिति विद्वद्भिरनुभूयते। अथ "एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु किंच नवीनेषु मिथ्याभूताबह्व्यः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते। तत्रैवमेका कथा लिखिता प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनायजग्राहेति। साभिरूपैवास्ति कुतः। अस्याः कथाया अलङ्काराभिप्रायत्वात्,। इति। ननु पुराणप्रतिपादिता सा कथा यद्यलङ्काराभिप्राया एव भवेत्तदा दयानन्दस्य किमुत्तरम्? कोवा तन्मिथ्यात्वे हेतुः। तस्या अपि अलङ्काराभिप्रायत्वात्, किंच पुराणोपन्यस्ता या स्तादृशकथाया मिथ्यात्वं प्रतिज्ञाय 'प्रजापतिर्वैस्वामित्याद्यैतरेयब्राह्मणागतकथोपन्यासोऽयुक्तः। पुराणागता एव कथा तच्छब्दैर्वेदोद्धृत्यालङ्काराभिप्रायत्वेन प्रदर्शनीया। तदैव भवत्कृतमुपक्रमोपसंहारादिकं संगतमिव स्यात्। इदानीं मेषाऽपि कथा दयानंदेनानर्थतां नीता समालोच्यते तथाहि-"तद्यथा-प्रजापतिर्वै स्वांदुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहु रुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूता मभ्यैत्। तस्य

आगे "एतासां" से लेकर "भवन्ति" तक संस्कृत पढ़ जाइये आप को भंग भवानी की करतूत साफ दिखाई देगी। यदि भगवती भंग भवानी की कृपा न होती तो कौन ऐसा समझदार है जो तर्कसंग्रहादि-चिन्तामणयवधिक, परम प्रसिद्ध विद्वन्मान्य ग्रन्थों को 'न्यायाभास' कह कर उडाने का साहस करे। और न्याय वैशेषिकादि के विरुद्ध बतावे। अरे महाराज! इन ग्रन्थों को तो वैदिक धर्मके विरोधी जैन आदि भी आदरकी दृष्टि से देखते ही नहीं पढते भी हैं। ऐसे ही "सांख्यतत्त्व कौमुदी" को सांख्यशास्त्र के विरुद्ध और वेदान्तसार, पञ्चदशी आदि वेदान्त ग्रन्थों को, वेदान्तशास्त्र के विरुद्ध बता दिया है। इस द्वेष का कुछ ठिकाना है। परन्तु याद रहे एक दयानन्द नहीं यदि हजारों दयानन्द मिल कर आवें तो भी उन ग्रन्थों की प्रामाणिकता नष्ट नहीं हो सकती। दरअसल बात यह है कि जिन २ ग्रन्थों को पढ कर पुरुष व्युत्पन्न होताहै उनर सब ग्रन्थोंको आपने मने किया है—यह लोक विलक्षण विद्वत्ता स्वामी दयानन्द में ही पाई जाती है।

यद्रेतसः प्रथमम् उदीप्यत तदसावादित्यो भवत्। (ऐ० प० ३ कण्डि०३३। ३४॥) सविता सूर्य्यः सूर्य लोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति तस्य दुहिता कन्यावद्-द्यौरुषा चास्ति। यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत् स तस्य पितृवदिति रूप-कालंकारोक्तिः सच पिता तां रोहितां किञ्चद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणै रूपवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति। एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनदुत्पादयति। अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत्सूर्यश्च। कुतः। त-स्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्येण सूर्याद्दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात् य-स्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्सूर्यप्रकाशेन रक्तता भवति। तस्योषा इति संज्ञा। तयोः पिता दुहित्रोः समागमादुत्कटदीप्तिः प्र-काशाख्य आदित्यः पुत्रोजातः। यथा मातापितृभ्यांसन्तानोत्पत्तिर्भवति तथैवा-त्रापि बोध्यम्'। इति। अत्रब्रूमःसविता तावत्सूर्यो वा सूर्यलोकोवा? सूर्यस्य-लोकः सूर्यलोक इति षष्ठीसमासेतु सूर्यलोकपदं स्थूल मादित्याख्यं लोकमेव बोधयति। सूर्यपदं च तदधिष्ठात्रीं लोकोत्तरां चेतनां काञ्चिद्देवतामभि-दधाति। तथाच कतरस्यात्र ग्रहणं युक्तमिति? सूर्य एव लोकःसूर्यं लोक इति समासेतु उभाभ्यामपि पदाभ्यां देवता एवोच्येत, एवं पदद्वयोपन्यासो व्यर्थ

आगे "एवमेव" से "प्रायत्वात्" तक संकृत पढ़जाइये। इसका अभिप्राय यह है कि पुराणों— ब्रह्मवैवर्तादिकों-की कथा मिथ्या हैं- और उनका तात्पर्य आलङ्कारिक वर्णन में है।

यहां प्रष्टव्य यह है कि यदि पुराणों की कथा अलङ्काराभिप्रायक हैं-तो उन के मिथ्या होने में क्या हेतु है नवीनपुराणों की कथाओं को आप झूंठ बताते हैं तो फिर ऐतरेय ब्राह्मण (जो आपके मत में वास्तविक पुराण है) की कथा का उपन्यास क्यों करते हैं पुराणो की कथाओंको ही उद्धृत कर के उन में अलङ्कार दिखलाइये तब ही उपक्रमोपसंहार ठीक हो सकेंगे। इस कथा को भी जैसे दयानन्द ने बिगाड़ा है विचारणीय है। "प्रजापतिर्वै" से लेकर "बोध्यम्" तक ऐतरेय ब्राह्मण और स्वामी जी का भाष्याभास पढ़ जाइये।

स्वामी जी के अनुयायियों से पूछना चाहिये कि सविता शब्द का अर्थ सूर्य है वा सूर्य लोक? यदि सूर्य लोक है और षष्ठी समास है तो स्थूल आदित्य लोक का ही भेद होगा और सूर्य पद उस लोक की चेतना-

एव स्यात् । अन्यतरगृहणकल्पनायामपि तदितरस्योल्लेखोव्यर्थ एव । विशे-
षणवचनं च । उभयगृहणे स्फुट एव विरोध इति । किञ्च "तस्य-सवितुः दु-
हिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति इति यदुक्तं तदपि विचारं महति । अत्र हि
दुहितृ पदस्य कन्यावदित्यर्थो न शोभनो भाति । शक्यार्थसम्भवे लक्ष्यार्थस्या-
न्याय्यत्वात् । अतएव यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत् सतस्य पितृवदित्यु-
ल्लेखोऽप्ययुक्त एव । यस्माद्यदुत्पद्यते तत्र तन्निरूपितजन्यत्वमेव, यस्माच्चोत्प-
द्यते तस्य जनकत्व मिति । 'इति रूपकालङ्कारोक्तिः इति। यद्यपि न संन्यासि-
जनोचितं यद्रूपकाद्यलङ्कारै रलङ्कृतत्वम्, तथाप्यहो । पश्यत रे । पश्यत
दयानन्दस्यालङ्कारिकत्वम् । पदयुक्ताभ्यसम्भाव्यां च वत्कल्पनां विधाय रूप-
कालङ्कारमाह तथासत्यप्युपमैव सम्भवति न रूपकम् । अत्र हि विषयिणा उप-
मानभूतस्य रूपेणोपमेयस्य विषयस्य रञ्जनं तदेव रूपकमित्युच्यते । विषयिणो
ऽभेदेन ताद्रूप्येणवा विषयस्य रञ्जनमित्यर्थः । एवञ्चाभेदताद्रूप्यभेदेनद्विविधम-
पिरूपकप्रत्येकं पुनस्त्रिविधम् । प्रसिद्धविषय्याधिक्यवर्णनेनन्यूनत्ववर्णने-
नानुभयोक्त्या च एवं षड्विधं रूपकम् । अत्र निदर्शनम् । "अयं हि धूर्जटि
साक्षाद्येन दग्धाः पुरः क्षणात् इति । अत्र हि येनदग्धा इति विशेषणेन वर्ण-
नमा अधिष्ठातृ देवता का बोध करावेगा और कर्मधारयसमास मानें तो भी
कोई देवता विशेष ही प्रतीयमान होगी- तो दो पदों का उपन्यास व्यर्थ
होगा- यदि उक्त दोनो में से किसी एक का ग्रहण किया जाय तो भी एक
का उल्लेख व्यर्थ है। दोनों को ग्रहण किया जाय तो तुम्हारे मत में विराध
भी होगा- क्योंकि अधिष्ठातृ देवता की कल्पना तुम मानते नहीं । "तस्य
सवितुः" इत्यादि ग्रन्थ भी विचारणीय है दुहितृपद का 'कन्यावत्' यह
अर्थ ठीक नहीं है। क्यों कि जहां शक्यार्थ संभावना हो वहां लक्ष्यार्थ ग्र-
हण करना अनुचित है। 'यस्माद्यदुत्पद्यते" इत्यादि ग्रन्थ भी अयुक्त है।
ऐसे स्थल में जन्य जनक भाव कहना तो ठीक हो सकता है पर 'पितृवत्'
और अपत्यवत्कहना अयुक्त है यहां स्वामीजी ने रूपकालङ्कारबतलाया है,
ऐसा मानने से तो 'उपमा लङ्कार होसकता है रूपकालङ्कार नहीं। विषयि
उपमान के अभेद वा ताद्रूप्यसे जहां विषय-उपमेय का रञ्जन हो वहां रूप-
कालङ्कार होता है। इस तरह दो प्रकार को रूपक प्रत्येक तीन प्रकार का
होता है। (१) प्रसिद्ध विषयीके आधिक्य वर्णन से (२) अथवा न्यूनता वर्ण-

नीये राज्ञि प्रसिद्धशिवाभेदानुरञ्जनाच्छिन्नस्य पूर्वावस्थातो वर्णनीयराजभावावस्थायां न्यूनत्वाधिक्ययोरनुक्तत्वात् अनुभयाभेदरूपकमलङ्कारः। यथावा-

चन्द्रज्योत्स्नाविशदपुलिने सैकतेऽस्मिन्सरय्वा—
वादद्यूतं चिरतरमभूत्सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एको वक्ति प्रथमनिहतं कैटभं कंसमन्य-
स्त्वत्त्वं सत्यं कथय भगवन् को हतस्तत्र पूर्वम्॥

अत्रहि सत्त्वमित्यनेन यः कंसकैटभयोर्हन्ता वासुदेवः तत्तादात्म्यं वर्णनीयस्य कस्यचिद्राज्ञः प्रतिपाद्य तंप्रति कंसकैटभवधयोः पौर्वापर्यप्रश्नव्याजेन तत्तादात्म्यदार्ढ्यकरणात्पूर्वावस्थात उत्कर्षापकर्षयोरविभावनाच्चानुभयाभेदरूपकमिहापि। उदाहरणान्तराणि तत्र तत्रालङ्कारसन्दर्भेषु सप्रपञ्चं निरूपितानि। तत्रैव विद्वद्भिरन्वेष्टव्यानि। विस्तरभियात्रतानोपन्यस्यन्ते। प्रकृते च तादृशलक्षणासम्भवान्नात्र रूपकालङ्कारः! अतः सर्वमेतद्दयानन्दस्याज्ञानविलसितं धृष्टताविजृम्भणमात्रं वेति। किञ्चैकत्रादित्यस्य पुत्रत्वमङ्गीचकार अपरत्र च दिवसस्येति स्फुटोऽपि विरोधोऽज्ञानतिमिरावृतत्वान्न दृष्टिपथमगाद्दयानन्दस्य। आदित्यस्य पुत्रताङ्गीकृता पुन-

---

नसे (३) वा दोनों–न्यूनाधिक्य के न कहने से। एवं छः प्रकार का रूपक माना जाता है। रूपक का उदाहरण यह है।

"अयंहि धूर्जटिः साक्षात्" इत्यादि।

यह राजा साक्षात् शिव है क्यों कि इसने क्षण भर में पुर–नगरों (और त्रिपुरासुर दैत्य) को जला दिया। यहां 'येन दग्धाः' इस विशेषण से राजा में शिव का अभेद कथन किया है और न्यूनाधिकभाव छोड दिया है इस लिये-अनुभयाभेद रूपकालङ्कार है। अथवा–दूसरा उदाहरण यह है:–

"चन्द्रज्योत्स्नाविशद" इत्यादि।

इस श्लोक में "सत्त्वम्" इस कथन से जो कंस और कैटभ दैत्य का मारने वाला कृष्ण है– उसके तादात्म्य को वर्णनीय किसी राजा के साथ प्रतिपादन किया है और श्लोकोक्त व्याख्यान के ढंग से यहां "अनुभयाभेद रूपकालङ्कार" बताया है। अन्यान्य उदाहरण, अलङ्कार ग्रन्थों में बहुत विस्तार के साथ लिखे हुए हैं-जिन्हें देखना हो उन्हीं अलङ्कार ग्रन्थों में देखने चाहियें। यहां विस्तार करना अनावश्यक है। यहां केवल इतना दि-

स्तस्यैव सूर्य्यापरपर्य्यायस्यपितृत्वं प्रणिजगाद, अहो ! सृष्टिक्रमविपरीतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यं योगिनाम्। यच्चोक्तं "यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्सूर्य्यप्रकाशेन रक्तता भवति, तस्योषा इति संज्ञा' इति। तन्न युक्तम्। निरुक्तरक्ततायाः भूप्रदेशेऽसत्वात्। भूप्रदेशातिरिक्तगगनस्थाने हि सा सम्भवति। तादृश एव च सर्वलोकानुभवः। योगजन्यातिशयविशेषवन्तो योगिनस्तु आधुनिकाः कलिकालमाकलय्यासतो गगनकमलिनीकल्पानप्यर्थान् कल्पयन्त्येवेति कदाचित्क्वचिद् भूप्रदेशे सानुभूतैव स्यान्मुनिरेनेति मन्ये। किञ्च यदि "तयोः पितादुहित्रोः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यः पुत्रो जातः" इति मन्यसे। तदामुमेवार्थं विधान्तरेण निबध्नता पुराणकृता कितवापराद्धम्। यच्च "प्रजापतिर्वै स्वांदुहितरमित्यादि ब्राह्मणमुपन्यस्तं, तदपि न शोभनं समुदलेखि भवता। यतो हि प्रजापतिर्वै स्वामित्यादिः रोहितं भूतामभ्यैदित्यन्तः पाठस्तु त्रयोदशाध्यायान्तर्गतनवमखण्डस्यादावेव ब्राह्मणे पठितः। तस्य रेत्या-रभ्यादित्योऽभवदित्यन्तः पुनःपाठस्त्रयोदशाध्यायान्तर्गतदशमखण्डस्य। एवं मध्यगतस्यावशिष्टस्य सर्वस्यापिकथानकस्य प्रकरणावधृतपाठस्य वा

बतलाना अभीष्ट है कि रूपकालङ्कारका लक्षण आपके वर्णित स्थल में नहीं है इस लिये रूपकालङ्कार बतलाना अज्ञान का वा धृष्टता का विलास है। एक जगह आपने आदित्य का पुत्रत्व स्वीकार किया और दूसरी जगह दिवस का यह परस्पर भेद, अज्ञान से ही स्वामी दयानन्द को नहीं सूझता। आदित्य की पुत्रता को कह कर, सूर्यके दूसरे नाम आदित्य को ही फिर पिता बता दिया। यह सृष्टि क्रम विलक्षण अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति, स्वामी दयानन्द जैसे योगियों में ही हो सकती है। आगे "यस्मिन् भूप्रदेशे०" सेलेकर "संज्ञा" तक संस्कृत पढ़िये। संस्कृतज्ञों को अयुक्तता साफ झलक जायगी क्यों कि वैसी रक्तता भूप्रदेश-पृथिवी में नहीं होती-वह तो आकाश में ही होती है। ऐसा ही सब लोग समझते हैं। प. आप ठहरे-कलि काल के योगी, शायद आपको वैसा ही अनुभव हुआ हो !

अच्छा, यह तो बताइये जब आप ब्राह्मणादि ग्रन्थों की बातों को रूपकादिविधया लगाने का प्रयत्न करते हैं तो पुराणों ने आपका क्या बिगाड़ा है ! जब कि ब्राह्मणादिकों में कैसीही बातें पुराणादिकों में पाई जाती हैं !

परित्यक्तत्वान्न भवद्भिनतस्य स्वकल्पितस्यार्थस्योपक्रमपरामर्शोपसंहारै-
र्विना याथातथ्यं सम्भवति । अन्यथा लोकवञ्चनचतुरश्चायं किम्प्रयोजनान्तर-
मभिसन्धायपरित्यागाज निरुक्तं पाठमितिनविद्मः । अथ "एवमेवपर्जन्यपृथिव्योः
पितादुहितृवत्" अत्र कस्यापदेशः क्रियतइति न ज्ञायतेपूर्वापरग्रन्थपर्यालो-
चनेनापि । इत्थं च "द्यौर्मेपिता जनितानाभिरत्र" इत्यादिमन्त्रं निर्दिश्य य-
दुक्तं निरुक्तकृता भगवतायास्केन "तत्रपिता दुहितुर्गर्भं दधाति, इति, तस्याभिप्राय-
स्तुसर्वथापि नावोधिमुण्डिनेति मन्यामहे । यतोऽयं "पर्जन्याददुभ्यः पृथि-
व्याउत्पत्तेः अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति" । अत्रातइतिव्यर्थ एवाभाति,
पञ्चम्यैवतदर्थस्य गतत्वात् । "सपर्जन्योवृष्टिद्वारा तस्यांवीर्यवत् जलप्रक्षेप-
णेन गर्भं दधाति, तस्माद्गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानिजायन्ते" इति सर्वथाप्य-
संगतं निरुक्तविपरीतं चार्थमुदाजहार । अयंहिपृथिव्यायथाश्रुतं वस्तुभूतं
कन्यात्वं प्रकल्प्य तत्रैवतदुत्पादकस्य पर्जन्यस्यवीर्यप्रसेकं च निर्दिश्य गर्भधा-
रणपूर्वकं साऽपत्यानिजनयति इत्यश्लीलताव्यञ्जकमर्थं स्वयमेवव्याख्याय
परदोषदर्शी परेषांसूक्तमपि दुरुक्तंमन्यमानोऽर्थमप्यनर्थं बुध्यमानोगुणानपि

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम्' इत्यादि ब्राह्मण का पाठ भी कहीं का कहीं रख
दिया है, इस प्रमाद को क्या कहा जाय ? इस गड़ बड़ी में उपक्रमोपसंहार
भी तो ठीक नहीं हो सकता । हम नहीं जानते-इस...... चतुर चूड़ा मणि
ने बीच के पाठ को क्यों छोड़ दिया ? फिर देखिये-"एवमेव पर्जन्यपृथि-
व्योः" इस वाक्य में किस का अपदेश है ? यह बात अगला पिछलाग्रन्थ दे-
खने से भी विदित नहीं होती । इसी प्रकार "द्यौर्मे पिता, इत्यादि मन्त्र
को बतला कर भगवान् निरुक्तकार यास्क ने जो कहा है "तत्र पिते,, इत्यादि
उसका अभिप्राय दण्डी मुण्डी ने नहीं समझा-इस लिये "पर्जन्याद्द्भ्यः"
इत्यादि से 'जायन्ते' तक व्यर्थ प्रलाप किया है । "उक्त वाक्य में उत्पत्तेः"
के आगे "अतः, पद व्यर्थ है क्यों कि अभिप्रेतार्थसिद्धि पञ्चमी से ही हो-
सकती है । इन्हों ने पृथिवी में कन्या की कल्पना की और पर्जन्य-मेघ को
वीर्य प्रसेक्ता बता कर गर्भ धारण पूर्वक वह पृथिवी सन्तान पैदा करती है-
इत्यादि अश्लील बातें स्वयं लिखते हुए-दूसरों के ही दोष देखते हैं । दू-
सरों की अच्छी बातों को भी बुरी बतलाते हैं, सदर्थ को भी अनर्थ बत-
लाते हैं-एक लाज को छोड़ कर त्रिलोक विजयी होने का डंका बजाते हैं ।

दोषपदं निक्षेपमात्रं स्तामेकामेव लज्जाम्परित्यज्य त्रिलोकविजयित्वमात्मनो व्यवस्थापयन्न जिह्रायेतिन विस्मापयति तादृशानीदृशी कृतिर्विदुषइति निरुक्तकृतांत्वयमभिप्राय:– पितृपदं हियोगवृत्या पातावा पालयितावेत्यनया उदकंहि द्यु लोकात्पतितं पार्थिवेनधातुना संपृक्तं, ओषधीभावमागत्य शरीरभावेनावतिष्ठते, इत्येतदपेक्षय पर्जन्येदिविशक्तं, तथादुहितृपदेन पृथिव्येवोक्ता, साहिद्यु लोकात् दूरेनिहिता भवति, द्यु लोकं दोग्धीतिवा दुहिता इति। अतस्तयोरत्र न लोकप्रसिद्धं पितृदुहितृसम्बन्धभावमवगच्छाम:। पितृदुहितृपदयोर्निरुक्तवृत्याद्युपृथिवीपरत्वात्। द्यौर्वचात्र पर्जन्यपदेनोक्तेत्यपि न विस्मर्त्तव्यम्। अत एव तत्र तत्र विहितोसर्वभूतानां द्यावापृथिव्यौ मातापितराविव्युक्ति:प्रिप्राचांसंगतैव। अत्रच नास्त्यश्लीलतालवोऽपीतिविद्वांसएवविभावयन्तु। किञ्च"अयमपि रूपकालङ्कार:"इतिपुनरपितदेव प्रतिपादयन्नयं रूपकालङ्कारव्यसनीप्रतीयते। भगवन्! भवद्भिरूपकत्वादेव नेदंरूपकं भवत:सम्भवति। एवं उत्तामयो:ऊर्ध्वंतानयोरुत्तानयोस्तयोरलङ्कार:, | 'अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति, इत्यादावपि

विद्वानों के लिये यह कोई आश्चर्य नहीं। निरुक्तकार का तो यह अभिप्राय है कि:– "पितृपद, योगवृत्ति से रक्षक का नाम है, जल द्युलोक से गिर कर और पार्थिव धातु से मिलकर औषधभाव को प्राप्त हो कर शरीर रूप से स्थित होता है इस अपेक्षा से पितृपद, पर्जन्य अर्थात् द्युलोक में शक्त है और दुहितृ पद से पृथिवी लीजाती है क्यों कि वह द्युलोक से दूर रहती है अथवा द्युलोक को दोहन करती है इस लिये पृथिवी दुहिता कहलाती है। इस लिये लोक प्रसिद्ध पितृदुहित सम्बन्ध यहांनहीं है क्यों कि निरुक्तकारकी रीति से पर्जन्य और दुहितृ शब्द, द्युलोक और पृथिवी लोक के बोधक ही हैं। इसी लिये "द्युलोक और पृथिवी लोक सब भूतों के माता पिता हैं"इत्यादि प्राचीनोंका कथन भीसंगतहोजाता है। ऐसे स्थल में कोई अश्लीलता नहीं है। "अयमपि रूपकालङ्कार:""अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति" मालूम होता है इन्हें रूपकालङ्कारका व्यसन सा पड़गया है। महात्मा जी! यह रूपक निरूपण आप को विरूप किये देता है। यदि यह मन्त्र अलङ्कार का विधायक हो तो उस मन्त्र का वह अलङ्कार ही देवता होना चाहिये ? सोतो है नहीं इस लिये आप की उक्ति

द्रष्टव्यम् । किञ्चैतदलङ्कारमात्रविधायकत्वेन्द्र कारदैवत्यमेव मन्त्रस्स्यात् तच्च न सम्भवतीत्यसंगतैषाकृतिरिति । कृतव्याख्यानञ्चैतत्पुरस्तादपि । अतएवनक्वापि निरुक्तब्राह्मणादिषु रूपकालङ्कारविधायिन्यो व्याख्याताः कथा ब्रह्मवैवर्त्तादिषु पुराणेषु वा निरूपिताःश्रूयन्त इति पल्लवितेनालमिति ॥ अथात्र प्रकरणे "सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्व इत्यपिनिगमो भवतिसोऽपि गोरुच्यते" इति निरुक्तसन्दर्भसमुल्लेखः प्रक्रमविरुद्धएव। तत्रास्यानुपयोगित्वात् । किञ्चशास्त्रालङ्कारोऽपि ऐदंयुगीनेनर्षिणाऽदृष्टश्रुतपूर्वो नूतनएव सर्वथाप्यभिहितः । यथेत्थं प्रदर्शितः — 'एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कारायां भूषणरूपायां कथायां सत्यां या नवीनग्रन्थेषुपूर्वोक्ता मिथ्याकथा लिखितास्ति सानमन्तव्या" इत्यत्र सद्विद्योपदेशएवालङ्कारत्वेन विवक्षितः । नचैवंविधोऽलङ्कारः क्वाप्यलङ्कार-ग्रन्थेषुदृश्यते श्रूयतेवा । मुखमस्तीतिवक्तव्यं दशहस्ताहरीतकीतिन्यायमनुहरत्यत्र । किञ्च यथा कथेयं मुण्डिना प्रतिपादिता- अहल्यारात्रि रुच्यते, गोतमश्चन्द्रः, तयो, स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति । इन्द्रः सूर्यश्चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते, यतोयंरात्रेर्जरयिता । सूर्योदयेहिरात्रिर्नश्यति । इदमेव च तया सह

असंगत ही है । इसी लिये निरुक्त या ब्राह्मण ग्रन्थों में वा पुराणों में से ऐसी २ कथायें रूपकालङ्कार को लेकर कथित हैं- ऐसा नहीं लिखा । बस बहुत हो चुका आगे की बात सुनिये ॥

इसी प्रकरण में "सूर्यरश्मि" इत्यादि निरुक्त का लेख प्रक्रम विरुद्ध ही है क्यों कि इस पाठ का यहां कोई उपयोग नहीं । इस स्थल में कलियुगी महर्षि ने एक बिलकुल नया ही अलंकार बताया है अर्थात् सद्विद्योपदेश को ही अलंकार बताया है और कथा को भी भूषण अलंकार बताया है, ऐसी विचित्र बातें किसी अलंकार ग्रन्थ में देखने में नहीं आईं "मुख है, इस लिये दश हाथ की हरीतकी (हर्ड़) होती है यह कहना चाहिये" इस लौकिक न्याय का यहां अनुसरण किया गया है। अहल्या की कथा का उल्लेख करके उसे पुराणों का होने से झूंठा ठहराते हैं परन्तु उसी कथा को ब्राह्मणोक्त होने से उपपादन करते हैं परन्तु इनसे कोई पूछे कि वही आशय पुराणोक्त कथा का क्यों न समझ लिया जाय ? पुराणोक्त कथा के ऊपर आप का आक्षेप निष्प्रयोजन है। वस्तुतस्तु इस कथा के रहस्य को आपने स्वयं भी नही समझा "अन्धा पुरुष

सूर्यस्य जारकर्म उच्यते । इति । अयमेवाशयस्तादृशकथायाः पुराणप्रतिपा-
दितायाः अपि वर्त्तते। अतस्तत्कथाप्रयोजकं प्रति भवतामादौ निष्प्रयोजनं एव
तन्निहितं च रहस्यं श्रीमद्भिरेव नोपलक्षितम् । अतो नैष स्थाणोरपराधो यदेन-
मन्धो न पश्यति । इत्थं च जारकर्म कृत्वा यदोदेति सूर्यस्तदा क्रमश एधमानः
सहस्रभगतां भजते । सहस्रभगः सहस्रकिरणः सर्वात्मना प्रकाशत इत्यर्थः ।
अत एव लोके सहस्ररश्मिर्वा उच्यते सूर्यः । रात्रिश्च पाषाणशिलेव निश्चेष्टा
सर्वथापि स्तब्धा भवति। न किञ्चित्कर्म तत्र विधीयते। दिवस एव कर्मणां संपन्न-
त्वात् । यदा तु रामपादरजः स्पर्शो भवति राज्ञा स्वस्त्रिया सह रमते क्रीडती–
ति रामश्चन्द्रः; तत्किरणस्पर्शेन पुनरपि रात्रिर्मोदमाना तिष्ठति । तदानीं
जरयितुः सूर्यस्यासत्त्वात् । एवं च न कश्चिदपि दोषो भवत्प्रतिपादितः सम्भव-
ति इति सर्वमवदातम्। अथ इन्द्रस्यनुवीर्याणीति मन्त्रव्याख्यायां 'पराक्रमाणी-
ति यदुक्तं तत्प्रयोक्तुरेव शब्दपरिज्ञाने क्लैब्यं साधयति। नैतदपि विचारि-
तं, यत्पराक्रमस्य कथमिव क्लैब्यं सम्भवति । किञ्च "एवमेवेन्द्रः कश्चिद्देह-
धारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सहयुद्धमभूत्। वृत्रासुरेणे-
न्द्रो निगलितस्ततो देवानां महद्भयमभूत् । ते विष्णुशरणं गता विष्णुरुपायं

यदि ठूंठ को न देखे तो वह ठूंठ का अपराध नहीं किन्तु अन्धे का ही
है" बात यह है कि जब जार कर्म करके सूर्य उदित होता है तब क्रम से
बढ़ता हुआ सहस्रभगता अर्थात् सहस्र किरणता को प्राप्त होता है-सर्वात्म-
ना प्रकाशित होता है । इसी लिये सूर्य-सहस्र रश्मि कहा जाता है ।

पत्थर की शिला की तरह रात्रि निश्चेष्ट होती है-रात्रि में कोई काम
नहीं किया जाता क्यों कि दिन में ही प्रायः काम होजाते हैं । जब राम-अ-
र्थात् चांद के पाद-किरण का स्पर्श होता है तो फिर रात्रि प्रसन्न होती है।
क्यों कि उस समय जार पिता-सूर्य नहीं होता । इस तरह पर इस कथा में
आपका बताया कोई भी दोष नहीं आता । सब ग्रन्थ स्पष्ट है । फिर "इन्द्र-
स्यनु' इस मन्त्र की व्याख्या में "पराक्रम" शब्द जो कि पुंलिङ्ग है, उसे
आपने नपुंसक बना दिया है, गोया शब्द ज्ञान में अपनी नपुंसकता को
जाहिर कर दिया है । यह भी तो नहीं सोचा कि पराक्रमकी नपुंसकता कैसे
होसकती है ! अस्तु । आगे "एवमेवेन्द्रः" इत्यादि 'मन्तव्यम्' तक संस्कृत लिख-
कर पुराणोक्त कथाओं के मिथ्या होने का यत्न किया है और हेतु केवल

वर्णितवान् मयाप्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति" । ईदृश्यः प्रमत्त-गीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्" । इत्यनेन ग्रन्थेन निरुक्तकथाया मिथ्यात्वं प्रतिपादितम् तत्र हेतुश्च 'एतासामप्यलंकारत्वात्, इत्येवोक्तः । परमलंकारवत्त्वमेतासां नैवाप्युक्तम् । कतमोऽत्रालंकारः कीदृशश्चेत्यस्य सर्वथाप्यवचनम् । केवलमेतत्प्रकरणावसाने "एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलंकारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथाकथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्त्तव्या" इत्युक्तम् । अत्रापि अलंकारयुक्तत्वमात्रमभिहितं, नचकश्चित्प्रदर्शितोऽलङ्कारः । अत एवासिद्ध एष हेतुः । किञ्चोक्तमन्त्रव्याख्यायां "इन्द्रस्य सूर्यस्य परमेश्वरस्ये" त्युक्तं, अत्रेन्द्रस्येति पदस्यार्थः सूर्यस्य परमेश्वरस्ये" त्यभिहित इति प्रतीयते; तथा यद्यत्रपरमेश्वरपदं शक्तिविधया परमात्मनि शक्तं, तद्वावदयमाणग्रन्थस्य मन्त्रार्थरूपस्यासंगतिरेव । तत्र सर्वत्रापि प्रकरणे ईश्वरनामस्य सूर्यस्यैवाभिहितत्वात् । अथ यौगिकमर्थं विधाय सूर्यविशेषणमुच्येत तदा तस्यैवासंगतिः, नहिपरमैश्वर्यं भौतिके सूर्ये सम्भवति, परमात्मन्येव चेतने सर्वव्यापिनि

यह दिया कि "अलङ्कार वाली कथा होने से" परन्तु इनकी अलङ्कारवत्ता यहां कहीं नहीं बतलाई, और न यह बताया कि कौनसा और कैसा अलंकार है ? आगे चल कर भी कोई अलंकार नहीं बताया-इस लिये उक्तहेतु हेतु नहीं, हेत्वाभास है ! असिद्ध है । और देखिये उक्त मन्त्र की व्याख्या में इन्द्र पद का अर्थ सूर्य और परमात्मा किया है, यदि परमात्मा अर्थ मान लिया जाय तो सब अगला ग्रन्थ-मन्त्रार्थ ही असंगत हो जाता है क्यों कि उस प्रकरण में ईश्वर का न सूर्य ही कहा गया है । यदि सूर्य का विशेषण परमेश्वर को मानें तो भी असंगत है क्यों कि भौतिक सूर्य परमैश्वर्य-सम्पन्न नहीं होसकता । परमेश्वर शब्द का प्रयोग तो केवल चेतनसर्वव्यापी परमात्मा में होसकता है । यदि उस शब्द से सूर्याधिष्ठातृ देवता चेतनात्मक परिगृहीत होतो तुम्हारे मतानुसार अपसिद्धान्त होगा क्यों कि तुमतो तदधिष्ठातृ देवता मानते ही नहीं, इस लिये उक्त मन्त्रार्थ कपोलकल्पित है "अपादहस्त" इस मन्त्र की व्याख्या में "भिन्नांगकृतः" इस अशुद्ध शब्द का प्रयोग किया है । अशुद्ध इस लिये है कि निष्ठान्त का पूर्वप्रयोग, पाणि-

तस्य सत्त्वात् । यदि तदधिष्ठात्री देवता काचिदुच्येत तदा तत्रैव समन्नतिः । इन्यसंगत एवायमर्थः । किञ्च 'अपादहस्त' इति मन्त्रव्याख्यायां "व्यस्तोभिन्नाङ्गकृतो वृत्र" इत्युपन्यस्तं, तदप्ययुक्तमिवभाति । निष्ठान्तस्य पूर्वो प्रयोग एव साधीयसि कृतभिन्नाङ्ग इति शोभनं । किं बहुना अत्रार्थ एव बहून्मन्त्रान् दयानन्दः समुदाजहार । सर्वे च ते मन्त्रायथा स्थानं कृत व्याख्याना निरुक्ते निरुक्तकृता भगवतायास्केन । तत्र योऽर्थः प्रतिपादितस्तेन तेषां, स एवार्थः पुराणकृतोऽप्यभिमतएव यथाकथञ्चित् । आपाततः समुपलभ्यमानं भेदं तु यास्क एव "त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः" इत्येवं प्रतिपादयन् स्पष्टयांबभूव । तथाचपुराणप्रतिपादितस्याप्येवं भूतस्यार्थस्यासंगतत्वं न सम्भवति । एवं पुराणादिसकलसत्यशास्त्रेषु प्रतिपादितास्तास्ताः परमोत्तमाः कथाः समाजसहस्रैरप्यन्यथयितुं नशक्ष्यन्त इति । अथ "एवमेव नवीनेषु ग्रन्थभूता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्तिताअपिबुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्चनैवमन्तव्याः" इति यदुक्तं, तत्र द्वितीयपक्ष एव साधीयानस्ति । यतोहिबुद्धिमन्तस्ताः कथानकथमपि नस्वीकरिष्यन्ति । इतरेषामस्वी-

---

निव्याकरणानुसार होना चाहिये । यहां दयानन्द ने बहुत से मन्त्रों का उदाहरण दिया है और वे सब मन्त्र निरुक्तकार यास्कमुनि से व्याख्यात हैं। निरुक्त में जो अर्थ यास्क ने किये हैं वे ही अर्थ पुराणकारों को अभिमत हैं, कहीं २ जो भेद प्रतीत होता है उसको निरुक्तकार ने "ऐसा इतिहासकारों का मत है इत्यादि कह कर स्पष्ट कर दिया है,, इससे सिद्ध होता है कि पुराण प्रतिपादित अर्थ असंगत नहीं हैं। एक आर्यसमाज नहीं यदि हजारों आर्यसमाज भी मिलकर पुराणों की उत्तमोत्तम कथाओं को उड़ाना चाहें तो नहीं उड़ा सकतीं। स्वामी जी लिखते हैं कि "पुराणों की कथा बुद्धिमानों को और मूर्खों को नहीं माननी चाहिये" हमारा कथन है कि बेशक मूर्खों को नहीं माननी चाहियें क्योंकि बुद्धिमान् तो उन्हें स्वीकार करेंगे ही। हां मूर्ख लोग स्वीकार न करें तो कोई डर नहीं क्यों कि मूर्खों का अस्वीकार इष्ट ही है। उन कथाओं के मिथ्या होने में हेतु यही दिया है कि उन में "अलंकारयोगात्" अलंकार का सम्बन्ध होने से। यह हेतु— न्यायप्रयोगानभिज्ञ का है अलंकार का योग होने से कथाओं में सत्यता- सचाई नहीं रहती! यह कैसा व्याप्यव्यापकभाव है! (वेदों में

कारस्त्विष्टापादक एवास्माकम् । हेतुरपि च तत्र 'तासामप्यलङ्कारयोगात्' इति सर्वथापि न्यायप्रयोगानभिज्ञस्यैव सम्भवति । अलङ्कारयोगत्वेनतासां सत्यकथात्वहानिरीतिः कुत्रत्योऽयंव्याप्यव्यापकभावः । नचकश्चिदत्रकोऽप्यलं-कारः प्रतिपाद्यते; केवलमलंकारपदमात्रं प्रयुज्यते । एवंपुराणप्रतिपादित-तत्तत्कथानकेषु परोपपादितदोषोद्धरणप्रकारः प्राङ्निरूपितप्राय एवेतिसर्वं-मुखिडनः प्रलापमात्रमितिदिक् । किञ्चात्रैवप्रकरणे 'न तस्यप्रतिमाअस्ति' इति मन्त्रस्यावतरणिकां "यथैवयत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषुमूर्तिपूजानामस्मरणादिवि-धानं कृतमस्ति तदपि मिथ्यैवास्तीतिवेद्यम् । कुतः वेदादिषुसत्ये ग्रन्थेषुतस्य विधानाभावात् । तत्रतुप्रत्युतनिषेधो वरीवर्त्तते । तद्यथा-" इत्यादिमिकामुक्त्वा प्रतिमाशब्दस्य मन्त्रगतस्य' नैवतस्यप्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः प्रतिमा-नं तोलनसाधनं परिमाणं मूर्त्यादिकल्पनं किंचिदप्यस्ति"इत्यर्थोऽभिहितः । सच सर्वथाप्यसंगतः । स्वग्रन्थविरोधात्, प्रमाणाभावाच्च । स्वग्रन्थविरोधस्तावत् अनुपदमेवात्रैवप्रकरणे वेदेषुप्रतिमाशब्दोऽस्तिनवेति केनचित्पृष्टोऽस्तीत्युत्तर-यांबभूव । पुनःकिमर्थो निषेध इतिद्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह- 'नैवप्रतिमार्थेन

भी अलङ्कार आते हैं आपने भी माने हैं तो क्या उनमें सचाई नहीं ! धन्य हो महाराज !) कोई अलङ्कार आप बतलाते भी तो नहीं ! अलङ्कार शब्द-मात्र का प्रयोग कर रहे हो । हमें तो यह आपका प्रलाप मात्र ही प्रतीत होता है । और देखिये इसी प्रकरण में "न तस्य प्रतिमा" इस मन्त्र की संस्कृत में अवतरणिका लिखकर लिखा है कि "उस ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् प्रतिनिधि, परिमाण वा मूर्त्यादि नहीं है" यह ग्रन्थ भी असंगत है क्योंकि पूर्वापर विरोध है और प्रमाण शून्य है । अर्थात् इसी प्रकरण में आगे चल कर लिखा है "वेदों में प्रतिमा शब्द है या नहीं ऐसा प्रश्न करने पर उत्तर दिया है कि "है" फिर पूछा कि फिर निषेध किस लिये है ?—उत्तर दिया कि "प्रतिमा शब्द से मूर्तियां नहीं लीजातीं किन्तु परिमाण लिया जाता है" यहां प्रतिमा शब्द का परिमाण अर्थ कर रहे हैं फिर अपने ही ग्रन्थ में विरोध क्यों नहीं ।

और प्रमाण शून्यता तो इसी से सिद्ध है कि मूर्तिपूजा निषेधक कोई अन्यवेद वाक्य नहीं मिलते ; किन्तु इसके विरुद्ध 'संवत्सरस्य प्रतिमाम्' इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द ने ही यह लिखा है कि "विद्वा"

मूर्त्तयो गृह्यन्ते; किं तर्हि? परिमाणार्था गृह्यन्ते" इति । प्रतिमापदेन मूर्त्तिग्रहणं नसम्भवति, परिमाणं तु बोध्यते इत्येवास्य स्पष्टोऽर्थः । अत्र प्रतिमाशब्दस्य तमेवार्थं विदधतोऽस्य कथं नस्वग्रन्थविरोध इति । प्रमाणाभावस्तु मूर्त्तिपूजानिषेधकवाक्यानुपलम्भादेवसिद्ध इति । 'संवत्सरस्यप्रतिमा' मित्यादिसंदर्भस्तु नोक्तार्थप्रतिषेधपरः । तदर्थप्रतिपादकत्वादेव । प्रतिपादनंत्वर्थस्य दयानन्देनैवेत्थं कृतः— "विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते वयमपि त्वां तामेवोपास्महे" इति । इदमत्राकूतम्— सामाजिकाहि मूर्त्तिपूजनं मूर्तेरचेतनत्वादेव नाङ्गीकुर्वन्ति । चेतनोपासनमेवयुक्तं मन्यन्ते । अतएव नित्यचैतन्यस्य विभोः परमात्मन एवोपासनं युक्तमितिवदन्ति । बहुत्र च स्वग्रन्थेष्वयमर्थः प्रपञ्चितस्तैः । अत्रपुनर्दयानन्दःसंवत्सरस्य प्रतिमां परिमाणमेवोपास्यं प्रतिजानाति । तथाचस्पष्ट एवाचेतनस्योपासनमपि । नहिपरिमाणस्य चैतन्यं केनाप्युपपादयितुं शक्यम् । संवत्सरोहिवर्षपरिमितःकालविशेषः तन्निष्ठोगुणविशेषश्च परिमाणम् । उभयोरप्यचैतन्यंलोकवेदसिद्धंनापन्होतुं शक्यम् । यदि तदधिष्ठात्री काचिद्देवता चेतना एवोपास्यत्वेनाङ्गीक्रियेत त्वया, तदातवैवस्वीकारविलोपः प्रसज्येत इति प्रागुक्तप्रायमेतत् । एवं मूर्त्ति-

न् लोग संवत्सर की प्रतिमा-परिमाण की उपासना करते हैं-हम लोग भी उसी की उपासना करते हैं" । यहां पर तात्पर्य यह है कि आर्यसमाजी लोग मूर्ति को जड़ होने के कारण मूर्ति पूजन को नहीं मानते, चेतन की उपासना को ही ठीक समझते हैं । इसी लिये "नित्य चैतन्य व्यापक परमात्मा की ही उपासना उचित है" ऐसा कहते हैं । बहुत जगह अपने ग्रन्थों में इन्होंने इस बात को बढ़ा कर लिखा है । परन्तु यहां देखना चाहिये कि स्वामीदयानन्द संवत्सर की प्रतिमा-परिमाण को उपास्य बतारहे हैं । यह जड़ की उपासना नहीं तो क्या है ? परिमाण का चेतनत्व कोई भी सिद्ध नहीं कर सकेगा । संवत्सर या वर्ष काल विशेष को कहते हैं-और उस में रहने वाले एक गुण का नाम "परिमाण" है । काल और उसका गुण परिमाण, दोनों जड़ हैं यह बात लोक वेद प्रसिद्ध है-किसी से छुपाई नहीं जासकती । काल की अधिष्ठात्री देवता कोई आप मानते नहीं, यदि मानलें तो आपका सिद्धान्त रफू चक्कर हो जाय । यह बात पूर्व भी कह चुके हैं । उक्तरीति से दयानन्द ने मूर्ति पूजन को स्पष्ट ही मान लिया है । मूर्तिपूजन में जहां

पूजनं दयानन्दः स्पष्टमेव प्रतिपादयामास। इति तत्रोपलभ्यमानत्वादेव प्रमाणस्य नतदभावः। प्रमाणाभावनिवेधाच्च सिद्धं नः समीहितमिति कृतं बहुना सर्वमन्यत्सुधीभिः स्वयमेवोह्यमिति दिक्।

इतिग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

——:0:——

अथाधिकारानधिकारविषयः।

——:0:——

अतःपरं वेदादिशास्त्राध्ययने कस्याधिकार इतिसंक्षेपतो विवेचयिष्यते। तत्र प्रकरणादावेव वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्ति नवेत्याशंक्य, सर्वेषामस्त्येवाधिकार इति प्रतिज्ञाय तत्सिद्ध्यर्थं 'वेदानामीश्वरोक्तत्वात् सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात् सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्चेति हेतुत्रयमुपदिदेश। अत्रचेत्थमनुमानप्रयोगः सम्भवति- वेदाः सर्वकर्तृकाध्ययनविषयाः ईश्वरोक्तत्वात् एवं हेत्वन्तरेऽपियोज्यम्। अत्र वदामः- किंनामतावदीश्वरोक्तत्वम्? ईश्वरोच्चरितत्वमेव तत्त्वं यदि, तदात्वत्पक्षे ईश्वरोच्चरितत्वस्यासंभवएव।

तहां प्रमाण भी मिलते ही हैं-इससे हमारा इष्ट सिद्ध होजाता है। विशेष विद्वान् लोग स्वयं विचारलें॥

इति ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः॥

अथ-अधिकारानधिकारविषयः।

इसके बाद वेदादिशास्त्रों के पढने में किसका अधिकार है? और किस का नहीं, यह बात संक्षेपसे विवेचित होगी। इस प्रकरण के आदिमें ही श्री स्वामी दयानन्द जी ने वेदादिशास्त्रों के पढ़ने में सबका अधिकार है या नहीं ऐसी आशंका करके प्रतिज्ञा की है कि "सब मनुष्यों का अधिकार है" इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिये तीन हेतु दिये हैं:-(१) वेद-ईश्वरोक्त हैं (२) सब मनुष्यों के उपकार के लिये हैं (३) और सत्यविद्या प्रकाशक हैं। यहां पर इस तरह अनुमान का प्रयोग हो सकता है:-वेद, सबके अध्ययन के विषय हैं, ईश्वरोक्त होने से, वा सब मनुष्यों के उपकारार्थ होनेसे, वा सत्य विद्या प्रकाशक होने से। अच्छा, तो अब विचारिये-ईश्वरोक्तत्व क्या वस्तु है? ईश्वर से उच्चरित होना-ईश्वरोक्तत्व माने तो यह बात तुम्हारेमत में नहीं बन सकती क्यों कि उच्चारण या बोलना कण्ठ तालु आदि स्थानों

उच्चारणं हि कण्ठताल्वादिस्थानेषु सत्स्वेव सम्भवति, नचेश्वरेऽशरीरित्वा-त्सत्सम्भवः । अन्यथा पश्वादिभिरपि मनुष्यस्येव सुस्पष्टमुच्चारणं कर्त्तुं शक्येत । नहि यादृंशि कण्ठताल्वादिस्थानानि मनुष्याणां तथा पश्वादीनाम् । ईश्वरे तु सर्वथापि तदभावः । नहि सर्वशक्तिसम्पन्नोऽपि प्रकृतिविरुद्धमर्थं सम्पादयितुं शक्तः । अन्यथा कुटजबीजादपि वटाङ्कुरोत्पत्तिं कर्त्तुं शक्नुयात् । तथासति कार्यकारणभावस्य विनष्टत्वात्सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गः स्यात् । ननु ग्रामोफोनादिवाद्यविशेषेषु अविद्यमानेष्वपि कण्ठताल्वादिस्थानेषु व्यक्ताक्षरमुच्चारणं श्रूयते तथेश्वरेपि स्यादितिचेत्, न । वाद्यविशेषे चैतन्यस्य सर्वैरनभ्युपगतत्वात् । नहि वाद्ये कश्चिंश्चित् तवापि चैतन्यमभिमतम् । एवं सर्वजनप्रसिद्धस्याचेतनस्य वाद्यस्योच्चारणं चेतनकर्तृकं साक्षात् ब्रुवाणः श्लाघनीयप्रज्ञो देवानांप्रियो भवेद् भवानिति तत्र तथा प्रतीतिरौपाधिकी भ्रान्तिरेव । अन्यदीयशब्दस्य तत्र सत्वात् । तदतिरिक्तशब्दस्य च तत्रासम्भवात् । एवमुक्तानुमाने स्वरूपासिद्धिरेवदोषः । अथ ईश्वरकर्त्तृकत्वमेवेश्वरोक्तत्वमिति स्यात् तथाप्याक्रान्तत्वेव व्यभिचारपिशाचः । क्षित्यादौ

के होते हुए ही हो सकता है-सो ईश्वर को शरीर रहित होने से हो नहीं सकता । विलक्षण २ कण्ठ तालु आदि के होते हुए ही उच्चारण का होना संभव है इसी लिये पशु आदि उच्चारण नहीं करते, पशुओं के मनुष्यों के जैसे कण्ठ तालु आदि नहीं हैं और ईश्वर के तो किसी प्रकार के भी नहीं यद्यपि ईश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न है परन्तु वह प्रकृति विरुद्ध अर्थ नहीं किया करता यदि ऐसा करे तो कुटज के बीज से बड़ के अंकुर को भी पैदा करदे । यदि ऐसा करदे तो कार्य कारण भाव का नैयत्यनष्ट होकर सर्वत्र अविश्वास होजाय । (प्रश्न) जैसे ग्रामोफोन बाजे में कण्ठ तालु आदि नहीं रहते किन्तु स्पष्ट उच्चारण होता है उसी प्रकार ईश्वर का उच्चारण मान लिया जाय तो क्या दोष है ? (उत्तर) उस बाजे में चेतनता कोई नहीं मानता, न आप मानते हैं यदि कोई जड़ बाजे का उच्चारण बतावे तो वह सच मुच मूर्ख ही है । बाजे में वस्तुतः दूसरे के शब्द हैं और दूसरे स्थान पर सुने जाते हैं-इस लिये वह भ्रम ही है । यदि ईश्वर का बनाया हुआ होना-"ईश्वरोक्तत्व" है तो इसमें भी व्यभिचार राक्षस लगा हुआ है । अर्थात् पृथिवी आदि ईश्वर निर्मित हैं परन्तु वहां अध्ययनविषय-

ईश्वरकर्तृकत्वरूपहेतोः सत्त्वेऽपि साध्यस्याध्ययनविषयत्वस्याभावात्। किञ्चोक्तविधया व्याप्तिग्रहासंभवात् सर्वथाप्यसंगत एवायं हेतुः। न च क्षित्याद्यावध्ययनविषयत्वस्यासंभवेऽपि सर्वकर्तृकं भोगविषयत्वं त्वस्त्येव। तथा च दानामपीश्वरकर्तृकत्वेन अध्ययनस्य च भोगान्तर्गतत्वस्य तत्र सम्भवेन सर्वकर्तृकं तदत्र भवतु तथासति न कश्चिद्दोष इति वाच्यम्। भोग्यजातस्य यावतः सर्वत्रासम्भवेन सर्वकर्तृकत्वस्य तत्रासिद्धत्वम्। अयमभिप्रायः—नानाकर्मवशाद् विचित्रभोगपाशोहि प्राणिन इति न कस्यापि विवादास्पदम्। यत् किञ्चिद् भोग्यं चैत्रं प्रति सुखजनकं, न तन्मैत्रं प्रत्यपि सुखजनकमेवास्तियति सम्भवति। तथा च कस्मिंश्चिदपि भोग्ये सर्वकर्तृकत्वं सर्वथाप्यसंभवि। अन्यथा प्रतापोनृप इति दयासुखोऽपि भवतु; पंगुर्देवदत्त इति यज्ञदत्तोऽपि भवतु। यज्ञदत्तवद्वा देवदत्तस्यापि पंगुत्वं विनश्येत्। तदानीमेवभोग्यजातस्य सर्वकर्तृत्वं स्यात्। नचेदं सम्भवति तस्मादुक्तदोष स्तदवस्थ एवेति। एवमतिरिक्तं हेतुद्वयमपि बुद्धिमद्भिः स्वयमनयोज्यम्। अत्रापि पूर्वहेतौ प्रतिपादिता स्ते ते दोषाः सम्भवन्त्येव। तथा

ता रूप साध्य नहीं है। इस प्रकार व्याप्तिग्रह न होने से उक्त हेतु असंगत ही है (प्रश्न) पृथिवी आदि पदार्थों में अध्ययन विषयता नहीं परन्तु सर्वकर्तृक भोग विषयता तो होती है और अध्ययन भी भोगान्तर्गत है इस लिये वह सर्वकर्तृक रहे तो क्या दोष है? (उत्तर) सब भोगों के प्रतिसर्वकर्तृकता असिद्ध है, इस लिये वह दोष वैसा ही बना रहता है। तात्पर्य यह कि नाना कर्मों के वश से विचित्र २ भोगों को प्राणिसमूह भोगते हैं- इस में किसी को विवाद नहीं। जो भोग्य वस्तु चैत्रनामक पुरुष को, सुख देती है वही वस्तु मैत्रनामक पुरुष को भी सुख देवे —ऐसी स्थिति नहीं है इस लिये किसी भी भोग्य वस्तु में सर्वकर्तृकता सर्वथा असंभव है। अन्यथा प्रताप नामक कोई राजा है तो दयासुखनामक कोई दूसरा पुरुषराजा क्यों न होजावे! देवदत्त लंगड़ा है तो यज्ञदत्त भी लंगड़ा क्यों नहो जावे! अथवा यज्ञदत्त की तरह देवदत्त का लंगड़ापन नष्ट हो जाय। ऐसी स्थिति में भोग्यसमूह सर्वकर्तृक कहा जासकता है परन्तु ऐसा होना असंभव है इस लिये वह दोष वैसे का वैसा ही बना रहता है। अगले दो हेतु भी दूषित हैं क्यों कि इन दोनों में भी पूर्वोक्त दोष आते हैं। देखिये पृथिवी

हि क्षित्यादीनामपि स्वमतेन सर्वोपकारार्थत्वमस्त्येव, नच तत्र सर्वकर्तृक-मध्ययनविषयत्वम् । एवं सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्चेत्यपि । ज्ञानमात्रं प्रति विषयस्य प्रयोजकत्वात् । निर्विषयस्य ज्ञानस्यासम्भवात् । किञ्च सत्य-विद्याप्रकाशकत्वाद् वेदानां सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वमित्युक्ते असत्यविद्या-प्रकाशकत्वस्य सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वं न प्राप्नोति । दृश्यते चा-सत्यविद्याप्रकाशकस्यापि सर्वकर्तृकाध्ययनविषयता । अत एव साध्य स्थले पि हेतो रभावादसिद्धत्वम् । अत्रहि व्याप्यत्वासिद्धिरेव बोध्या । सो पाधिको हेतु र्व्याप्यत्वासिद्धो भवति उपाधिश्चात्र वेदेतरत्वमेव । नच सम्प्रदायानुरोधात्पक्षेतरत्वं नोपाधिः, तस्य बाधानुन्नीत विषयकत्वात् अत्रतु वेदे सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वस्य त्रैवर्णिकस्यैवाधिकारं वदता वेदेनैव बाधः तथाच वेदेतरत्वं सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वं चनास्तिकादिग्रन्थेषु इतिसाध्य-व्यापकता । तत्रैवच न सत्यविद्याप्रकाशकत्वमिति साधनाव्यापकत्वमपि । वेदानुकूलशास्त्राणांवेदाङ्गोपाङ्गत्वेन तदात्मतयावेदत्वसिद्धौनसाधनव्यापकता शङ्क्या । तथाच वेदा न सर्वकर्तृकाऽध्ययनविषयाः, वेदेतरत्वाभावात् इत्य-

---

आदि पदार्थ आपके मत में सब के उपकारार्थ तो हैं परन्तु उन में सर्व-कर्तृक अध्ययनविषयता नहीं है, सत्य विद्या प्रकाशकत्व हेतु भी दूषण ग्रस्त है क्योंकि ज्ञान मात्र के प्रति विषय की प्रयोजकता है कोई ज्ञान निर्विषय नहीं होता । एवं विद्या (ज्ञान)प्रकाशकता पृथिव्यादिकों में है प-रन्तु उन में सर्वकर्तृक अध्ययन विषयता नहीं है । दूसरी बात यह है कि सत्य विद्या प्रकाशक होने से सर्वकर्तृक अध्ययन विषयता मानी जाय तो जो असत्य विद्या प्रकाशक ग्रन्थ हैं वसर्वकर्तृक अध्ययन के विषयी-भूत न होने चाहियें परन्तु इस से उलटा देखा जाता है, अर्थात् असत्य विद्या प्रकाशक ग्रन्थ भी सर्वकर्तृक अध्ययन विषयी भूत हैं, इसलिये साध्य स्थल में भी हेतु के न रहने से असिद्धता दोष है अर्थात् यहांव्याप्य-त्वासिद्ध है । सोपाधिकहेतुव्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है उपाधि यहां वेदेतर-त्वरूप है । यदि कोई कहे कि सम्प्रदायानुरोध से पक्षेतरत्व उपाधि नहीं हो सकती, तो उत्तर देना चाहिये कि बाधानुन्नीत स्थल में ही पक्षेतरत्व को उपाधि नहीं मानते अन्यथा मानते ही हैं । यहां पर तो "त्रैवर्णिक अर्था-त् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों को ही वेद पढ़ने का अधिकार है" ऐसे

नेनानुमानेन सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वाभाववत्त्वमेव वेदानां सिद्ध्येत्। किञ्च त्रैवर्णिकातिरिक्तस्य सामर्थ्याभावादपि वेदेषु नाधिकारः। अर्थित्वसामर्थ्यादिकं हि अधिकारकारणं भवति। त्रैवर्णिकातिरिक्तस्य शूद्रादेरर्थित्वसत्त्वेऽपि सामर्थ्याभावान्नाधिकारः सामर्थ्यमपि लौकिकमात्रमधिकारकारणं न भवति। लोकिमत्यपि तस्याधिकारकारणत्वे, शास्त्रीयेऽर्थे तु शास्त्रीयस्यैव सामर्थ्यस्यापेक्षा युक्ता। शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वान्न शूद्रस्य वेदाध्ययनाधिकारः। उपनयनपूर्वकत्वाद् वेदाध्ययनस्य उपनयनस्य च त्रैवर्णिकविषयत्वात् इति तथाच शूद्रादेरपि वेदाध्ययनाधिकारप्रतिपादनं यथेच्छाचारितामेव दयानन्दस्य सूचयतीत्यलं बहुना। किंच यथेमां वाचमित्यादिमन्त्रमुद्धृत्याऽतिशूद्राणां मन्त्रज्ञानानुप्रदर्शितोऽधिकारो दयानन्देन यत्तदपि तथैवायुक्तम्। मन्त्रार्थस्यासंगतः। यद्यत्र स्वाभिमतानुसारमीश्वर एव वक्ताऽभिप्रेयेत, तदा 'अयं मे कामः समृध्यताम्' इति मन्त्रेणेश्वरस्यापि कामनावत्त्वं स्यात्। यया कामनया प्रयुक्तस्तत्पूरणार्थं शक्त्यन्तरं किञ्चित्प्रार्थयमान आस्ते परमेश्वर इति। किञ्चारणायेत्यत्र पदद्वय-

---

प्रमाण शब्द से सर्वकर्तृक अध्ययन विषयता का बाध हो जाता है। वदेतरत्व और सर्वकर्तृक अध्ययन विषयत्व - ये दोनों धर्म नास्तिकादि ग्रन्थों में हैं इस लिये साध्यव्यापकता है और वहां - नास्तिकादिग्रन्थो में सत्यविद्याप्रकाशकता नहीं है इस लिये साधन के साथ पक्षेतरत्वरूप उपाधि की अव्यापकता भी है।

वेदानुसारी शास्त्र वेद के ही अङ्ग तथा उपाङ्ग (उपनिषदादि) होनेसे वेद स्वरूप हैं। अतः उन शास्त्रों को लेकर साधन व्यापकता की शंका करना ठीक नहीं है क्यों कि ऐसा मानने से तो विपरीत अनुमान होने लग जायगा, जैसा कि:- वेद सर्वकर्तृक अध्ययन के विषय नहीं हैं, वेदेतरत्वाभाव होने से। इस अनुमान से सर्वकर्तृक वेदाध्ययनविषयत्वाभाव ही सिद्ध होगा। वेदों के पढ़ने का अधिकार, ब्राह्मणादिकों को छोड़ कर शूद्रादिकों को इस लिये भी नहीं कि उन में सामर्थ्य नहीं है। अर्थित्व और सामर्थ्यादि ही अधिकार के कारण हैं। त्रैवर्णिकातिरिक्त शूद्रादि को यद्यपि अर्थिता है परन्तु सामर्थ्य नहीं है। लौकिक सामर्थ्य भी अधिकार का कारण नहीं। यद्यपि लोक में लौकिक सामर्थ्य अधिकार का कारण माना जाता है परन्तु

मनक्षत्र ध्यमानोऽतिशूद्रायेत्यर्थं तस्य चकार । तच्चायुक्तम् । तत्रहि अरणाय इति पृथक् पदं वर्त्तते नास्तिरणशब्दोयेनसमासौ,वाक्यं बन्धरहितः शत्रुरित्यर्थः । तस्मा इति । सायणयेन मन्त्रार्थश्चित्वत्थं बोध्यः यथ मामिति-यथा यतइमांवाचं कल्याणीमनुद्वेगकरीं आवदानिदीयतां भुञ्यतामिति सर्वेभ्यो ब्रवीमि । केभ्यइति प्राप्तआह ब्रह्मेति । ब्राह्मणाय राजन्याय क्षत्रियायच शूद्रायच आर्याय वैश्यायच, स्वायस्वाय आत्मीयायच अरणाय शत्रवेच । अरणःअपगतोदकः परइत्यर्थः । येनवाक्सम्बन्धोऽपिनास्ति, तेनदूरापास्त एव जलादिसम्बन्धः इत्यरणपदेनात्र शत्रुरेवगृह्यते । आवदानीतिच सर्वत्र-योज्यम् । यथेतिपूर्वमुक्तातथेति पदमपि नित्यसम्बद्धत्वेनाध्याहार्यम् । यतोऽहंब्राह्मणादिभ्यः कल्याणींप्रियां वाचं वदामि,तथाततोऽहं प्रियएवदेवानांभूयासम् । दक्षिणायादातुश्च प्रियोभूयासम् । इहास्मिन्नेव कालइत्यर्थः किंचमेममायंकामः समृध्यतां सफलोभवतु । धनपुत्रादिलाभकामो मेसमृध्यतामित्यर्थः । तथा अदः इतियः कामइष्यते सउच्यते, मामामुपनमतु । अयं च मन्त्रः खिलप्रकरणे पाठ्यते आथर्यणे वेदे । तत्रहि आपस्तम्बविशद्याय

शास्त्रीय विषय में शास्त्रीय साम्प्रदाय का ग्रहण करना ही उचित है । शूद्रादिकों में शास्त्रीयसामर्थ्यनिषेध, शूद्रादिकों के अध्ययन निषेध से ही सिद्ध है । इस लिये शूद्रादि को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं । वेदों का अध्ययन, उपनयन – यज्ञोपवीत संस्कार पूर्वक होता है और यज्ञोपवीत केवल तीनों वर्णों का ही विहित है । इस लिये शूद्रादि को वेदाध्ययनाधिकार बतलाना दयानन्द की यथेच्छाचारिता का सूचक है । इत्यलम् ।

वेद के पढ़ने का मनुष्य मात्र को अधिकार है- इस विषय में एक वेद मन्त्र लिखा है, वह यह है "यथेमांवाच" मित्यादि । यजुर्वेद के इस मन्त्रका उद्धरण कर के यह साबित किया है कि अतिशूद्र और अन्त्यजों तक को वेद पढने का अधिकार है । परन्तु वह अयुक्त है और मन्त्र का अर्थ भी असंगत किया है । यदि इस मन्त्र में स्वामी जी के मत के अनुसार ईश्वर ही को वक्ता मानलिया जायतो मन्त्रके उत्तर भागमें यह आताहै कि"अयंमेकामःसमृद्ध्यताम्" अर्थात् मेरी यह कामना पूर्ण हो । इस से ईश्वर में भी कामना—इच्छा माननी पड़ेगी, जिस कामना से प्रेरित हो कर उस की पूर्ति के लिये ईश्वर प्रार्थना करताहै । मन्त्रगत "चारणाय" शब्दमें दोषद हैं

दर्शपौर्णमासाद्यश्वमेधान्तं व्याख्याय खिलान्युक्तानि, तेषांकथञ्चिद्विनियोगानुक्तेः । तत्रैवयायं मन्त्र इति । सर्वमेतदुपेक्ष्य प्रतिपादितं यन्मुविडेना, तन्नशास्त्रपुरस्सरमिति कृत्वा हेयमेवसर्वथा विशेषतकार्येरिति विरुध्यते । वर्णानांचगुणकर्मानुसारिणीमव्यवस्थां व्यवस्थातुकामः प्रकरणमजानान एव शूद्रोब्राह्मणतामेतीतिमनुपद्यं व्याजहार । तद्बलेनचैकस्मिन्नेव जन्मनिब्राह्मणोऽब्राह्मणतां शूद्रश्चाशूद्रतां प्राप्नोतीतिस्पष्टमेवनिरूपितम् । तदर्थं चेत्थमाह "शूद्रः पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणभावं प्राप्नोति योऽपिब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव । एवमेव । कुचर्योऽधर्माचरणानिर्बुद्धिमत्त्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति । शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रतिच योजनीयम् । अर्थात्स्ववर्णस्य गुणैर्युक्तो-

---

(१)न और(२ अरणाय । पर पदद्वय को न समझ कर 'अतिशूद्राय, यह अर्थ कर डाला । सोयह भीअसंगत है क्यों कि वस्तुतः यहां 'अरणाय,ऐसा पृथक् पद है । 'अरण, शब्द शत्रु वाचक है । समस्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है:—
"जिस से कि मैं (यजमान) कल्याणी वाणी को अर्थात् दीजिये, भोगिये इत्यादि रूपा वाणी को सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने लोग और शत्रु के लिये कहता हूं इस लिये मैं इसी काल में देवताओंका प्रिय बनजाऊं और मेरी यह कामना सफल हो । अर्थात् धन पुत्रादि का लाभ हो । यह मन्त्र खिल प्रकरण में पठित है । इन सब बातों को छोडकर दयानन्द ने जो कुछ शास्त्र विरुद्ध ऊट पटांग लिखा है वह सब कल्याणेच्छुओं को छोड़ देना चाहिये । वर्णों की गुणकर्मानुसार कभी व्यवस्था हो नहीं सकती पर उस की व्यवस्था करने की इच्छा से प्रकरण को न जान कर ही एकश्लोक मनुस्मृति का लिखा है शूद्रो ब्राह्मणता मेती"त्यादि । उस मनुकेश्लोक के बल से ही एकही जन्म में ब्राह्मणअब्राह्मणता कोऔर शूद्रताअशूद्रताकोप्राप्त हो जाता है इस बात को स्पष्ट बताया है, और उसश्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है:- शूद्र यदि ब्राह्मण के गुण पूर्ण विद्या सुशीलतादि से युक्त हो तो ब्राह्मण भाव को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जो ब्राह्मण का अधिकार है उसे पा लेता है । इसी प्रकार मूर्खता, पराधीनतादि शूद्र गुणों से युक्त यदि ब्राह्मण हो तो वह ब्राह्मण,शूद्र भाव को प्राप्त हो जाता है

योवर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव" इति,, । सर्वं चैतन्नानादोषपराहतम्
प्रथमं पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेत्, इत्ययमर्थः कुतउप-
लब्धोऽनेन । नहितादृशपदमात्रमत्र प्रयुज्यते, यस्यायमर्थः सम्भवी । तथा
"तथाविधः शूद्रोऽपि ब्राह्मणाद्यधिकारं सर्वं प्राप्नोत्येवेति यथोक्तोऽ-
पि धर्मशास्त्रानभिज्ञस्यैव सम्भवति । यद्यनेन मनुस्मृतेरपि दशमोऽध्यायो यथाय-
थमवलोकितः स्यात् तदा कथमप्येतल्लिखितुं नोत्सहेत । इत्थं कुत्रचिदप्यवर्णान्तरत्वा-
द्युपमर्थोऽपि नात्रसमुपलभ्यते दयानन्दस्य स्वकल्पितमेव सर्वमिति प्रतीमः ।
किञ्चैवं तत्तदधिकारत्वसामान्यप्राप्तावपि न तज्जात्यायुक्तो भवतीति मत-
मभिमतमेव दयानन्दस्य प्रस्फुटयतानेन सन्दर्भेणेति । प्रकरणविरुद्धश्चायमर्थः
वर्णसंकरवर्णप्रतिपादनमेव प्रकृतमस्ति । तत्रास्याऽयमादिमः श्लोकः

"शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥" इति ।

अर्थात् शूद्राधिकार को पालेता है, इसी तरह क्षत्रिय और वैश्य से जो उत्पन्न है उस के विषय में जानना चाहिये, तात्पर्य यह है कि जिस वर्ण के गुणों से युक्त जो वर्ण है वह उस २ अधिकार को प्राप्त हो जाता है यह स्वामी दयानन्द का अर्थ अनेक दोषों से दूषित है। पहले तो यह पूछनाचाहिये कि "यदि ब्राह्मण के गुणों से युक्त हो,, यह अर्थ आपने कहां से निकाल लिया। ऐसे पदों का बोधक कोई पद्य में वाक्य तो है ही नहीं जिसका यह अर्थ हो जाता वैसा शूद्र ब्राह्मण के अधिकारों को प्राप्त हो जाता है- यह लिखना भी धर्म शास्त्र न जानने के कारण है। यदि स्वामी जी मनुस्मृति का दशवां अध्याय अच्छी तरह ध्यान देकर पढलेते तो ऐसा असंगत लेख लिखने की हिम्मतशायद न करते? आगे किया हुआ अर्थ भी स्वामी जी की ही कपोलकल्पना है। इतना सब कुछ करने पर भी उस २ अधिकार के मिल जाने पर भी स्वामी जी के ही लेख से यह मालूम होता है कि उस जाति से वह पुरुष युक्त नहीं हो जाता! । स्वामी जी का यह अर्थ प्रकरण विरुद्ध भी है। यहां- मनुस्मृति में वर्ण संकर प्रकरण है। इस से पहला श्लोक यह है:-

"शूद्रायामित्यादि"

इस श्लोक की टीका में मन्वर्थमुक्तावलीकार-कुल्लूक भट्ट ने लिखा है:-

अत्रमन्वर्थमुक्तावलीकारःकुल्लूकभट्टःप्राह-“शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः पारशवा-ख्यो वर्णः प्रजायत इति। स चेदपत्यं स्त्रीरूपं स्यात्। सा यदि स्त्री ब्राह्मणेनोढा सती प्रसूते दुहितरमेव जनयति। साप्यनेन ब्राह्मणेनोढा सती दुहितरमेव जन-यति। साप्येवमनेन सप्तमे युगे जन्मनि स पारशवाख्यो वर्णो बीजप्राधान्याद् ब्राह्मण्यं प्राप्नोति। आसप्तमाद् युगादित्यभिधानात्सप्तमे जन्मनि ब्राह्मणः संपद्यत इत्यर्थः। अयमेवार्थो मानवपद्यस्यास्य सम्भवति। इतः परमेव च ‘शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च’ इति पद्यं पपाठ भगवान्मनुः। अस्य तात्पर्यं विहितः श्रीमता कुल्लूकभट्टेन, “एवं पूर्वश्लोकोक्तरीत्या शूद्रो ब्राह्मणतां याति; ब्राह्मणश्च शूद्रतामेति। ब्राह्मणोऽत्र शूद्रायां ब्राह्मणादुत्पन्नः पारशवो ज्ञेयः। स यदि पुमान् केवल-शूद्रोद्वाहेन तस्यां पुमांसमेव जनयति, सोऽपि केवलशूद्रोद्वाहेनान्यं पुमांस-मेव जनयति, सोऽप्येवं, तदा स ब्राह्मणः सप्तमं जन्म प्राप्तः केवलशूद्रतां

“शूद्रा में ब्राह्मण से पैदा हुई (पारशव वर्ण) यदि स्त्री हो और वह स्त्री ब्राह्मण से विवाहित होने पर फिर यदि लड़की पैदा करे और वह लड़की फिर किसी ब्राह्मण के साथ विवाहित होकर लड़की पैदा करे—ऐसे करते २ सातवें जन्म में वह पारशवाख्य वर्ण, बीज की प्रधानता के कारण ब्राह्मणता को प्राप्त होजाता है। अर्थात् सातवें जन्म में ब्राह्मण बन जाता है”। उक्त श्लोक का यही अर्थ संगत है क्यों कि आगे भगवान् मनुने “शूद्रो ब्राह्मणतामेति” इस पद्य को पढ़ा है। और इस पद्य का अर्थ श्रीमान् कुल्लूक भट्ट ने यह किया है कि:—

“इस प्रकार पूर्वोक्तरीति से शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त हो जाता है, और ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होजाता है। ब्राह्मण शब्द से यहां शूद्रा में ब्राह्मण से उत्पन्न—पारशव नामक लेना चाहिये। वह पारशव पुरुष यदि केवल शूद्रा के साथ सम्बन्ध करने से पुरुष को उत्पन्न करे वह पुरुष फिर शूद्रा के सम्बन्ध से पुरुष को पैदा करे—ऐसे करते २ सातवें जन्म में वह केवल शूद्रता को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न हुए सन्तानों का उच्च नीच भाव जान लेना चाहिये। परन्तु ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय और वैश्य जाति को छोटा होने से और “सातवें या पांचवें जन्म में जातिका घटना बढ़ना होता है” ऐसा याज्ञवल्क्य के कथन से, पांचवें जन्म

बीजनिष्कर्षोत्क्रमेण प्राप्नोति । एवं क्षत्रियाद्वैश्याच्च शूद्रायां जातस्योत्कर्षापकर्षौ जानीयात् । किंतु जातेरपकर्षात् "जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपिवा' इति याज्ञवल्क्यदर्शनाच्च क्षत्रियाज्जातस्य पञ्चमेजन्मन्युत्कर्षापकर्षौ बोद्धव्यौ । वैश्याज्जातस्य ततोऽप्युत्कर्षात् । याज्ञवल्क्येनापि वाशब्देन पक्षान्तरस्य संगृहीतत्वाद् वृद्धव्याख्यानानुरोधाच्च तृतीयजन्मन्युत्कर्षापकर्षौ ज्ञेयौ । अनेनैवन्यायेन ब्राह्मणेन वैश्यायां जातस्य पञ्चमे जन्मन्युत्कर्षापकर्षौ क्षत्रियायां जातस्यतृतीये, क्षत्रियेण वैश्यायां जातस्य तृतीय एव बोद्धव्यौ" । अयमेव चार्थः साधीयानस्ति, प्रकरणाविरोधित्वात् । शास्त्रान्तरसंवादाच्च । तथाचेहत्यो भूमिकाग्रन्थोऽसंगत एव । यच्चोपसंहृतम्–"इत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीय इत्येयुक्तं तत्रायमभिप्रायः । शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वात् विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात् तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति निष्फलत्वाच्चेति' तदप्यसंगतमिव भाति । प्रज्ञावतां शूद्राणां श्रवणमननादौ समर्थानामपि सत्वात् स्मर्यन्ते चात एव पूर्वकृतसंस्कारवशाद् विशिष्टज्ञानसम्पन्नाः शूद्रयोनिप्रभवा अपि विदुरधर्मव्याधप्रभृतयः

में उच्च नीचभाव जानने चाहियें । और जो वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न हुआ सन्तान है उसका तीसरे जन्म में उच्च नीच भाव होजाता है । इसी रीतिसे ब्राह्मण से वैश्या में उत्पन्न सन्तान का पांचवें जन्म में और ब्राह्मण से क्षत्रिया में उत्पन्न हुए का तीसरे जन्म में उच्च नीचभाव जानलेना चाहिये' यह कुल्लूक भट्ट का अर्थ ही समीचीन है, क्यों कि इस अर्थ में प्रकरण का विरोध नहीं और दूसरे शास्त्रों के साथ मेल मिलता है ।

इस लिये यहां का स्वामी दयानन्द जी का लिखा भूमिका ग्रन्थ असंगत ही है । स्वामी जी ने उपसंहार किया है कि:–

"जहां २ यह लिखा है कि शूद्र को न पढ़ाना चाहिये और न सुनाना चाहिए, उसका प्रयोजन यह है कि शूद्र बुद्धि हीन होता है, विचार करने में असमर्थ होता है इस लिये उसे पढ़ाना या सुनाना व्यर्थ है' । यह लिखना भी असंगत है क्यों कि बहुत से ऐसे शूद्र हैं जो बुद्धिमान् हैं और श्रवण विचारादि में समर्थ भी हैं । महाभारतादिकों में यह बात स्फुट है कि पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण, विदुर और धर्म व्याध आदि शूद्र भी बड़े ज्ञानी होगये हैं इतिहास पुराणादि के जानने में चारों वर्णों का अधिकार

इतिहासपुराणाद्यधिगमे च चातुर्वर्ण्यस्याधिकारोऽस्त्येव । 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इत्यादि स्मरणात् । तस्मात् वेदातिरिक्तशास्त्रेष्वेव विदुरादीनामपि प्रवृत्तिः स्मर्यते । वेदपूर्वकस्तु नास्त्येवाधिकारः शूद्राणामिति सर्वमवदातम् । किञ्च शास्त्रीयेषु कर्मसु शास्त्रीयस्यैव सामर्थ्यस्योपयोगित्वात् तस्य च शूद्रेऽभावादपि 'शूद्रस्याध्यापनं श्रावणं च व्यर्थत्वान्निष्फल वाचनयुक्त-मित्ययुक्तमिति । यत्तु "धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ, अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ" इति-आपस्तम्बसूत्रं स्वमतपोषणाय समुदाजहार, तदप्ययुक्तम् । जातिपरिवृत्तावित्युक्तेः । जातेर्जन्मनः परिवृत्तौ सत्याम्-इत्येव तस्य स्वारसिकोऽर्थः "जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति" इति तूदग्रं व्याख्यानम् । अधिकन्तु ग्रन्थान्तरेऽनुसंधेयम् ।

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः ।

अथ संक्षेपतो भाष्यकरण- शङ्कासमाधानादि विषयः ।

——:०:——

अथ पठनपाठनविषये कया रीत्या शिक्षणीया बाला इत्येव प्रतिपादनाय

है जैसा महाभारत में लिखा है कि "ब्राह्मण को आगे करके चारों वर्णों को इतिहासादि सुनावे" । इसी लिये वेदातिरिक्त शास्त्रों में ही विदुरादिकों की प्रवृत्ति सुनी जाती है, वेद पूर्वक अधिकार शूद्रों के लिए कहीं भी उपदिष्ट नहीं । शास्त्रीय कार्यों में शास्त्रीय सामर्थ्य ही परिगृहीत होता है और वैसा सामर्थ्य शूद्र में है नहीं इस लिए वह सर्वथा अनधिकारी है । "धर्मचर्यया" इन आपस्तम्ब सूत्रों का भी अयुक्त अर्थ किया है, वस्तुतः अर्थ यह है कि "जन्म के परिवर्तन होने पर धर्मचर्या से छोटा वर्ण उच्च वर्ण होजाता है और अधर्माचरण से उच्च वर्ण दूसरे जन्म में छोटा वर्ण होजाता है" इस विषय में जिन्हें अधिक देखना होवे इस विषय के अन्य ग्रन्थों का अवलोकन करें ।

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः ।

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः ।

इस प्रकरण में बालकों को शिक्षा किस रीति से देनी चाहिये- इस का

प्रयतितम् । प्रसङ्गवशाच्च केचिन्मन्त्रास्तत्रतत्र समुद्धृताः । तेषामर्थास्तु यथार्थं निरुक्तादिग्रन्थेषु जिज्ञासुभिरवलोकनीयाः । अत्रत्वनर्थं प्रायमेवोक्तम् । तत्सर्वं मन्त्रविस्तरभियानोपन्यस्यतेऽस्माभिः । सुधीभिः स्वयमेव सर्वं यथास्वमालोचनीयम् । इदानीमयं भाष्ये शङ्कासमाधानादिविषयः समालोच्यते । तत्रादावेव सायणीयादिभाष्याणां पूर्वाचार्यविपरीतत्वम्; स्वस्यच भाष्यस्य सर्वाङ्गोपेतत्वमुपदर्शितम् । तत्रास्यभाष्यं युक्तमयुक्तं वा यथास्थानमस्माभिर्यत्किञ्चिन्निरूपितम् । तेनैवतस्ययाथार्थ्यमयाथार्थ्यं वाविद्वद्भिरूहनीयम् । विशेषामभिलाषिणस्तु तद्भाष्यमेवावलोकयन्तु । सायणीयादिभाष्याणिचाभिदधानो महीधरभाष्यमेवकेषाञ्चिन्मन्त्राणां समुदाजहार प्रत्याख्यानाय । अत्रएतावदुक्तमलं मन्ये— यदुक्तम्महीधरः प्रत्यपादयत् सर्वं तत्कात्यायनकल्पसूत्रसम्मतम् । शतपथब्राह्मणस्य चप्रामाण्यं दयानन्दोऽपि स्वीकरोति यतस्तत्र तत्र 'अत्रसत्योऽर्थः' इति प्रतीकंदत्वा शतपथब्राह्मणमेवसमुद्धृति । स स्वार्थस्तु सर्वथानर्थतापन्नोसोऽनेन । अधिकंत्वस्माभि रपि ग्रन्थममुं द र्शं इ·

प्रति पादन करने के लिये यत्न किया है और प्रसङ्गवश से कुछ मन्त्रों का तत्तस्थल में उद्धरण किया है उद्धृत मन्त्रों के असली अर्थ जिज्ञासुओं को निरुक्तादि ग्रन्थों में देखने चाहियें । यहां भूमिका में स्वामी जी ने अर्थ के स्थान में अनर्थ ही किये हैं । उन सब अनर्थों के निरूपण करने में ग्रन्थ बढ जायगा इस लिये हम नहींलिखेंगे । समझदार विद्वानों को चाहिये स्वयं देखलें ।

अब "भाष्य में शङ्कासमाधान आदि विषयः" की जाँच कीजिये । पहले तो स्वामी जी ने सायणाचार्यादि कृत प्राचीन वेद भाष्यों को पूर्वाचार्यों के विरुद्ध बताया है और अपने वेदभाष्य को सर्वाङ्ग पूर्ण बताया है । सो स्वामीजीका भाष्य युक्तहै अथवाअयुक्त है इसकानिरूपण हमने यथावसरकुछर किया ही है । उस से ही उन के भाष्य की यथार्थता वा अयथार्थता विद्वान् लोगों को जान लेनी चाहिये । जो अधिक देखना चाहैं— वे वेद भाष्य स्वयं पढ़ें । पहले सायणादि भाष्यों का कथन करके केवल कुछ मन्त्रों के महीधर भाष्य को ही अपने खण्डन का लक्ष्य बनाया है इस विषय में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि जो कुछ महीधर ने लिखा है– वह कात्यायन कल्प सूत्र के अनुसार लिखा है और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार । सो शतपथ ब्राह्मण का प्रामाण्य तो स्वयं स्वामी दयानन्द भी मानते ही हैं

शं खिन्नमनस्कैः सारलवमप्यनापश्यद्भिः परित्यज्यते । शतपथब्राह्मणेऽप्य-स्मिन् योऽर्थस्तेषां मन्त्राणां महीधरेणोक्तः स एवार्थः प्रतिपादितोऽश्वमेधप्रकरण एव । तथाच त्रयोदशकाण्डान्तर्गतद्वितीयप्रपाठकस्य चतुर्दशं ब्राह्मणं तृतीय-प्रपाठकस्य च चतुर्थं ब्राह्मणं सम्यगवलोकयन्तु, सुदृढं विचारयन्तु च सुधियो-ऽपि । तदानीं प्रस्फुट एवायमर्थः स्यादार्यसामाजिकानामपि । एवं शास्त्रविरोधि-त्वात् पूर्वाचार्यादिसद्व्याख्यानाननुरोधित्वात् । यथेष्टचेष्टामूलत्वात्, सद्-व्यवहारापवर्त्तकत्वात्, कल्याणानभिनिवेशित्वाच्च, हेयपक्ष एव निक्षिप्तव्योऽयं श्रीस्वामिदयानन्दनिर्मितो वेदादिभाष्यभूमिकाग्रन्थः परित्याज्य एव सनातनो वैदिकधर्मः— इतिशिवम् ।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । इत्युपनिषत् ।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

इसी लिये उन्होंने "अथमन्त्योऽर्थः" ऐसा लिख कर जहां तहां ब्राह्मण का उ-द्धरण किया है परन्तु शतपथ का जो अर्थ किया है वह सर्वथा अनभिज्ञता का सूचक है, इस बात को जिन्हें देखना हो उन्हें मूलसंस्कृतभूमिका ग्रन्थ उठा कर देखना चाहिये अधिक लिखना हम ने इस लिये उचित नहीं सम-झा कि इस ग्रन्थ को देखते २ चित्त खिन्न हो गया और इस में सारभाग कुछ नहीं मिला ऊट पटांग मन माना बकवाद है। ब्राह्मण वाक्यों को भी आपने कहीं २ मन्त्र लिख डाला है और ब्राह्मण वाक्यों का अर्थ करते ही नहीं बना, निरुक्त वाक्यों का भी प्रकरण विरुद्ध अर्थ किया— कहां तक लि-खें - एक छिद्र हो तो ! यहां तो हजारों छिद्र पड़े हैं)। जो महीधर ने मन्त्र का अर्थ किया है वैसा ही शतपथादिकों में अश्वमेध प्रकरण में विद्य-मान है। विद्वान् लोग वहां के प्रकरण को विचार लें। आर्यसामाजिकों में भी जो संस्कृतके विद्वान् हैं उन्हें यहबात स्पष्ट मालूम हो सकतीहै। किं-बहुना, शास्त्रविरोधि होने से, पूर्वाचार्यों के श्रेष्ठ व्याख्यानों का अनुसरण न करने से, यथेष्ट मनमानी कल्पना करने से, सज्जनोचित व्यवहार का परि-त्याग करने से, कल्याणोन्मुख न होनेसे स्वामीदयानन्द का बनाया हुआ

"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाग्रन्थ" अपः कल्याण चाहनेवालोंको छोड़देनाचाहिये और सत्य सनातन वैदिक धर्म ग्रहण करना चाहिये ॥ इतिशिवम् ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

ज्येष्ठशुदि एकादश्यां शुक्रवासरे १९७१ वि० ।

शुभमस्तु— कल्याणमस्तु ।